भक्तिकाल

वाणी और विचार

SS01

सम्पादक

डॉ. राजेन्द्र यादव

अवधेश कुमार

भक्तिकाल

वाणी और विचार

भक्तिकाल

वाणी और विचार

सम्पादक
डॉ. राजेन्द्र यादव
अवधेश कुमार

विजया बुक्स

5

प्रकाशक
विजया बुक्स
1/10753, गली नं. 3, सुभाष पार्क,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032
फोन : 9910189445
Email : vijyabooks@gmail.com

© सम्पादक

प्रथम संस्करण : 2017

ISBN : 978-93-81480-87-8

मूल्य : 695/-

मुद्रक
विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

हिन्दी साहित्य और भारतीय संस्कृति में
गहरी रुचि रखने वाले
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर (म.प्र.)
के संवेदनशील कुलपति
प्रोफेसर राघवेन्द्र पी. तिवारी जी की
साहित्यिक मानवीयता को
सादर!

"आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः"
Let Noble thoughts come to us from every side. -Rigveda

प्रस्तावना

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भक्तिकाल की प्रासंगिकता का मुद्दा देश के माहौल को देखते हुए एक बार यह सोचने के लिए विवश होना लाज़मी है, कि भक्तिकाल वर्तमान समय के संदर्भ में आधुनिक समाज के मानवीय उत्थान के लिए कितना जरूरी है? मेरा ईश्वर, तेरे ईश्वर से अच्छा है, मेरा ईश्वर तेरे ईश्वर से व्यापक है और तेरा ईश्वर मेरे ईश्वर से छोटा है! इस तरह के वैचारिक मतभेदों से भरे कटघरे में खड़े ईश्वर की तरफ से भक्तिकाल के कवियों के विचार और वाणी हमें एक नया और समानता से भरा हुआ मानवीय धरातल प्रदान करती है, जिसमें मेरा ईश्वर तेरे ईश्वर से बड़ा नहीं, बल्कि उसी के जैसा ही है की मान्यता को स्थापित करती है।

देखा जाय तो आज समाज में चारों ओर एक नई तरह की सामाजिक जड़ता तथा अराजकता का दौर है। हमारा पूरा समय बाज़ारवाद के चंगुल में है और चारों तरफ भूमण्डलीकरण की आँधी चल रही है। भारत ही नहीं, वरन् पूरी दुनिया आज वैश्वीकरण की आगोश में है। ऐसे समय में हमें भक्तिकालीन की 'वाणी और विचार' ही हमारे मार्ग को आलोकित कर सकते हैं। भक्तिकाल में अनेक कवि और उनका साहित्य हमारे समय की समस्याओं से जूझने में हमें ताकत देता है और हमारा मार्गदर्शन भी करता है। ऐसे ही अनेक अर्थ में भक्तिकालीन साहित्य आधुनिक युग में भी हमारे समय के समाज के लिए जरूरी दिखायी देता है। समय के साथ आधुनिक समाज के मूल्यांकन के लिए आधुनिक साहित्य हमारे समय की जटिलताओं को व्याख्यायित करने में तो सफल हुआ है, लेकिन तकनीकि और वैश्वीकरण से उत्पन्न सामाजिक विकृतियों से निबटने के औज़ार देने में आधुनिक साहित्य असफल रहा है। इस मायने में आधुनिक समाज की जटिलताओं को समझने-समझाने तथा मुनष्य को संवेदनशील बनाने के विचार हमें भक्तिकाल के साहित्य में ज्यादा कारगर दिखायी देते हैं।

संस्कृत के 'रामायण' काल के बाद भारतीय समाज राजनीति, आध्यात्म, धर्म-दर्शन, संस्कृति और साहित्य में परिवर्तन घटित हुए, इन्हीं परिवर्तनों से नये

भक्ति साहित्य को जमीन मिली। वस्तुतः भक्ति साहित्य की सभी भक्ति धाराओं का लक्ष्य और हेतु समय की सभी संज्ञाओं में समाज ही रहा है।

प्रेम और प्रेम की अनुभूति तथा इन अनुभूतियों का संसार जितना बड़ा और विस्तृत भक्तिकाल में है, उतना अन्य किसी काल में नहीं। सामाजिक समानता की आवाज भक्तिकाल में अधिक प्रबल है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सच ही कहा था कि 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।' समर्पण, वेदना, विरहानुभूति, गुरूमहिमा, प्रकृति के साथ मानवीय सम्बन्ध, जातिगत अमानवीयता पर प्रश्न, पालक, रक्षक और दण्ड का विधान समाजहित में हमें आज भक्तिकाल से फिर सीखना होगा। भक्तिकालीन साहित्य एक पुख्ता और प्रामाणिक जन आंदोलन था, जिसका प्रारम्भ उत्तर भारत में अस्पृश्यता, जातिगत भेद-भाव एवं ऊँच-नीच की भावना को समाप्त करने के लिए हुआ था। राष्ट्रनायक, काव्यनायक एवं स्त्री अस्मिता जैसे- अनेक आधुनिक विषय हमें भक्तिकाल से ही अपने प्रारम्भिक स्वरूप से आकर्षित करते हैं। इस क्रम में निर्गुण संत-साहित्य, सूफी प्रेम-साहित्य, राम-साहित्य, कृष्ण-साहित्य, अष्टछाप तथा अन्य भक्ति धाराएँ इस पुस्तक के केन्द्र में है।

इस पुस्तक के सभी विद्वान लेखकों के विचार और मान्यताएँ उनकी निजी वैचारिक भाव-भूमि और प्रामाणिकता से सम्बद्ध है। मैं हिन्दी विभाग के प्रोफेसर वीरेन्द्र मोहन, प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी, प्रो. चन्दा बैन, डॉ. पंकज चतुर्वेदी, डॉ. आशुतोष, डॉ. हिमांशु कुमार, डॉ. अरविन्द कुमार, डॉ. मनीष कुमार, डॉ. विवेकानंद उपाध्याय, डॉ. अफरोज बेगम के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ तथा प्रो. नागेश दुबे, डॉ. सरोज गुप्ता, डॉ. घनश्याम भारती, डॉ. मशकूर अहमद के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक के सम्पादन में अपनी ओर से मुझे सहयोग दिया। हिन्दी विभाग के प्रबुद्ध शोध अध्येताओं डॉ. संजीव विश्वकर्मा, डॉ. मंगल अहिरवार, भारती कोरी, मनोज कुमार, हरिश्चन्द्र यादव, संजय कुमार, अनुज कुमार शुक्ल, शिवराम मौर्य, अजय कुमार, सपन राज, रामाश्रय पटेल, आशीष कुमार, नताशा इन्दुस्काया, राखी देवी, कुमारी सरिता, सौरभ सिंह, अभिषेक दांगी, सुधीर साहू, जुगुल किशोर, रतीराम अहिरवार आदि के अपने प्रामाणिक विचार एवं चिंतन इस पुस्तक के संग्रह में समाहित हैं। इस सहयोग के लिए मैं सभी शोध अध्येताओं को साधूवाद देता हूँ।

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) के कुलपति प्रो. राघवेन्द्र पी. तिवारी जी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मुझे इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए प्रेरित किया।

—संपादक द्वय

भूमिका

मध्यकालीन भक्ति साहित्य केवल भगवद्भक्ति ही नहीं, अपने समय और समाज के यथार्थ, व्यापक जीवन मूल्यों, सामाजिक सरोकार एवं सांस्कृतिक चिंतन की उस उच्च भावभूमि पर अवस्थित है, जहाँ से विश्व मानवता को युगों से ज्ञान, भक्ति, कर्म और सामाजिक समरसता की प्रेरणा मिलती रही है। भक्त कवियों ने अपने समकालीन जीवन-जगत् की विषम परिस्थितियों और नानाविध चुनौतियों से मुठभेड़ करने का अपूर्व साहस ही नहीं दिखाया है, बल्कि प्रतिरोध की ऊर्जस्वल चेतना से जनमानस को बहुत गहरे स्तर तक आंदोलित किया है। भक्तिकाल की काव्यधाराओं- सूफीकाव्य, संतकाव्य, रामकाव्य एवं कृष्णकाव्य के सभी कवियों ने अपनी ही तरह से अध्यात्मिकता और सामाजिक चेतना को व्याख्यायित किया और धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों, अंधविश्वास तथा पाखण्ड में फँसी जनता को जीवन के सत्य का बोध कराया। कबीर का पूरा जीवन सत्य की प्रयोगशाला थी। अपना घर फूंकने अर्थात् सांसारिकता से मुक्ति और लोकजागरण का राह दिखाने का माद्दा तो कबीर का ही था- *"जो घर जारा आपना, चलै हमारे साथ।"* विरोध सहने और अन्याय का प्रतिकार करने को उनका अपना अलग अंदाज एवं तेवर था। जाग्रत रहने में कबीर का गहरा विश्वास था- *"सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै। दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै।"* रैदास मन के चंगेपन पर भरोसा करने वाले संत थे। वे कहते हैं कि *"मन चंगा तो कठौती में गंगा।"* वैसे तो सभी भक्त कवियों ने अपने मन के साथ ही लोक को अपना मन चंगा रखने की समझाइस दी है।

सूफी साधक कवियों ने हिन्दू संस्कृति एवं हिन्दू घरानों की कथाओं के विषय को अपने काव्य का आधार इसलिए बनाया कि उनके मन में हिन्दू-मुस्लिम सद्भाव की अन्तःप्रेरणा निहित थी। अवधी में रचित 'पद्मावत' महाकाव्य में जायसी ने 'इश्क मिज़ाज़ी से इश्क हकीकी' के साथ सामाजिक समरसता को भी प्रतिष्ठित

किया है। 'पद्मावत' सूफी साधना का उच्चतम प्रतिमान है। कवि कहता है- *''मानुस प्रेम भएउँ बैकुंठी। नाहि त काह छार भरि मूठी।''* सूरदास का काव्य प्रेममूलक समाज का प्रस्तावक है। वृन्दावन और गोकुल ग्राम वासियों का प्रेम सामाजिक सम्बन्धों का उत्कृष्ट रूप है। 'सूरसागर' में वर्णित रासलीला प्रेम की पराकाष्ठा है। सांसारिक प्रेम को श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित कर कवि ने उसे अध्यात्मिकता प्रदान की है। मध्यकालीन सामन्ती शासन व्यवस्था के विरूद्ध सूर का काव्य भक्तजनों की आर्तपुकार का काव्य नहीं है, अपितु वह उस युग की सामाजिक चेतना का विराट रूप है। तुलसीदास व्यापक सामाजिक जीवन-मूल्यों के कवि हैं, भक्त हैं, अपने समय की राजनीति से उनका भले कोई लेना-देना नहीं है, पर राजनीति को सामाजिक कल्याण से जोड़ने के पक्षधर हैं। मर्यादा पुरूषोत्तम 'राम' तुलसी के महाकाव्य 'श्रीरामचरितमानस' के ऐसे महानायक हैं, जिनका मर्यादित व्यक्तित्व, पुरुषार्थ और संघर्षमय जीवन की कथा भारतीय ही नहीं, विश्वमनीषा को युगों से प्रभावित और आलोकित करती रही है।

मध्यकाल अपनी आंतरिक निर्मिति में बहुत ही विस्मयकारी, वैविध्यपूर्ण एवं अन्तर्विरोधों से भरा पड़ा था। यहाँ संघर्ष के स्तर बहुआयामी थे। गोस्वामी तुलसीदास जैसे प्रखर कवि ने अपने समय के अन्तर्विरोधों से रचनात्मक मुठभेड़ की है। चाहे वह शैव या शाक्त का अंतर्विरोध हो, वैष्णव या अन्य भक्त पद्धतियों का अन्तर्विरोध हो, सगुण या निर्गुण का अन्तर्विरोध हो या चाहे धार्मिक या सांस्कृतिक स्तर पर सनातन या इस्लाम का अन्तर्विरोध हो, इन सब पर गहन विचार करते हुए तुलसीदास अपने युग के तमाम धार्मिक एवं सामाजिक अन्तर्विरोधों के आधारों की खोज ही नहीं करते, बल्कि इनके बीच एकत्व-स्थापन के लिए एक समन्वय की एक पीठिका विकसित करते हैं। जो आज भी प्रासंगिक है और समूची भारतीय साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्परा के प्रति तुलसीदास के महत्व को रेखांकित करती है।

आज सत्ता की राजनीति, वैचारिक मतभेदों और दुराग्रही दृष्टि के कारण 'राम' के 'रामत्व' और आदर्श मर्यादित स्वरूप को खण्डित करने में तनिक भी संकोच नहीं किया गया है। यह भारतीय समाज के लिए दुर्भाग्यपूर्ण है। भक्त कवयित्री मीराबाई की कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति की मिसाल विश्व में नहीं है। परिवार और समाज की गर्हित मर्यादा और बन्धनों को तजकर, वे अपने समय में स्त्री प्रतिरोध का एक मुखर स्वर बनती हैं। वे कहती हैं कि *''मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो ने कोई।''* मुस्लिम भक्त कवियों में रसखान अपनी भक्ति भावना और सामाजिक समरसता के लिए विख्यात हैं। उनका कृष्ण प्रेम भक्तों और सामान्य

जनों के लिए आज भी आदर्श बना हुआ है। रसखान के दिल की पुकार है- *"मानुस हो तो वही रसखान, बसै ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।"*

अष्टछाप के भक्त कवियों का योगदान भी अविस्मरणीय है। ये कवि केवल भक्त नहीं थे, बल्कि अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज को नई दिशा देना चाहते थे। उनकी अध्यात्मिकता और सामाजिक जीवन बोध से तत्कालीन आस्थावान हिन्दू समाज बेहद प्रभावित हुआ था। इन कवियों में कुम्भनदास की निजी पीड़ा की अभिव्यक्ति इन शब्दों मे हुई है- *"संतन को कहाँ सीकरी सो काम, आवत जात पनहिया टूटी, बिसर गये हरिराम।"* इसकी अनुगूँज भक्तिकाल से लेकर आज तक साहित्य में बनी हुई है। रचनाधर्मियों के लिए एक तरह की चेतावनी भी है।

इक्कीसवीं सदी के भारतीय समाज में नई चुनौतियों से जूझने और उससे उबरने के लिए भक्तिकाव्य आज भी प्रेरक हैं। अपनी वैचारिकी और समाज दर्शन से एक बेहतर मानवीय समाज के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करता है। एकाकी होते मानवजीवन और तकनीक के आक्रमण से जूझते समाज को भक्तिसाहित्य ही सहज मानवीयता उपलब्ध करा सकता है। राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र के नेतृत्वकर्ताओं की घोषणाओं में भले ही भारतीय समाज की विसंगतियों और जाति, धर्म एवं सम्प्रदाय के भेद-भाव को समाप्त करने का दावा किया जाता रहा है, परन्तु जमीनी हकीकत से भारतीय जन बखूबी परिचित हैं। ऐसी परिस्थिति में हम भक्त कवियों की वाणी एवं उनके विचारों को जीते हुए एक नया समाज बना सकते हैं, जहाँ किसी भी तरह का भेद-भाव, द्वंद्व एवं संघर्ष के लिए गुंजाइश अपेक्षाकृत कम रह जायेगी। ऐसे समय में लोगों के दिलों में केवल प्रेम-ही-प्रेम रह जायेगा।

'भक्तिकाल : वाणी और विचार' पुस्तक में मर्मज्ञ आचार्यों के साथ ही नई पीढ़ी के शोध अध्येताओं ने अपनी समझ और अध्ययन के आधार पर भक्तिकाल के कवियों, उनके रचना संसार और उनकी भक्ति, सामाजिक चेतना, मूल्यबोध आदि अनेक मुद्दों को आधुनिक संदर्भ में परखने की भरसक कोशिश की है। प्रो. वीरेन्द्र मोहन, प्रो. चन्दा बैन, डॉ. पंकज चतुर्वेदी, डॉ. आशुतोष आदि के लेख में भक्तिकाल, उनके कवियों एवं रचनाओं को नई दृष्टि से मूल्यांकित किया गया है, जिससे भक्ति साहित्य को समझने की एक नई दिशा मिलती है। निःसंदेह यह पुस्तक भक्तिसाहित्य पर एक गम्भीर संवाद है। युवा आलोचक डॉ. राजेन्द्र यादव एवं उनके प्रिय शिष्य अवधेश कुमार ने पूरे मनोयोग और सूझ-बुझ के साथ प्रस्तुत पुस्तक तैयार की है। पहली बार इस विभाग के आचार्यों एवं शोध अध्येताओं के सम्मिलित रचनात्मक सहयोग से इस ग्रंथ का प्रकाशन संभव हुआ है। एतदर्थ,

संपादक द्वय को मेरी हार्दिक मंगलकामनाएँ और यह आश्वस्ति कि भविष्य में वे इसी तरह साहित्यिक उपलब्धियों के लिए निरन्तर सक्रिय रहेंगे और अपनी प्रतिभा से साहित्य की दुनियाँ में उपस्थिति दर्ज करते रहेंगे।

पुनः पुनः इस ग्रंथ के प्रकाशन के लिए हार्दिक बधाई!

—प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.)

दिनांक : 2 अक्टूबर, 2017
(आश्विन शुक्ल पक्ष द्वादशी, विक्रम संवत् 2074)

अनुक्रम

□ प्रस्तावना

□ भूमिका

1. भक्तिकाव्य का रचना-संसार — प्रो. वीरेन्द्र मोहन 15

2. इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दुन वारिए — प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी 19

3. कबीर का समाज दर्शन — प्रो. चन्दा बैन 33

4. 'रामचरितमानस' की वर्तमान सांस्कृतिक भूमिका — डॉ. पंकज चतुर्वेदी 39

5. भक्ति साहित्य का समाज दर्शन — डॉ. राजेन्द्र यादव 57

6. कबीर का समन्वयवाद — डॉ. आशुतोष 66

7. कबीर की प्रासंगिकता का प्रश्न — डॉ. हिमांशु कुमार 71

8. संत रविदास की भक्ति में बेगमपुर की अभिव्यक्ति — डॉ. अरविन्द कुमार 76

9. भक्तिकाल : मीराबाई और स्त्री संघर्ष — डॉ. मनीष कुमार 82

10. मीराबाई : जीवन और भक्ति सन्दर्भ — डॉ. छबिल कुमार मेहेर 90

11. भ्रातृत्व के आदर्श : राम और भरत — डॉ. सरोज गुप्ता 97

12. रामकथा का कालजयी ग्रन्थ 'श्रीरामचरितमानस' — डॉ. घनश्याम भारती 102

13. सूरदास और उनके काव्य में भक्ति की लहरें! — अवधेश कुमार 106

14. कबीर : सामाजिक समरसता के क्रांतिकारी संत — डॉ. संजीव कुमार विश्वकर्मा 119

15. जायसी के काव्य में लोक-जीवन एवं मानवीय मूल्य
डॉ. मंगलसिंह अहिरवार 128
16. अर्थ और सन्दर्भ : कबीर-सूर-तुलसी रूबी पाण्डेय 137
17. संत रविदास : चिन्तन एवं दलित मुक्ति की प्रासंगिकता
हरिश्चन्द्र यादव 144
18. संत रैदास की वाणी एवं विचार भारती कोरी एवं मनोज कुमार 149
19. नाम स्मरण की महत्ता और संत साहित्य अनुज कुमार शुक्ल 159
20. महामति प्राणनाथ के काव्य की प्रासंगिकता शिवराम मौर्य 168
21. भारतीय संस्कृति और कबीर रामाश्रय पटेल 178
22. मानवमूल्य और तुलसी का 'श्रीरामचरितमानस' आशीष कुमार सिंह 183
23. कबीरा इश्क का माता... नताशा इन्दुस्काया 190
24. मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई : मीराबाई राखी देवी 195
25. मध्यकालीन साहित्य : धर्मनिरपेक्षता का मूल्यांकन सपन राज 201
26. भक्ति : अवधारणा और मानव-मूल्य अजय कुमार चौधरी 217
27. संत रैदास की सामाजिक चेतना संजय कुमार 223
28. भक्ति साहित्य में मीरा और स्त्री अस्मिता जुगुल किशोर चौधरी 230
29. रसखान के कृष्ण और भक्ति सौरभ सिंह 235
30. सन्त कवियों की वैचारिक दृष्टि कु. सरिता 239
31. सन्त कवि अक्षर अनन्य : दार्शनिक विचार अरुण कुमार द्विवेदी 252
32. तुलसीदास की सामाजिक चेतना अभिषेक दांगी 267
33. मलिक मुहम्मद जायसी और कुछ बातें... सुधीर साहू 272
34. भक्तिकाल में लोकसाहित्य का प्रभाव रतीराम अहिरवार 278
35. भक्ति आन्दोलन की राजनीतिक पृष्ठभूमि शिवेन्द्र कुमार मौर्य 286
36. हमारे समय में 'कबीर' साँई शरण चौबे 295
37. भक्ति आंदोलन का भारतीय संदर्भ कृष्ण कुमार मिश्र 307
38. कबीर : कल, आज और कल... सुमन 313

भक्तिकाव्य का रचना-संसार

प्रो. वीरेन्द्र मोहन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का जो काल विभाजन तथा श्रेणी विभाजन प्रस्तुत किया उसके तहत भक्ति साहित्य साकार तथा निराकार अथवा सगुण तथा निर्गुण दो प्रमुख शाखाओं में विभाजित किया गया है। पुनः इन शाखाओं के सूक्ष्म अध्ययन के लिए सगुण-शाखा को भी रामकाव्य तथा कृष्णकाव्य और निर्गुण शाखा को ज्ञानमार्गी तथा प्रेममार्गी उपशाखाओं में विभाजित किया गया। आचार्य शुक्ल के पश्चात् हिन्दी के अधिकांश इतिहासकार इसी परम्परा का निर्वाह करते हैं। इतिहास लेखन की परम्परा तथा इतिहास लेखन की समस्याओं की यह सम्प्रदायगत पद्धति है। साहित्य के इस सम्प्रदायगत विभाजन का प्रमुख कारण है उपास्य देव तथा उपासना पद्धति। यह सुविधा के लिए किया गया विभाजन है। वास्तविक स्थिति यह है कि ये सम्पूर्ण धाराएँ कई बातों में एक दूसरे से समानता भी रखती हैं। चीजों को अलग-अलग करके देखने का आधार उसके सामान्य तथा विशेष के अन्तर से पहचाना जाता है। सामान्य तथा विशेष का यही अन्तर भक्तिकाव्य के सम्प्रदाय-विभाजन के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ है। किसी कवि ने कुछ तथ्यों को ज्यादा महत्व दिया लेकिन शेष तथ्यों की अवहेलना नहीं की। इन शाखाओं की प्रमुख विचारधारा के अध्ययन से इस बात को समझा जा सकता है।

भक्तिकाव्य में ब्रह्म के साकार-निराकार स्वरूप की जो समस्या है, वह उपनिषदों के समय से ही प्रस्तुत है। उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरूप बताये गये हैं- परब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म तथा अपर ब्रह्म या सगुण ब्रह्म। सगुण ब्रह्म साकार तथा सोपाधि है, तथा निर्गुण ब्रह्म गुण, आकार, उपाधि से रहित न होकर उनसे परे है। इस निर्गुण ब्रह्म को किसी वस्तुपरक दृष्टिकोण से जाना नहीं जा सकता, लेकिन सगुण ब्रह्म को उसके गुणों आदि से जाना जा सकता है। इस साकार निराकार ब्रह्म को जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण माना गया है। लेकिन ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप के विषय में वेदान्ती चुप हैं। उपनिषदों के पश्चात् पुराण, गीता में भी ब्रह्म के इन दोनों स्वरूपों का निरूपण साथ-साथ मिलता है।

निराकारी भक्ति के संदर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है : 'निर्गुण भक्तिमार्ग की आरम्भिक अवस्था ज्ञान की कथनी वाले मार्गों की परम्परा का ही अन्तिम रूप रही होगी'। वस्तुतः इनकी साखियाँ आठ योगांगों के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही लिखी गयी हैं। इन उपदेशों में ज्ञान प्रवण नैतिक स्वर ही प्रधान है, योग सम्बन्धी स्वर गौण। इसी नैतिकता प्रधान योगमार्ग के खेत में भक्ति का बीज पड़ने से जो मनोहर लता उत्पन्न हुई, उसी का नाम निर्गुण भक्ति मार्ग है। लेकिन निराकार भाव की भक्ति कहने मात्र से निराकारी कवियों की भक्ति-भावना को नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि इन कवियों का सत् या ब्रह्म जितना निर्गुण है उतना ही सगुण भी। सन्त जहाँ ब्रह्म को सर्वव्यापक कहते हैं तथा उपासना एवं भक्ति के लिए उस व्यापक ब्रह्म के साथ पति-पत्नी, स्वामी-दास, गुरु-शिष्य आदि का सम्बन्ध स्थापित करते हैं, वहाँ इस प्रकार के कथनों से सगुण ब्रह्म की ही प्रतीति होती है। ये सन्त कवि उस ब्रह्म के विरह तथा संयोग और प्रेम-भाव का निरूपण करते हैं। इन समस्त कारणों से सन्तों के ब्रह्म को एक व्यक्तित्व मिल जाता है जो वैष्णव भक्तों के सगुण ब्रह्म के करीब आ जाता है। डॉ. कपिलदेव पाण्डेय का मत है 'यथार्थ में कुछ पौराणिक (मिथक) अवतारों की बात अगर छोड़ दी जाय तो निर्गुणोपासक भक्तों में भी ऐसे विचार मिल जायेंगे, जो अवतारवादी परम्परा के अनुकूल सिद्ध होंगे। सगुणवादी महापुरुषों में ऊपर से अवतरित ईश्वर शक्ति की कल्पना करते हैं और निर्गुण सन्त अपने उत्क्रमणशील साधक, योगी एवं सन्तों में विकासोन्मुख ईश्वरत्व का अस्तित्व पाते हैं।

जिस प्रकार ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप के विषय में उपनिषदों ने 'नेति-नेति' कहकर अपनी असमर्थता जाहिर की थी, उसी प्रकार कबीर ने इस ब्रह्म को 'अकथ कहानी' तथा 'गूंगे केरी सरकरा' जैसी उक्तियों से दोहराया है। इन सन्तों ने मुक्ति के बजाय भक्ति को ही प्रधानता दी। सन्त कवि के 'निर्गुण' का तात्पर्य केवल एक निषेधात्मक भाव नहीं है। उनका निर्गुण राम सत, रज, तम गुणों से परे है, राम के इस गुणातीत भाव को अभेदवादी दृष्टि से उन्होंने निर्गुण कहा। निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप के विषय में कबीर की उक्ति है (क. ग्रं. पद 180):

सन्तों धोखा कासू कहिए।
गुण में निरगुण-निरगुण में गुण है, बात छांडि क्यू बहिये।
अजरा अमर कथै सब कोई, अलख न कथणां जाई।
नाति सरूप वरण नाहि जाके, घटि-घटि रह्यो समाई ।

× × ×

प्यण्ड ब्रह्मण्ड छाड़ि जै कथिए, कहै कबीर हरि सोई।

साकारी भक्त कवियों ने भी 'राम-नाम' को महत्व देते हुए जहाँ अवतारवाद के कारण ब्रह्म के सगुण स्वरूप का विवेचन किया है वहीं उन्होंने निर्गुण रूप को भी स्वीकृति प्रदान की है। उन्होंने परम ब्रह्म, निरंजन, निर्गुण आदि विशेषणों का उल्लेख किया है, लेकिन भक्ति के कारण वे मानव देह भी धारण करते हैं (मानसः अयोध्या. दोहा 93)

भगतभूमि भूसुर सुरभि, सुरहित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु, सुनत मिटहि जग-जाल।।

सगुणोपासक भक्त कवियों ने ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों को स्वीकार किया है। वस्तुतः निर्गुण-सगुण में अन्तर नहीं है। निर्गुण ब्रह्म ही भक्त के प्रेम के कारण सगुण रूप हो जाता है। तुलसी को स्वीकारोक्ति है (मानसः बाल 116/1-3) :

सगुनहिं अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।
जो गुन रहित सगुण सोई कैसे। जलु हिम उपल विलग नहीं जैसे।।

इसी प्रकार तुलसी ने ज्ञान तथा भक्ति के अन्तर्द्वन्द्व को समाप्त करते हुए उनकी एकता का प्रतिपादन किया-

'ज्ञानहिं भगतहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहि भव संभव खेदा।'

रामानन्द की जो परम्परा भक्तिकाव्य में आकर विकसित हुई उसमें 'रामनाम' की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई। निराकारी तथा साकारी उपासक दोनों प्रकार के भक्त कवियों ने 'रामनाम' को दीक्षा मंत्र माना। इस संदर्भ में कोई भी तात्विक भिन्नता नहीं दिखाई देती। सूफी कवि इस द्वन्द्व को नहीं प्रस्तुत करते। अतः उनके यहाँ भी सगुण तथा निर्गुण दोनों स्वरूपों की स्वीकृति मिली। वास्तव में भक्तिकाव्य एकता का काव्य है। इसलिए उसने हर प्रकार की द्वैत भावना का बहिष्कार किया है। वह दार्शनिक द्वैत भावना हो अथवा सामाजिक-आर्थिक द्वैत भावना। भक्तिकाव्य राम या ब्रह्म के महत् उद्देश्य को स्वीकार करता है। इस उद्देश्य के लिए भक्ति-साधना उसका माध्यम है। ज्ञान और भक्ति का सहअस्तित्व भक्तिकाव्य की महत्वपूर्ण विशेषता है।

भक्तिकाव्य की रचनाशीलता तत्कालीन युग के जीवन सत्यों को उद्घाटित करती है। भोगवादी संस्कृति के विरोध में जिस सामूहिक हित भावना से युक्त समाज निर्माण की भावना भक्तिकाव्य में उपलब्ध होती है, उसके लिए भक्तकवियों ने संघर्ष किया है। खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति कबीर या तुलसी में उपलब्ध होती हैं,

स्वीकार-अस्वीकार की मुद्राएँ भी हैं, लेकिन भक्त कवि इसी के मध्य जीवन स्रोत के तंतुओं को खोज लेते हैं तथा कर्ममय भक्ति को जीवन के लिए आवश्यक स्वीकारते हैं। उस द्वन्द्व के परिणामस्वरूप भक्तिकाव्य विकसित होता है। भक्ति काव्य आस्था का काव्य है, अनास्था का नहीं। उसकी एक विचारधारा है जो साम्प्रदायिक विभाजन को स्वीकार नहीं करती। 'मध्यकालीन सन्त वैष्णव काव्य आस्थामूलक साहित्य है। आस्था के लिए निभ्रान्तता का होना आवश्यक है और निभ्रान्तता विचार विशेष की स्वीकृति का ही दूसरा नाम है। आस्था ही वह स्रोत है जिससे कल्पना को नये-नये रूप मिलते हैं।'

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर, मध्यप्रदेश
Email- virendramohan54@gmail.com
Mob. No.- 9407533511

संदर्भ ग्रंथ :

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ.69
2. कपिलदेव पाण्डेय : मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ.170
3. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : सन्त वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव, पृ.442

इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दुन वारिए

प्रो. आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

भक्तिकाल भारतीय समाज की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक चेतना के अभ्युदय का काल था। इस युग की काव्य-चेतना की पृष्ठभूमि में यवन-संस्कृति के पदार्पण और उसके कारण उत्पन्न सांस्कृतिक संकट का बहुत बड़ा योगदान रहा है। वस्तुतः संपूर्ण भक्तिकाल जर्जर जीवन-मूल्यों के पतन और स्वस्थ जीवन-मानों के विकास की रोमांचकारी गाथा है। इससे पूर्व दसवीं शताब्दी तक आते-आते भारतीय मेधा जड़ता और अंध विश्वासों से ग्रस्त हो गयी थी। बहिर्जगत् आत्यंतिक-सुख और सत्य का आधार बन गया था। ऐसे ही समय में यवनों का पदार्पण हुआ। नये यथार्थ की चोट से भारतीय जनमानस का विचलित होना स्वाभाविक था। सच यह है कि संपूर्ण-बहिर्जगत् आंदोलित हुआ और सत्य और सुख का वस्तुगत आधार खंडित हो गया। इस विषम परिस्थिति में कबीर जैसे जननायक का आविर्भाव हुआ। उन्होंने अन्तर्जगत् के सत्य का आख्यान किया और घट के भीतर ब्रह्माण्ड की स्थिति बताते हुए मन के मथुरा, दिल के द्वारिका और काया के काशी में परम सत्य का अनुसंधान करने की बात कही। कुतुबन, मंझन, जायसी आदि सूफी कवियों ने 'प्रेम की पीर' लेकर हिन्दू-मुस्लिम समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया है। कबीर के पूर्व अमीर खुसरो ने सांस्कृतिक समन्वय की जो ज्योति जलायी वह भक्तिकाल में पूरी तरह से जगमगानें लगी थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही संप्रदायों के संत कवियों ने भक्ति के रास्ते चलकर सामाजिक एवं सांस्कृतिक समन्वय की जिस चेतना का विकास किया उससे तत्कालीन जर्जर-हताश-निराश भारतीय समाज को आस्था, विश्वास और प्रेम का संबल मिला। हिन्दू-मुस्लिम समाज के बीच परस्पर प्रेम-सद्भाव का सूत्र सुदृढ़ हुआ।

भारत में सांस्कृतिक समन्वय की चेतना का अंकुरण भक्तिकाल के पूर्व हो चुका था। अब्दुल रहमान, अमीर खुसरो प्रभृति मुस्लिम कवियों ने भाषा और साहित्य-सृजन के स्तर पर समन्वय-भावना का बीजवपन किया। वास्तव में भारतीय विषयों के प्रति मुस्लिम रचनाकारों की अभिरुचि बहुत पहले से उत्पन्न हो चुकी थी।

12वीं शताब्दी में अब्दुल रहमान कृत 'संदेशरासक' इसका प्रमाण है। फारसी साहित्य में भारतीय विषयों का समावेश करने वालों में अमीर खुसरो और फ़ैज़ी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। खुसरों के काल तक मुसलमानों में भारतीयता का भाव उदय हो गया था। खुसरो के लिए 'तूती-ए-हिन्द' की उपाधि इस बात का परिचायक है। अब्दुल कुद्दूस गंगोही (मृ. 1537) ने हिन्दी मुक्तकों की शैली को काव्य-रचना का आधार बनाया। फारसी साहित्य के अनुकरण से मसनवी शैली भी हिन्दी में लोकप्रिय हुई। अपनी प्रवृत्तियों और परंपराओं के कारण फारसी साहित्य भारतीयों को अरबी साहित्य से अधिक अनुकूल लगा और उससे वे बेहद प्रभावित हुए।

सांस्कृतिक समन्वय-चेतना का विकास काव्य-भाषा के स्तर पर हिन्दी या हिन्दवी और लोकभाषा अवधी के द्वारा संभव हुआ। सामाजिक रीति-रिवाज, भाषा और साहित्य आदि से जुड़े हुए प्रश्नों पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान द्वारा दोनों पक्ष लाभान्वित हुए। शेखहमीदुद्दीन सूफी (मृ. 1279ई.) के परिवार में हिन्दी का प्रयोग बातचीत की भाषा के रूप में होता है। मौलाना जमालुद्दीन (मृ. 1265ई. पूर्व) की धर्म गोष्ठियों में हिन्दी गीत गाये जाते थे। शेख फरीदउद्दीन शकरगंज की फारसी कविता में हिन्दी का सम्मिश्रण है। अमीर खुसरो ने बोलचाल की हिन्दी भाषा में काव्य-रचना की। आदिकाल में खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाने वाले वे पहले कवि हैं। खुसरो दिल्ली तथा उसके आस-पास की अपनी समकालीन लोकभाषा को 'हिन्दवी' और 'हिन्दी' संज्ञाये देते हैं। 'खालिकबारी' में 33 बार हिंदवी और 12 बार हिन्दी शब्द प्रयुक्त हुये हैं। खुसरो की हिन्दी रचनाओं का एक संकलन 'जवाहरे खुसरबी' है। 'खालिकबारी' के द्वारा वे हिन्दू-मुसलमान दोनों के बीच की भाषा संबंधी कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास करते हैं। खुसरो से बहुत पहले मसूद-ए-साद बिन सलमा हिन्दवी में रचना कर चुके थे।

'हिन्दी' के प्रति मुसलमानों का यह मोह किसी बाह्य दबाव अथवा निहित स्वार्थ के कारण नहीं था, बल्कि वे इसके गुणों के कारण आकर्षित थे। किसी ने प्रसिद्ध सूफी संत सैयद मुहम्मद गेसूदराज (मृ. 1422ई.) से सूफियों द्वारा फारसी के स्थान पर हिन्दी का महत्त्व देने का कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि "हिन्दी अधिक सुगमता से हृदयों को द्रवित कर देती है, इसमें सौष्ठव अधिक है। इसके माध्यम से भावभिव्यक्ति भी अधिक स्पष्टता से हो सकती है। इसमें लय और स्वर का सुंदर समावेश है, यह नेत्रों को अश्रुसिक्त कर सकती है तथा मन में अधीनता, विनय और विनम्रता जैसे भावों को लाती है।" मुल्ला दाउद का नाम ऐसे ही मुसलमानों में लिया जाता है जिन्हें हिन्दी से स्वाभाविक प्रेम था। इसीलिए उन्होंने तुर्की भाषा में लिखने के साथ हिन्दी में रचना की। इसे तत्कालीन मुसलमानों द्वारा सांस्कृतिक क्षेत्र में हिन्दुओं के निकट आने का उपक्रम माना जा सकता है।

हिन्दू-मुसलमानों के सहिष्णुतापूर्ण सह अस्तित्व की आवश्यकता को तब अनुभव किया जाने लगा था। दाउद ने अपनी रचना 'चंदायन' में इस्लाम, सूफी तत्वों और हिन्दू धर्म का समन्वित रूप प्रस्तुत किया है। उस समय तक सूफी संत संस्कृत और हिन्दी में अधिक रुचि लेने लगे थे। जायसी आदि अनेक सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों की भाषा अवधी है। ब्रजभाषा और संस्कृत का मुसलमानों ने हृदय से स्वागत किया। कवि रहीम संस्कृत और हिन्दी भाषा के मर्मज्ञ थे।

मुगलकाल में हिन्दी को प्रोत्साहन मिला। हिन्दू-संस्कृति के प्रति आदर रखने वाले शासकों में अकबर प्रमुख था। उसे हिन्दी भाषा से विशेष अनुराग था। उस समय की राजभाषा फारसी थी, किन्तु नित्य के व्यवहार में हिन्दी ही प्रयुक्त होती थी। अकबर न केवल हिन्दी कवियों का अपने दरबार में सम्मान करते थे, वरन् स्वयं भी हिन्दी और फारसी में काव्य रचना करते थे। अकबरी दरबार में जिन हिन्दी कवियों को विशेष सम्मान प्राप्त था, उनमें अब्दुर्रहीम खानखाना भी थे।

समन्वय की प्रवृत्ति मध्यकालीन कला-क्षेत्र में भी दिखाई पड़ती है। फलतः भारतीय कला में एक नया मोड़ आया जिस पर चलकर वह अधिक समृद्ध तथा सम्पन्न होती गयी। संगीत के प्रभाव से काव्य-रचनाएँ भी राग-रागिनियों के भेदों का अनुसरण करने लगीं। संगीत परिधि में सामी और भारतीय संगीत पद्धतियों के समन्वय द्वारा अपूर्व राग-रागिनियों की सृष्टि खुसरो की मौलिक देन है। अरब के फखुलद्दीन, इब्न गैवी, अब्दुल कादिर इत्यादि संगीतज्ञों की कला से वे भलीभांति परिचित थे। उन्हें इरानी-तुर्की संगीत का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त था। इन सबको उत्तर भारतीय शास्त्रीय तथा लोकधुनों में मिलाकर विलक्षण 'हिन्दुस्तानी संगीत' परंपरा को उन्होंने जन्म दिया। श्यामसुंदरदास के अनुसार "खुसरो ने भारतीय रागों को फारस के रागों से मिलाकर 15-20 रागों की कल्पना की जिसमें 5-6 राग आज भी हिन्दुस्तानी संगीत में प्रचलित हैं। ईमन और शहाना आदि ऐसे ही राग हैं।" ख्याल परिपाटी का गाना इन्होंने ही निकाला था। सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह (1637-83) ने 'नवरस' नामक ग्रंथ में भारतीय रागों भैरव, केदार, रामकली, भूपाली आदि का विवेचन किया है और हिन्दू देवी-देवताओं में सरस्वती, गणेश, शिव एवं पार्वती की स्तुति की है। ग्रंथ की भाषा शुद्ध हिन्दी है और विषय, निरूपण पद्धति, उपमान आदि पूर्णतः भारतीय हैं।

अमीर खुसरो भारतीयता के पक्षधर रचनाकार थे। इनका व्यक्तित्व इस्लाम के उदात्तीकृत स्वरूप का प्रतिनिधि है। कहते हैं- "तुर्क हिन्दुस्तानियत मन हिंदवी गोयन जवाब।" खुसरो के व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं जो दो परस्पर विरोधी जीवंत संस्कृतियों के मिलन बिन्दु पर अवस्थित हैं। दूसरे में वह निरीक्षक हैं, जो दो परस्पर विरोधी स्वयंनिष्ठ मतवादों पर तटस्थ दृष्टिपात करता है। हिन्दू-मुसलमान दोनों से उनका

आग्रह है कि वे एक-दूसरे को निकट से पहचानें, परखें, परस्पर प्रेम-सद्भाव से रहें और मिलजुलकर खुसरवी पहेलियाँ बूझें। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार हैं कि "अमीर खुसरो ने मुसलमानी राजत्वकाल के आरंभ में ही हिन्दू-जनता के प्रेम और विनोद में योग देकर भावों के परस्पर आदान-प्रदान का सूत्रपात किया।"

मुस्लिम संत कवि

संतमत भारतीय संस्कृति रूपी क्षीरसागर के मुस्लिम संस्कृति रूपी मंदराचल से मथित होने के परिणामस्वरूप नवनीत की भाँति मानवधर्म का पर्याय बनकर ऊपर उठ आया था। संत चाहे हिन्दू रहे या मुसलमान, समाज ने उन्हें अपना सच्चा हितैषी मान लिया था। दोनों ने एक दूसरे के पूज्य और पवित्र स्थानों को हृदय से स्वीकार किया। उनके प्रति श्रद्धा और आदर का भाव प्रदान किया। संतों के पूर्व गोरखनाथ ने साम्प्रदायिक सद्भाव की स्थापना की दृष्टि से कहा थाः-

मुहम्मद मुहम्मद न कर काजी, मुहम्मद का विषय विचार।
मुहम्मद हाथि करद जे होती, लोहे गढ़ी न संसार।।

संत कवियों ने मनुष्य मात्र को समझते हुए 'राम-रहीम' का भेदभाव नहीं रखा। वे इस बात का अनुभव करते थे कि न तो मुसलमान इस देश से बाहर निकाला जा सकता है और न धर्म-परिवर्तन एवं हत्या से हिन्दुओं का अस्तित्व मिटाया जा सकता है। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल लिखते हैं कि "उस समय की यह स्पष्ट माँग थी कि हिन्दू और मुसलमान अड़ोसी-पड़ोसी की भाँति प्रेम और शांति से रहें और इन उदार चेताओं को भी इस आवश्यकता का अनुभव हुआ था। दोनों जातियों के दूरदर्शी विरक्त महात्माओं ने जिन्हें जातीय पक्षपात छू नहीं गया था, जिनकी दृष्टि तत्काल के हानि-लाभ, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद से परे जा सकती थी, इस आवश्यकता का सबसे तीव्र अनुभव हुआ।" संतमत को एक सांस्कृतिक आंदोलन का रूप कबीर ने दिया। उनकी रहनीगत सात्विकता स्पष्ट रूप से वैष्णवता को प्रमाणित करती है। वस्तुतः संत काव्य मध्ययुगीन भारत की सांस्कृतिक चेतना का दस्तावेज है, जिसका सम्यक् अनुशीलन अभी तक नहीं हो सका है।

निर्गुणोपासक संत कवियों में कबीर का स्थान सर्वोच्च है। उनकी साधना पद्धति में भारतीय वेदांत के अद्वैतवाद, सूफियों के प्रेमतत्व और वैष्णवों की अहिंसा एवं प्रपत्ति का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है। कबीर की भक्ति साम्प्रदायिक और सैद्धांतिक न होकर तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की उपज है। इसमें जो आत्मसमर्पण दिखायी पड़ता है वह ऊँच-नीच, जाति-पाँति, ज्ञानी-मूर्ख, हिन्दू-मुसलमान, आत्म-पर और राम-रहीम के पार्थक्य के सर्वथा ऊपर स्थित निरपेक्ष सत्य के प्रति व्यक्ति की अनन्यनिष्ठा का द्योतक है। परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार कबीर ने किसी

भी सिद्धांत को सर्वमान्य मानकर चलना उपयुक्त नहीं समझा और इसीलिए उनका दृष्टिकोण बहुत कुछ समन्वयवादी है। पर यहाँ यह भी स्मरणीय है कि कबीर का समन्वयवाद कोई विशिष्टवाद नहीं, वरन् विभिन्न वादों में संगृहीत उत्तम विचारों का संकलन है। कबीर ने रूढ़ियों को अस्वीकार करने का कोरा नारा नहीं लगाया, चलने का रास्ता सुझाया 'समता का रास्ता' और उन्होंने दृष्टि दी- 'समदृष्टि' अर्थात् सब जीवों की आत्मा को एक समान देखना है। वे कहते हैं:-

समदृष्टि तब जानिये, सीतल समता होय।
सब जीवन की आत्मा, लखैं एक सी होय।।

कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों की कटु आलोचनाएं कीं तथा दोनों ही धर्मों की कमजोरियों पर प्रकाश डाला। उन्होंने सामाजिक एकता का जो भाव जगाया था उसमें जाति-भेद, वर्ण भेद तथा धर्म भेद का कोई स्थान नहीं है। कबीर कहते हैं कि-

कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी राह चलि भाई।
हिन्दू तुरुक का करता एकै, ता गति लखी न जाई।।

कबीर हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक भेद-भाव को झूठा बतलाते हुए कहते हैं, "भूले भरमि परेमति कोई, हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई।" कबीर अन्यत्र भी स्वीकारते हैं कि "हम वासी उस देश के, जहाँ जाति-पांति कुल नाहीं।"

संत कवि दरियासाहब उज्जैन के सूफी साधक पीरानशाह के वंशज थे। वे कबीर के मतवाद से प्रभावित हुए। 'ज्ञानदीपक' उनकी रचनाओं का संग्रह है। दरियासाहब भी हिन्दू-मुसलमान दोनों को व्यर्थ के विवाद में फंसा हुआ देखते हैं:

हिन्दू तुरुक इमि दोनों भुलाना।
दूनों वादि ही वादि दिलाना।।

संत रज्जब संत दादू दयाल के शिष्य थे। इनके पूर्वज हिन्दू थे और जाति के कलाल थे। बाद में ये लोग मुसलमान हो गये। परशुराम चतुर्वेदी लिखते है कि "रज्जब की उक्तियाँ मस्ताने सूफियों के ढंग की उतरी हैं और वे दादू दयाल के अधिक अनुकूल कही जा सकती हैं।" रज्जब ने अन्य संतों की भाँति समाज में प्रचलित वाह्याडम्बरों का विरोध किया। उनके मत से यह जाति-पांति की समस्या व्यर्थ है, सभी मनुष्य एक हैं, एक ही ब्रह्म से उपजे हैं और एक ही ब्रह्म में समाने वाले हैं:

कुल मरजाद भेंड़ सब भागी, बैठा भाटी नेरा।
जाँति-पाँति कछु समझै नाहीं, किसकूँ करै परेरा।।

रज्जब अत्यंत संयत शब्दों में हिन्दू-मुसलमान के बीच स्थित वास्तविक समभाव का उपदेश देते हैं:

हिन्दू तुरुक दुन्यूं जल बूँदा, कासूँ कहिए बांभन सूदा।
रज्जब समता ग्यान विचारा, पंच तत्त का सकल पसारा।।

संत कवियों ने प्रेम को जीवन का सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व स्वीकार किया है। कबीर प्रेम के अनन्य गायक हैं। ढाई आखर 'प्रेम' का पढ़ने वाला ही वास्तविक ज्ञानी है। यह प्रेम समर्पण बलिदान की वेदी पर खरा उतरता है। रज्जब भी अनुभव करते है:-

रज्जब पावक प्रेम है, कंचन आतम राम।
गालि मिलावे दुहुन कौ, प्रेम करै ये काम।।

मुस्लिम संत कवि दीन दरवेश भारतीय पौराणिक कथाओं से सुपरिचित थे। वे अभिमान त्याग देने वाले हिन्दू-मुसलमान एकता के समर्थक है :

हिन्दू कहें सो हम बड़े, मुसलमान कहे हम्म।
एक मूँग दो फार हैं, कुण ज्यादा कुण कम्म।।

सांस्कृतिक समन्वय का मार्ग प्रशस्त करने वाले अन्य मुस्लिम संत कवियों में यारी साहब, बावरी साहिबा, फकीरशाह, बुल्लाहशाह आदि महत्वपूर्ण हैं। बावरी साहिबा का मन तो पतंग होकर 'सांवरी सूरत' मोहिनी सूरत के पीछे नित्य भोवरी भरता है। यारी साहब कभी अपनी कल्पित आगत पतिका से मंदिर में 'दियना' बारने को कहते हैं और कभी प्रिय संग होरी खेलते हैं। वे लिखते हैं:

बिरहिन मंदिर दियना बार
बिन बाती बिन तेल जुगुति सों बिन दीपक उजियार

वस्तुतः निर्गुणोपासक संतों की साधना समन्वयमूलक थी। धर्म, दर्शन, उपासना, आचार-विचार आदि क्षेत्रों में समन्वय द्वारा ये संत ऐसे मार्ग का संधान करते रहे जो मानव मात्र के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुआ। संतों के संपर्क का ही प्रभाव था कि शाहजादा दाराशुकोह ने उपनिषदों को 'सर्र-ए-अकबर' के नाम से फारसी में अनूदित किया। उसने लिखा है कि निस्संदेह यह ईश्वरीय ग्रंथ है और एकेश्वरवाद के महासागर का उद्गम स्थल है। सत्य यह है कि एकेश्वरवाद उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता थी। अतः कबीर आदि संतों ने हिन्दू-मुसलमान दोनों को एकेश्वरवाद का संदेश सुनाया जिसके परिणामस्वरूप जनता को बहुदेवोपासना के अभिशाप से छुटकारा मिला। इस सन्दर्भ में दार्शनिक-सांस्कृतिक धारा पर सूफीमत से प्राप्त प्रेरणा भी उल्लेखनीय है। संत काव्य में दाम्पत्य प्रतीकों की उपलब्धि सूफी-दर्शन के प्रभाव का

ही परिणाम है। सूफीमत ने देशव्यापी धार्मिक कटुता को समाप्त करके प्रेम, सहिष्णुता, औदार्य एवं मधुरता की भावना का प्रसार किया। यह कार्य ज्ञानमार्गी संतों के साहचर्य, सहयोग से ही संभव हुआ।

सूफी कवि

भारत में प्रसिद्ध सूफी संत ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के समय से सूफी मत का अधिकाधिक प्रचार एवं प्रसार हुआ। उनके व्यक्तित्व तथा उनके सिद्धांतों ने पश्चिमोत्तर भारत के हिन्दू जन-जीवन को बहुत ही प्रभावित किया। शेख निजामुद्दीन औलिया, शेख फरीदुद्दीन, शेख सलीम आदि सूफी संतों ने हिन्दू जनता और हिन्दू शास्त्रों (वेदान्त, योग आदि) के प्रति अत्यंत सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखा था, जिसके कारण इन सूफियों को अपने अधिकांश जीवन में कट्टर मुसलमान धर्मावलंबियों से संघर्ष करना पड़ा था। 14वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 15वीं शताब्दी के सूफियों में अत्यधिक लोकप्रिय और भारतीय जन-जीवन को विशेष रूप से प्रभावित करने वाले सूफी मसूदबक, शेख सर्फुद्दीन तथा सैयद अशरफ जहाँगीर सिन्मनी (जायसी के गुरू) थे। योग दर्शन का भी प्रभाव भारतीय सूफी मत पर पड़ा। शेख फरीदुद्दीन शकरगंज ने 'जिक्र', 'जप' के आधार पर एक उपासना प्रणाली हिन्दी में प्रस्तुत की थी। हिन्दू शास्त्रों में निहित श्रेष्ठ तत्त्वों और सूफी सिद्धान्तों में समानता की भावना ने इन सूफियों और हिन्दू साधुओं को एक दूसरे के निकट लाने का कार्य किया। इस प्रकार से सत्संग से सांस्कृतिक समन्वय की भावना जन्म ले रही थी। सूफियों में इस्लामी कट्टरता की तीव्र गंध नहीं थी, अतः वे सहज रूप से हिन्दू समाज की बहुत सी बातों को अपनाकर बड़ी प्रेम-भावना से अपनी बातें बता देते थे। ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पणजन्य प्रेम- साधना, पारस्परिक संवेदनशीलता और विश्व बंधुत्व की भावना पर ये सूफी संत विशेष बल देते थे।

15वीं एवं 16वीं शताब्दियों के सूफी आन्दोलन काल में सूफी संतों ने सांस्कृतिक समन्वय की पीठिका निर्मित की। सूफियों और ख्वाजा सम्प्रदाय वालों के जो प्रयत्न चल रहे थे वे संभवतः अधिकांश हिन्दू समाज के धर्म-परिवर्तन में सिद्ध होते थे। कारण यह कि उन्होंने इस्लाम धर्म की कट्टरता का अन्त करके एक मानव धर्म और एक मानव जाति का जो नक्शा खींचा था, वह तत्कालीन हिन्दू-समाज के लिए उपयुक्त जँच रहा था। ये मुसलमान संत तत्कालीन हिन्दू धर्म की सभी साधना पद्धतियों को स्वीकार करने को तैयार थे। ये तो एक मानव-धर्म और एक मानव जाति की वकालत करने के लिए ही ऐसा कर रहे थे और उनकी ही चेष्टा ने सांस्कृतिक समन्वय की पृष्ठभूमि तैयार की थी। दूसरी ओर इन्होंने हिन्दू समाज और धर्म की बहुत बड़ी रक्षा की। सूफी अपने युग के सबसे प्रगतिशील और क्रांतिकारी

व्यक्ति थे। उन्होंने जाति-देश, वर्ग की चेतना को ललकारा और सार्वभौमिक प्रेम-भाव की आवाज ऊँची उठायी। उन्होंने रूढ़ियों पर प्रचंड आघात किये। वे युग की जाग्रत शक्ति के प्रतीक बन गये थे।

भारतीय वैष्णव भक्ति सूफी मत को 15वीं और 16वीं शताब्दियों में काफी प्रभावित करने लगी। वैष्णव भक्तों के निरंतर सम्पर्क में आने से सूफी मत पर वैष्णव भक्ति का प्रभाव पड़ने लगा। सूफी मीर अब्दुल वहीद विलग्रामी की रचना 'हकीकी हिन्दी' में वैष्णव धर्म के पचास से अधिक प्रतीकों को सूफी साधना में समाविष्ट किया गया था। इसमें 'कृष्ण' शब्द 'हजरत मोहम्मद' के लिए 'गोपी' शब्द 'फरिश्तों' के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। इस कृति में कृष्ण भक्ति के विविध अंगों को सूफी-साधना के अन्दर समेटने का प्रयत्न हुआ। सरमद की रचनाओं 'रूबाइयतें सरमद' से यह स्पष्ट है कि 16वीं शताब्दी के अंत तक कुछ सूफी वेदांत के रंग से पूर्णतया रंग गये थे। उनमें इस्लामी तत्त्वों का बहुत कुछ लोप को चला था।

सूफियों के धार्मिक सिद्धांत भारतीय विचारधारा के साथ बहुत साम्य रखने के कारण सहज जी लोकप्रिय हो गये। समाज में एक ओर तो अविश्वास, असहिष्णुता और विद्वेष की भावनाएँ काम कर रही थीं और दूसरी ओर प्रेम और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के लिए प्रयत्न हो रहे थे। पूरे वातावरण में बदली हुई परिस्थितियों ने एक महत्वपूर्ण योग दिया। मुसलमानों के स्थायी रूप से भारत में बस जाने के साथ दो पृथक-पृथक संस्कृतियों के एक-दूसरे के संपर्क में आने और समझने का अवसर मिला तथा जीवन के विविध क्षेत्रों में परस्पर आदान-प्रदान हुआ। धर्म और दर्शन भी इससे अछूते न बचे। हिन्दुओं ने मुसलमानों के एकेश्वरवाद, सूफियों के प्रेमतत्व तथा भावात्मक रहस्यवाद को अपनी धर्मसाधना में स्थान दिया तो सूफियों ने भारतीय वेदांत और साधनात्मक रहस्यवाद को (आचार्य शुक्ल) चैतन्य जैसे कृष्ण भक्त 'कृष्ण' नाम का कीर्तन करते समय सूफियों की सी 'हाल' अवस्था में आत्मविभोर होकर मूर्च्छित होने लगे तो सूफियों की साधना में नृत्य-संगीत इत्यादि का समावेश हुआ। शबे बारात पर दीपावली और मुहर्रम के अवसर पर ताजिया का जलूस स्पष्टतः दीपावली और रथयात्रा जैसे हिन्दू उत्सवों से प्रभावित हैं। पुण्यतिथियों पर गरीबों को भोजन खिलाने की प्रथा मुसलमानों ने हिन्दुओं की श्राद्ध पद्धति से ग्रहण की। वस्तुतः हिन्दुओं के ऐतिहासिक तथा पौराणिक आख्यानों में इस्लामी समाज को नवीन प्रेरणायें मिलीं। राम-लक्ष्मण के आदर्श संबंधों को 'हसन-हुसैन' में देखा गया। अमीर उमिया अलौकिक शक्तिसम्पन्न हनुमान बना दिये गये और अली को भीम-अर्जुन की विशेषताएँ प्रदान की गयीं।

जायसी आदि उदारतावादी मुस्लिम संतों ने प्रेम कहानियों के माध्यम से हिन्दू-मुसलमानों के मध्य सौहार्द की भावना जगाने का प्रयत्न किया था। ये सूफी साधक

मुसलमान होते हुए भी हिन्दू जीवन और धर्म की अनेक बातों के प्रति आकृष्ट थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि ''बहुत दिनों तक एक साथ रहते-रहते हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के सामने अपना हृदय खोलने लग गये थे, जिससे मनुष्यता के सामान्य भावों के प्रवाह में मग्न होने और मग्न करने का समय आ गया था। जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर चली थी। मुसलमान हिन्दुओं की राम कहानी सुनाने को तैयार हो गये थे और हिन्दू-मुसलमानों का दास्तान हमजा।... ईश्वर तक पहुँचने वाला मार्ग ढूँढ़ने की सलाह भी दोनों कभी-कभी साथ बैठकर करने लगे थे। इधर भक्ति मार्ग के आचार्य और महात्मा भगवत्-प्रेम को सर्वोपरि ठहरा चुके थे और इधर सूफी महात्मा मुसलमानों को 'इश्क हकीकी' का सबक पढ़ाते आ रहे थे। भक्ति के वैष्णवी आदर्शों का प्रभाव किस प्रकार व्यापक होता गया।'' इसी संदर्भ में आचार्य शुक्ल कहते हैं कि ''हिन्दूओं और मुसलमानों दोनों के बीच साधुता का आदर्श प्रतिष्ठित हो गया था। बहुत से मुसलमान फकीर भी अहिंसा का सिद्धांत स्वीकार करके मांस भक्षण को बुरा कहने लगे थे।'' ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान 'प्रेम की पीर' की कहानियाँ लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे। ये कहानियाँ हिन्दुओं के घर की थीं। शुक्ल जी का अभिमत है कि ''अपनी कहानियों द्वारा इन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक प्रभाव दिखाई देता है। हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया।'' इस प्रसंग में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपनी कहते हैं कि ''सूफी लोग भारतीय साधना के अविरोधी थे। उनके उदारता पूर्ण प्रेम मार्ग ने भारतीय जनता का चित्त जीतना आरंभ किया था। फिर भी, ये लोग आचार-प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नहीं कर सके। उनका सामंजस्य आचार प्रधान हिन्दू धर्म के साथ नहीं हो सका।''

कुतुबन, मुल्ला दाउद, मलिक मुहम्मद जायसी आदि सूफी कवियों ने प्रेम की पीर लेकर हिन्दू-मुस्लिम समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया है। जायसी ने हिन्दू-मुसलमान विरोध को मिटाकर समतामूलाक उपदेश दिया-

बिरिछ एक लागी दुई डारा, एकहिं ते नाना परकारा।
मातु के रक्त पिता के बिन्दु, उपजै दुवै तुरक औ हिन्दू।।

लोक मानस में जितनी गहरी पकड़ इस फकीर को थी उतनी हिन्दी के किसी अन्य कवि में नहीं दिखाई पड़ती। ''जायसी के प्रेम दर्शन की तीव्रता तथा उसका

आवेग फारस की प्रेम कथाओं जैसा ही है, परन्तु भारतीय कहानियों के तत्त्व ने उसमें गुणात्मक रूप से इजाफ़ा किया है और उसे जीवन की नाना दशाओं के बीच से गुजारा और निखारा है।'' प्रेम की अनन्यता, उसकी सात्विकता के चित्रणों में जायसी के भारतीय संस्कार अभिव्यक्त हुए हैं। नागमती के वियोग प्रसंग के अन्तर्गत शुक्ल जी ने भारतीय दाम्पत्य-जीवन की गरिमा तथा एक हिन्दू गृहिणी के अन्तर्मन के सात्विक विरह ताप का अनुभव किया है। जायसी ने 'पद्मावत' की कथा के हिन्दू-मुसलमान चरित्रों को बिना किसी भेद-भाव के पेश किया है। हिन्दुओं के लोक विश्वासों, उनकी रीतियों तथा आचार-विचारों, उनकी धार्मिक-आध्यात्मिक आस्थाओं को उन्होंने विशद रूप में, सहानुभूतिपूर्वक चित्रित किया है।

वस्तुतः मलिक मुहम्मद जायसी अवध के लोक जीवन-संस्कृति के पारखी कवि हैं। प्रकृति, लोक-परंपरा, लोकसंस्कृति, लोकभाषा, लोक की आस्था-विश्वास, संस्कार, तिथि, त्योहार आदि को पूरी विश्वसनीयता और आस्था के साथ प्रस्तुत किया है। 'कन्हावत' में राधाकृष्ण की प्रेम कथा का वर्णन कर जायसी समन्वयवादी चेतना का ही परिचय देते हैं। जायसी के बाद इस परंपरा में उसमान, शेखनबी, कासिमशाह, शेखनिसार आदि कवि हुए। चित्रावली, हंसजवाहिर, इंद्रावती आदि में हिन्दू प्रेम कहानियों को प्रस्तुत किया गया है। इन प्रेम गाथाओं में योग एवं तंत्र साधना जैसी भारतीय विचारधाराओं का प्रभाव दिखायी पड़ता है। सूफी कवियों ने भारतीय वातावरण एवं हिन्दू समाज की मर्यादाओं के अनुरूप ही नायक-नायिका का चित्रण किया है। कथा की रूपरेखा भारतीय और पारसीक दोनों प्रेम पद्धतियों पर की गयी है। जायसी के दार्शनिक विचारों के बारे में शुक्ल जी कहते हैं कि ''जायसी अद्वैतवाद तक ही नहीं रहे हैं; वेदांत के अद्वैतवाद तक भी पहुँचे हैं। भारतीय मतांतरों की उनमें अधिक झलक है।''

कृष्णभक्त मुस्लिम कवि

रसखान, रहीम, ताज, रसलीन प्रेम आदि कई मुस्लिम कवि श्रीकृष्ण के प्रति अपनी प्रेम-भावना, समन्वय दृष्टि, हिन्दू संस्कृति के प्रति आस्था और अपनी आध्यात्मिक चेतना के कारण भारतीय जनमानस में अपार लोकप्रिय हुए। रसखान सुप्रसिद्ध मुसलमान कृष्णभक्त कवि हैं। ''श्रीवृन्दावन में जाकर श्रीकृष्णचंद्र की भक्ति में ऐसे डूबे कि फिर मुसलमानी धर्म त्यागकर मालाकंठी धारण किए हुए वृन्दावन की रज में मिल गये। रसखान 'लकुटी कामरिया' पर रीझे हुए परिशुद्ध प्रेमी भक्त कवि हैं। उनकी जन्म-जन्मान्तर की साध है ''मानुष हौं तौ वही रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।'' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि ''सहज आत्मसमर्पण, अखंड विश्वास और अनन्य निष्ठा की दृष्टि से रसखान की रचनाओं की तुलना बहुत

थोड़े भक्त कवियों से की जा सकी है।" बादशाह वंश के जन्मजात मुसलमान रसखान ने स्वयं को राज्य-लिप्साजन्य द्वन्द्व से मुक्त कर जिस श्रद्धा-प्रेम और भक्तिमय रससागर में निमज्जित किया उसी में उनके वास्तविक काव्य व्यक्तित्व का मधुर रूप ढला। काव्य-रचना उनका साध्य नहीं था और न ही उनकी वाणी का विलास, यश, धन प्राप्ति के निमित्त थी। उन्होंने तो अनन्त अलौकिक रस के आगार श्रीकृष्ण के लीला-गान के रसास्वादन में ही स्वयं को कृतकृत्य समझा : "त्यों रसखानि वही रसखानि जु है रसखानि सो है रसखानी।" स्फुट छंदों के संग्रह 'सुजान रसखान' में भक्ति, प्रेम, राधा-कृष्ण की रूप माधुरी, वंशी, मोहिनी एवं कृष्ण-लीला संबंधी प्रसंगों की अवतारणा हुई है। 'प्रेमवाटिका' और 'अष्टयाम' में रसखान की भक्ति एवं कृष्ण की प्रेम-लीलाओं आदि का वर्णन है।

अब्दुर्रहीम खानखाना को कवि रहीम नाम से जाना जाता है। उनकी रचनाओं में भारतीयता की भावना भरी थी। हिन्दू-जीवन पद्धति की तमाम बातें रहीम की रचनाओं में पायी जाती हैं। धीरे-धीरे उनकी रचनाओं में धार्मिक भावना उतरने लगी। रहीम मानवीयता के साथ गहरे रागात्मक संबन्धों से जुड़े हुए कवि हैं। उदारता, समन्वय और लोक से जुड़ाव उनकी सामाजिक चेतना का मजबूत आधार है। वे कहते हैं कि-

टूटे सुजन मनाइये, जो टूटे सौ बार।
रहिमन फिर-फिर पोइये, टूटे मुक्ताहार।।

रहीम के काव्य में आध्यात्म, प्रेम, दुनियादारी, नेक-नियति, सहभागकर्मिता और शील आदि गुण बहुत गहरे अर्थों में परिलक्षित होते हैं। रहीम के समाजदर्शन में भारतीय परम्परा की सहिष्णुता, कुसंग के दुष्परिणामों के प्रति सजगता, अध्यात्म की लौकिकता आदि के दर्शन होते हैं। वे कहते हैं-

गहि सरनागति-रामकी, भवसागर की नाव।
रहिमन जगत उधार कर, और न कछु उपाव।।

कवयित्री ताज मुसलमान थीं। उनका विवाह एक अमीर नवाब के साथ हुआ था। किन्तु कतिपय इतिहासकार इन्हें सम्राट् अकबर की बेगम भी मानते हैं। कृष्ण प्रेम में इन्होंने मुगलानी होकर भी हिन्दुआनी होकर रहने का संकल्प किया और पुष्टिमार्गीय गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से वैष्णव मत की दीक्षा ली। इनकी कृष्णोपासना में राधाभाव की प्रमुखता है। ताज ने गणेश, भवानी, सरस्वती, महादेव आदि का सादर स्तवन किया है। वे कृष्ण के माधुर्य भाव की उपासिका हैं। कुल और धर्म की कानि की तजकर ताज अपने दिलजानी को पुकार उठती हैं-

सुनो दिलजानी- मेरे दिल की कहानी तुम,
इश्क की बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं,
देवपूजा ठानी, मैं नवाजी हूँ भुलानी,
तजे कलमा कुरान सारे, गुनन गहूँगी मैं,
साँवला सलोना सिरताज पत्र कुल्हेदार,
तेरे नेह दा में निदाघ ह्वै, रहूँगी मैं,
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सुरत पै,
हौं ते तुरआनी हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी।

कवि रसलीन उदारमना और सहिष्णु भक्त कवि थे। उनके 'अंगदर्पण' व 'रसप्रबोध' दो ग्रंथ विख्यात हैं, जिसमें उन्होंने मोहम्मद साहब, हजरत अली, इमाम हुसैन, इमाम हसन, पीर आदि के साथ गंगा, राम, हुनमान और लक्ष्मण आदि को भी श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है।

लाल महमूद मुसलमान वैष्णव भक्त कवि हैं। 'हरे कृष्ण' को उन्होंने जीवन का सारतत्व समझा। भक्त की जाति को श्रेष्ठतर घोषित करते हुए वे कहते हैं:

जन्म निय्या मुसलमाने
वंचित हब श्रीचरणे,
आभि मने भावि न एक बार
ए बार लाल महमूदे हरे कृष्ण नाम करेछेसार
हिन्दु किम्बा हाँक मुसलमान
तोमार पक्षे सबद समान
आपन संतान जातिर कि बिचार
भक्त सकल जातिर श्रेष्ठ
चाण्डाल कि चमार ..... ।

शाहअली कादर कृष्ण के प्रेम में इस कदर खो जाते हैं कि अपने मुसलमान होने का उन्हें कोई एहसास नहीं रह जाता। कृष्ण का यमुना की कछारों में गोपियों को मुरली बजा-बजाकर रिझाने का प्रसंग शाहअली को बहुत भाया है। "काला कृष्ण खड़ा जमुना पैं, चल जमुना के तीर बाजत मुरली ही।" दूसरी तरफ उन्हें मुसलमानों के घरों में कुँवर कन्हैया के गीत गूँजते सुनायी देते हैं। "सैयद सोये गोरि में दे-दे गहरी नींद, जगावैं बीबी फातिमा।" अर्थात हिन्दू स्त्रियों ने इस्लाम से बीबी फातिमा को प्राप्त किया और मुसलमान स्त्रियों ने गोकुल से नंदलाल को माँग लिया। लोक जीवन में सांस्कृतिक आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया अति विशिष्ट है।

कृष्णोपासक कवि आदिल यदि श्रीकृष्ण के वंशीधर रूप पर मुग्ध हैं तो कवयित्री ताज कृष्ण के वीर रूप पर। वैसे दोनों के यहाँ साँवरे, छैल-छबीले कृष्ण का सौन्दर्य मादक है। मुसलमान रंगरेज फकीर कारे खाँ श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक और भक्त कवि थे। सागर जिले के रहली ग्राम में इनका जन्म हुआ था। कारे खाँ फकीर पर कृष्ण का अनुग्रह हो गया था। इन्होंने 108 कवित्त लिखे थे। एक कवित्त द्रष्टव्य है:

माफ किया मुलुक मताह दी विभीषन की,
कही थी जुबान कुरबान ये करार की।
बैठिये को ताइफ तखत दे तखत दिया,
दौलत बढ़ाई थी जुनारदार यार की।।
तक क्या कहा था अब सरफराज आप हुए,
जबकि अरज सुनी चिरीमार सार की।
'कारे' के करार माहिं क्यों न दिलदार हुए
एरे नन्दलाल क्यों हमारी बार-बार की।।

नज़ीर अकबराबादी उर्दू के पहले कवि थे, जिन्होंने सामान्य जनता के बीच जीवन व्यतीत करते हुए उनके दिलों की धड़कनों को सुना और उनके आन्तरिक उल्लास, आनन्द, प्रेम के साथ अभावों से भरी जिन्दगी के दर्द को बड़ी शिद्दत के साथ महसूस किया था। नजीर ने हिन्दू, मुसलमान और सिखों के त्योहारों और उनके महापुरुषों पर कलम चलाकर अपने समतामूलक नजरिये से रू-ब-रू कराया। दरबारी कवि होना उन्हें कभी स्वीकार्य ही नहीं हुआ। उन्होंने कृष्ण, राम आदि की लीलाओं पर बेहतरीन रचनाएँ लिखी और पूरी दीवानगी के साथ। उनकी तरबियत में फिरकापरस्ती का कोई निशान नहीं था। इसलिए वे लिखते हैं-

क्या हिन्दू और क्या मुसलमां, क्या रिन्दो गब्रो काफिर
नक्काशि क्या मुसब्बिर, क्या खुशनसीब शाहर
जितने नज़ीर यां हैं, इस दम के हैं मुसाफिर
रहना रहीं किसी को चलना है सबको आखिर,
दो-चार दिन की खातिर यांधर हुआ तो फिर क्या।

अपनी बहुचर्चित रचना 'आदमीनामा' में इंसान की हकीकत को कुछ इस अंदाज में बयाँ किया है-

यां आदमी पे जान को वारे है आदमी,
और आदमी पे तेंग को मारे है आदमी।

पगड़ी भी आदमी की उतारे है आदमी,
चिल्ला के आदमी को पुकारे है आदमी।
और सुन के दौड़ता है वह भी आदमी।

अन्य कृष्णभक्त मुस्लिम कवियों में मुबारक, शेख आलम, रहीम आदिल, जमाल, सैयद मर्तुजा, तालिबशाह, रसरंग, हाफिज, वली मुहम्मद, लतीफ हुसैन, अलीखाँ पठान आदि भी उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने कृष्ण के जीवन के विविध प्रसंगों पर कविताएं ही नहीं लिखी वरन् अपनी संस्कृति के प्रति इन कवियों की आस्था है। हिन्दू धर्म के प्रति सम्मान है। लोकमंगल की भावना से इनका काव्य अनुप्राणित है। प्रेम का अलख जगाकर ही ये मुसलमान कवि सांस्कृतिक समन्वय को संपुष्ट करने की कोशिश करते हैं। बंगाल के मुसलमान भक्त कवि सैयद मुर्तजा राधा का जीवन धन्य मानते हैं, क्योंकि उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर द्वारा पूजित वासुदेव कृष्ण का सम्मानपूर्ण सानिध्य प्राप्त किया है। 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में भक्तवर अलीखाँ पठान और उनकी पुत्री का उल्लेख है। ये दोनों ठाकुर जी के अनन्य सेवक थे। इन साधकों ने त्यागभावना और उपासना के क्षेत्र में हिन्दुओं को कहीं-कहीं बहुत पीछे छोड़ दिया है। तभी तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कहते हैं "इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दुन वारिए।" न जाने कितनी सदियां बीत गयीं और आगे भी आयेंगी, लेकिन भक्तिकाल और उस दौर के कवियों का काव्य, उनका अध्यात्म चिंतन, सामाजिक सरोकार और इस दुनियाँ-जहाँन को इंसानियत के फलने-फूलने के लायक बना देने की चाहत हर नई सदी में समाज को प्रेम एवं सद्भाव की राह दिखायेगी।

आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
E-Mail- aptripathihindi@gmail.com
Mob. 9425656284

कबीर का समाज दर्शन

प्रो. चन्दा बैन

ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग साधन के दो रूप हैं। सगुण भक्ति के विपरीत निर्गुण अर्थात् ज्ञान मार्ग पर चलने वाले आचार्य शंकर आदि ने ज्ञान के अनुभूति पक्ष पर बल दिया। 'अहं ब्रह्मास्मि' कर देने मात्र से वाक्य में सार्थकता दिखाई नहीं देती जब तक कि यह ज्ञान अनुभव में पर्यवसित नहीं हो जाता। सच्ची भक्ति का संबंध हृदय की अनुभूति से है बाहरी आडंबर पूजा विधान, कर्मकांड आदि से नहीं यह बात जितनी पांडित्य के लिए आवश्यक है उतनी ही शास्त्रों से विरत कबीर भी भली-भाँति जान गए थे। भक्ति में ज्ञान मार्ग को आचार्य शंकर जैसे मनीषियों ने प्रतिष्ठित किया। इसका आरंभिक रूप उपनिषदों में प्राप्त होता है। शंकर के इसी मत पर भक्तिकाल में ज्ञानमार्गी शाखा का प्रतिनिधित्व करते कबीर दिखाई देते हैं।

संत कबीरदास का समय संस्कृतियों धार्मिक निष्ठाओं, मान्यताओं की टकराहट का समय था सभी संभ्रांत कही जाने वाली जातियाँ अपने-अपने पिंजरों के संकुचन में कैद हो रहीं थी चाहे वे मौलवी हों अथवा पांडे इन धर्म के ठेकेदारों ने दोनों धर्मों को नुकसान पहुँचाया। मूर्ति पूजक एक समुदाय अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करता तो दूसरा अपनी श्रेष्ठता में कल्लेआम कराता। ऐसे समय में कबीर का आविर्भाव होता है। अगर देखा जाए तो- "कबीर का सामाजिक दर्शन वस्तुतः भक्ति परक है जो ईश्वर के सन्दर्भ में एक औचित्यपूर्ण समाज व व्यक्ति की कल्पना करता है जिसमें सम्पत्ति, सत्ता एवं जन्मगत आधार पर गुण व व्यवसाय सम्बन्धी भेद कोई मायने नहीं रखते। एक सन्त के रूप में वे ब्रह्म और जीव की एकात्मक के आधार पर समाज में व्यक्तियों के बीच स्वतंत्रता, समानता व भाई-चारे की बात करते है उनके चिन्तन का सारतत्व निर्गुण ब्रह्म की प्रेम भक्ति है। समता, सामाजिक न्याय व साम्प्रदायिक सदभाव का उनका दर्शन वस्तुतः उनकी निर्गुण प्रेम-भक्ति का उपोत्पाद है।"[1]

कबीर भक्तिकाल की निर्गुणधारा के कवि माने जाते हैं। भारतीय धर्मसाधना के इतिहास में कबीर महान विचारक, ज्ञानी, भक्त, समाज सुधारक और प्रतिभाशाली व्यक्ति भी हैं। जिस समय कबीर का आविर्भाव होता है, उस समय समाज में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक इत्यादि क्षेत्रों में अराजकता का वातावरण देखा जा रहा था। कबीरदास ने समाज में फैली बुराईयों का उन्मूलन करने का प्रयास किया और तत्कालीन समाज में व्याप्त बुराईयों, परम्पराओं पर निर्मम प्रहार किया। कबीरदास समाज में रहने वाले सभी व्यक्तियों को चाहे हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सभी को एक मानते थे। उन्होंने समाज में फैले बाह्यडम्बर एवं रूढ़िवादी परम्पराओं को नकारा है; क्योंकि उनका संपूर्ण काव्य सहानुभूति का नहीं बल्कि स्वानुभूति का है। इसी संदर्भ में रामकुमार वर्मा का कथन है ''सच्चा सुधारक समाज में नये मार्ग का प्रदर्शन करने की अपेक्षा अंधविश्वास में पड़े हुए मनुष्यों को तर्क द्वारा जागृत करना अधिक आवश्यक समझते हैं। कबीर स्वाधीन विचार के व्यक्ति थे।'' काशी में हिन्दू धर्म के प्रधान केन्द्र में कबीर के सिवा और कौन साहस कर पूछ सकता था कि- ''जो तुम बाम्हन बाम्हनि जाये, और राह तुम कोह न आये'' यदि काली और सफेद गाय के दूध में कोई अंतर नहीं होता तो फिर उस विश्व-बन्धु की सृष्टि में जाति-कृत भेद कैसा? 'कोई हिन्दू कोई तुरके कहावै एक जमीं पर रहिए' सत्य तो यह है कि सभी परमेश्वर की सन्तान हैं। कबीर की यही समदृष्टि उन्हें सार्वभौमिक बना देती हैं। स्मरण रखना चाहिए कि भक्तियोग के उत्थान के साथ कितने अन्य महात्माओं ने भी शूद्रों को स्वीकार किया था, परन्तु जाति-विभाग हेय और हानिप्रद हैं। ऐसी घोषणा करने का साहस कबीर के पहले किसी भी ने नहीं किया था।''[2]

इस तरह कबीर ने सामाजिक विषमताओं, कट्टरताओं, अंधविश्वास, जाति-पाँति, बाह्यडम्बर, छुआछूत जैसी सभी बुराईयों का कड़ा विरोध करते हुए समाज को एक सभ्य समाज बनाने का आह्वान किया। जिस समय कबीर का जन्म हुआ उस समय समाज में अनेक कुरीतियाँ फैली हुई थी, उन बुराईयों के अंतर्गत वर्णव्यवस्था एवं जातिगत भेदभाव पूरे समाज में व्याप्त था। वर्णव्यवस्था के रहते समाज अनेक जाति एवं उपजातियों में विभाजित था। समाज में ब्राह्मण वर्ग सर्वोपरि था एवं धर्मशास्त्र का नियामक था। इस व्यवस्था ने समाज में उच्च एवं निम्न दो वर्ग ऐसे थे जो कभी नहीं मिल सकते। चूँकि कबीरदास जुलाहा जाति के थे और वह जातिभेद को भली-भाँति समझ गये थे। उन्होंने हिन्दू समाज की वर्णवादी व्यवस्था को तोड़कर एक जाति, एक समाज का स्वरूप दिया। क्योंकि पथभ्रष्ट समाज को उचित मार्ग पर लाना ही उनका प्रधान लक्ष्य था। कबीर ने ब्राह्मण और शूद्र के मध्य जातिभेद को व्यर्थ माना है वे इस पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं-

"एक बूँद एकै मल मूतर एक चाम एक गूदा।
एक जोति से सब उत्पन्नां कौन ब्राह्मण कौन सूदा।।"[3]

इस तरह कबीर ने जाति-पाँति का विरोध करके समाज में सभी को एक माना है, क्योंकि सभी व्यक्तियों की सृष्टि एक ही ईश्वर से हुई हैं अतः इस अनुभव को धारण करने में ही मानवता का हित निहित है। कबीर ने जाति-पांति के विरोध के साथ ही मूर्तिपूजा का भी खंडन किया है। कबीर ने हिन्दू समाज में व्याप्त मूर्तिपूजा एवं बाह्य आडम्बरों को व्यर्थ बताया है, उन्होंने कहा कि किसी भी पत्थर को पूजकर वह ईश्वर का रूप नहीं ले लेगा। कबीर के अनुसार यह पत्थर व्यक्ति को कुछ नहीं दे सकता अगर पत्थर को ही पूजना है, तो पत्थर से बनी उस चक्की को पूजिए जो सारे संसार का पेट भरती है। इसी तरह उन्होंने मूर्तिपूजा के साथ ही खुदा को पुकारने के लिए जोर से आवाज लगाने पर कबीर ने गहरा व्यंग्य किया है-

"पाहन पूजै हरि मिलै, तो मैं पूँजू पहाड़।
या तो यह चक्की भली, पीस खाये संसार।।"[4]

इसी तरह वह मुसलमानों से पूछते हैं कि-

"काँकर पाथर जोरिकै, मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला लांग दै, क्या बहरा हुआ खुदाय।।" -कबीर

कबीर ने समाज में फैली जड़ताओं का विरोध करते हुए उस समाज में उच्च पद पर आसीन ब्राह्मणवाद का भी प्रतिकार किया हैं। ब्राह्मणों को वेदशास्त्र का ज्ञान था लेकिन कबीर ने इस झूठे ज्ञान को भी नकारा है तथा उन्होंने ब्राह्मणों की तथाकथित उच्चता और जनविरोधी रूख पर भी करारा व्यंग्य किया है। कबीर के अनुसार ऊँच-नीच, छुआछूत को धर्म ने कहाँ पैदा किया, सभी मानव एक समान हैं। इस तरह कबीर ने ब्राह्मणवाद के साथ ही उनकी पोथियाँ एवं वेदपुराणों के ज्ञान को कोरा एवं अतार्किक माना है। क्योंकि उस समय शिक्षा का अधिकार केवल उच्च वर्ग को था। उन्होंने वेदपुराणों के ज्ञान से आपने को ज्ञानी मानते थे एवं समाज के सर्वेसर्वा भी। कबीर ने इस प्रकार के झूठे, कोरे एवं अतार्किक ज्ञान को व्यर्थ माना, वे इन पोथियों एवं वेदपुराणों को नदी में बहाने की बात करते हैं इस तरह कबीर ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता एवं उनके झूठे ज्ञान का कड़ा विरोध किया है-

"जो तू बामन बमनी जाया। तो आन वाट है काहे न आया।"[5]

इस तरह कबीर ब्राह्मणों को पाखंडी, विवेकहीन एवं अज्ञानी बताकर उनका खुला प्रतिकार करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है- "कबीरदास का पंडित बहुत अदना आदमी है। स्वर्ग और नरक के सिवा और कुछ जानता ही

नहीं, जात-पात और छुआछूत का अंध उपासक है, तीर्थ स्नान और व्रत, उपवास का ठूँठ समर्थक है, तत्वज्ञानहीन, आत्मविचार, विवेद, बुद्धिहीन, अट्ट गँवार।"[6]

इसी तरह कबीर ने ब्राह्मणों के कोरे एवं झूठेज्ञान, वेदपुराणों, पोथियों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं-

"कबीर पदिवा दूरि करि, पोथी देय बहाय।
बावन आखर सोध कर, ररै ममै चित लाय।"[7]

कबीर ने समाज में सामाजिक कुरीतियों की आड़ में तत्कालीन समाज में हो रही धर्म के नाम पर हो रही हिंसा का भी विरोध किया है। कबीर के अनुसार जिस हिंसा से बेजुबान जानवरों की हत्या की जा रही थी, वे उस हिंसा के विरोधी थे। यह हिंसा हिन्दू एवं मुस्लिम दोनों धर्मों के प्रचलन में थी, और धर्म की आड़ में मासूम जानवरों की हत्या की जाती थी। धर्म के द्वारा जो हिंसा समाज में होती है यदि यह धर्म है तो अधर्म किसे कहेगें। इस प्रकार कबीर मुल्लाओं द्वारा की जाने वाली हिंसा का प्रतिकार करते हैं-

"कुकड़ी मारै बकरी मारै, हम हक-हक करि बोले।
सबै जीव साई के प्यारे, उबरहु किस बोले।।"[8]

इसी तरह उन्होंने माँस खाने वालों को फटकारा है वे कहते हैं-

"बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खाते है, ताको कौन हवाल।।" -कबीर

कबीरदास ने इस संसार में धन जोड़ने की माया को भी व्यर्थ बताया है। चूंकि कबीर ने माया के विविध रूपों का उल्लेख किया है, परन्तु उन्होंने धन इकट्ठा करने वाली माया को संसार में उस माया के प्रति तृष्णा, लोभ पर करारा व्यंग्य किया है। कबीर कहते हैं कि इस संसार में तृष्णा के कारण ही लोग धन को एकत्रित करते-करते अपना जीवन गवाँ देते हैं, इसलिए कबीर ने तन और धन का गर्व करना मूर्खता बताया है। धन तो सांसारिक वस्तु है जब तक इस संसार में मनुष्य का जीवन है तब तक वह धन कमाने की लालसा रखता है। कबीर ने धन को माया का प्रतीक इसलिए माना है क्योंकि धन, झूठ, फरेब से इकट्ठा किया जाता है-

"कबीर सो धन संचिये, जो आगै कूं होइ।
सीस चड़ायै पोटली, ले जात न देख्या कोइ।।"[9]

इस तरह कबीर ने समाज के सभी ऐसे पक्षों एवं बुराईयों का विरोध किया, जो समाज की स्थिति को और भी दयनीय, जर्जर बनाती जा रही है। इन्हीं सब

कुरीतियों के रहते कबीर ने एक ऐसे समाज का स्वप्न देखा, जिसमें न कोई छोटा, न बड़ा, न कोई गरीब, न अमीर हो, सभी मनुष्य एक समान हो। पूरा समाज जातिहीन, शोषणहीन हो। समाज सुधारक कबीर के महत्व को स्वीकारते हुए मैनेजर पाण्डेय कहते हैं- ''कबीर केवल अपने युग की चिंता के कवि नहीं, वे भारत के अतीत की तेजस्वी ज्ञान धारा और भविष्य की संभावनाओं के भी कवि हैं। यही कारण है कि आधुनिक भारतीय साहित्य और संस्कृति की अग्रगामी परम्परा में कबीरतत्व अनेक रूपों में विद्यमान हैं। वह एक ओर कबीर-संगीत की उस परम्परा में है। जिससे साधारण जनता हजार कठिनाईयों के बीच जीने की शक्ति पाती है तो दूसरी ओर वह साहित्य में अपने समय की विसंगतियों को पहचानने और साधारण जनता के दुःखदर्द से हमदर्दी अनुभव करने की दृष्टि देता है।''[10] कबीर ने संसार की नश्वरता को भी व्यक्त किया है, क्योंकि यह संसार विराटता और प्रवाहमयता में जितना सुन्दर है लेकिन कितना क्षणिक और नश्वर भी हैं। यह संसार जिसके प्रति मनुष्य कितना परिवर्तनशील एवं अस्थिर हैं, यह एक ही क्षण में मीठा और दूसरे ही क्षण खारा हो जाता है। कबीर ने संसार की नश्वरता को व्यक्त करते हुए कहते हैं-

''कबीर पांणी केरा बुदबुदा, इसी हमारह जाति।
एक दिन छिपि जाहिंगे, तारे ज्यूँ परभाति।।''[11]

इन विषमताओं के होते हुए भी कबीर ने समाज के सभी मनुष्यों को कई उपदेश दिये, इन उपदेशों के द्वारा वह अपनी करनी को सुधार सके। कबीर ने साधु संगति, विषय वासनाओं, ईश्वर की भक्ति, गुरु-उपदेश, नैतिकता आदि का संदेश दिया है, वे कहते हैं कि संसार में साधु संगति बुरे व्यक्ति को भी अच्छा बना देती हैं इसलिए सज्जनों का भूलकर भी परित्याग नहीं करना चाहिए। वहीं दूसरी ओर वेशधारी साधु से बचने के लिए कहते हैं। क्योंकि ऐसा साधु उस सफदे बगुले के समान हैं जो बाहर से कुछ और अंदर कपट होता है। इसीलिए कबीर ने ऐसे ढोंगी साधुओं से बचने के लिए कहा है। ''कबीर का जाति-पाँति का विरोध भक्तों के दायरे तक ही सीमित नहीं है इसे वे वृहद् समाज के दायरे तक ले जाते हैं। वे कहते हैं कि एक ही पवन एक ही पानी और एक ही जाति से सारा संसार बना है। सभी बर्तन एक ही होता है।''[12]

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि कबीर ने समाज को निरंतर सभी बाह्य दिखावे एवं कुरीतियों, रूढ़ि परम्पराओं से दूर रखने का प्रयत्न करते रहे। उन्होंने समाज में रह रहे संकीर्ण मानसिकता के लोगों को आईना दिखाया और उनमें जागरुकता एवं नैतिकता के गुणों का संचार किया। कबीर ने समाज में सभी पहलुओं, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक पक्षों पर अपनी दृष्टि डाली, जिसके रहते

पूरा समाज अस्त-व्यस्त था। इस तरह कबीर ने समाज की सुख-सुविधाओं को अच्छे एवं बुरे कर्मों का परिणाम बताते हुए एक सुंदर समाज की कल्पना करने लगे। क्योंकि जिस समाज में व्यक्ति आचरणशील, सहज, नैतिक जीवन व्यतीत करने वाले और भेद-भाव की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर विश्वात्मा में तादाम्य करने वाले हो जायेगें वह समाज स्वयं ही एक आदर्श समाज बन जायेगा, इसी कारण कबीर को समाज सुधारक कहा जाता है।

विभागाध्यक्ष, भाषा विज्ञान
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Email- drchandabain1@gmail.com
Mob. No.-9479949601

संदर्भ ग्रंथ :

1. रामगोपाल सिंह, विकल्प की तलाश (बुद्ध से अम्बेडकर तक) प्रकाशन नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 337 चौड़ा रास्ता, जयपुर, पृष्ठ 108
2. राम कुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2010, पृष्ठ 265
3. संपा. डॉ. श्याम सुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली, प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृष्ठ 92
4. कबीर, संतवानी संग्रह, प्रकाशन वेलेडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद, पृष्ठ 58
5. संपा. डॉ. श्याम सुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली, प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृष्ठ 79
6. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2004, पृष्ठ 108
7. संपा. डॉ. श्याम सुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली, प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं. 1987, पृष्ठ 66
8. संपा. रामकिशोर शर्मा, कबीर ग्रन्थवली, श्यामा प्रकाशन, पृष्ठ 84, पद 62
9. डॉ. पुष्पपाल सिंह, कबीर ग्रन्थावली सटीक, अशोक प्रकाशन, नई सड़क दिल्ली, पृष्ठ 170
10. नामवर सिंह प्रधान सं., आलोचना (त्रैमासिक पत्रिका) 2000, सहशताब्दी, अंक अप्रैल-जून, पृष्ठ 281
11. डॉ. माता प्रसाद गुप्त, कबीर ग्रन्थावली, साहित्य भवन, इलाहाबाद, पृष्ठ 12, साखी 14
12. रामगोपाल सिंह, विकल्प की तलाश (बुद्ध से अम्बेडकर तक) प्रकाशन नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 337 चौड़ा रास्ता, जयपुर, पृष्ठ 117

'रामचरितमानस' की वर्तमान सांस्कृतिक भूमिका

डॉ. पंकज चतुर्वेदी

एक : 'मानस' के अनुचित उपयोग की आधारभूमि

"तुलसी की रामायण में निश्चय ही सोना, हीरा, मोती बहुत है, लेकिन उसमें कूड़ा और उच्छिष्ट भी काफ़ी है। इन दोनों को धर्म से इतना पवित्र बना दिया गया है कि भारतीय जन की विवेक-दृष्टि लुप्त हो गयी है।"

-डॉ. राममनोहर लोहिया

संस्कृति के क्षेत्र में 'रामचरितमानस' की वर्तमान भूमिका को समझने में सबसे महत्त्वपूर्ण सवाल यह हो जाता है कि धर्म के स्वरूप, वर्ण-व्यवस्था और स्त्री-जाति के प्रसंग में तुलसी की विश्वदृष्टि क्या है; जो उनके इस महाकाव्य में विन्यस्त हुई है। सबसे पहले तो हम देखें कि उनके नायक राम अवतारी पुरुष हैं। वे नारायण हैं, जो मनुष्य-रूप में पृथिवी पर अवतरित हुए हैं। 'गीता' में कृष्ण कहते हैं-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। 7।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। 8।। (अध्याय 4)

आशय यह कि जो ईश्वर निर्गुण, निराकार, अनादि, अनन्त, अनाम, सर्वव्यापी और नित्य है; वह मृत्यु-लोक में धर्म की दुर्दशा और सज्जनों की यातना से द्रवित होकर लौकिक स्वरूप का वरण करता है। तुलसीदास ने 'मानस' में 'गीता' के इन श्लोकों की लगभग पुनर्रचना प्रस्तुत की है—

जब-जब होहि धरम कै हानी। बाढ़हिं अधम, असुर, अभिमानी।।
तब-तब प्रभु धरि मनुज सरीरा। हरहिं सकल सज्जन भव पीरा।।

यही वह मान्यता है, जिसकी आधारभूमि पर तुलसीदास निर्गुण और सगुण भक्तिधाराओं के संघर्ष की किसी संभावना अथवा प्रश्न पर सम्यक् पटाक्षेप करते हुए लिखते हैं- *"अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।"* लेकिन यही वह जगह है, जहाँ राम-सम्बन्धी कबीर की परिकल्पना और चिन्तन से उनका विरोध एकदम स्पष्ट हो जाता है। कबीर का कथन है-

ता साहिब के लागौं साथा। दुख-सुख मेटि जौ रह्यौ अनाथा।
नां दशरथघरि औतरि आवा। नां लंका का रांव सतावा।
देवैं कख न औतरि आवा। नां जसवै ले गोद खेलावा।
बद्री बैठा ध्यान नहिं लावा। परसराम है खत्री न सतावा।
द्वारमती सरीर ना छांड़ा। जगननाथ ले प्यंड न गाड़ा।।

कबीर अवतारवाद का सतत प्रत्याख्यान करते हैं। उनके राम पुराणसम्मत अवतार नहीं। 'वे दशरथ के बेटे नहीं थे, न उन्होंने द्वारिका में शरीरत्याग किया और न वे जगन्नाथ-धाम में बुद्ध-रूप में ही अवतरित हुए।' ...यहाँ सबसे अजीब बात है, अवतारों की शृंखला में बुद्ध को भी सम्मिलित कर लिया जाना! कबीर की चेतना में इस आभ्यंतरीकरण से प्रभु-वर्गों के मिथ्या प्रचार की सफलता सूचित होती है। कौन नहीं जानता कि बुनियादी तौर पर बुद्ध के तीन मुख्य सिद्धांत हैं- 1) ईश्वर को न मानना; 2) आत्मा को नित्य (एकरस) न मानना; और 3) किसी भी धर्मग्रन्थ को स्वतःप्रमाण न मानना। यानी अपनी बुद्धि और अनुभव की ही प्रामाणिक सत्ता स्वीकार करना। बुद्ध ने जीवन-भर वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष किया था। 'धम्मपद' में उनका वचन है कि गोत्र या जटाओं या जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता। जिसमें सत्य और धर्म है, वही पवित्र है और ब्राह्मण है-

न जटाहि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो।
एक और जगह बुद्ध अहिंसा का उपदेश करते हुए कहते हैं-
यो न हन्ति न घातेति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।

(जो न किसी को (स्वयं) मारता है, न मारने की प्रेरणा देता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।)

अवतार को स्वीकार करने में कबीर के सम्मुख अवतारी पुरुष के वर्ण की बाधा थी। अवतारवाद के साथ ही वर्णाश्रमधर्म का सवाल अविभाज्यतः लगा-लिपटा चला आता है। नतीजतन कबीर उसे खारिज करते हुए कहते हैं-

कहैं कबीर बिचारिके, जाकै बर्न न गाँव।
निराकार और निर्गुना, है पूरन सब ठाँव।।

यह अपने में कितनी क्रांतिकारी बात है कि कबीर ईश्वर को उसके पते-ठिकाने के तौर पर किसी गाँव, जगह, जन्मभूमि या कर्मभूमि-विशेष से सम्बद्ध, परिमित अथवा चिह्नित किये जाने के सर्वथा ख़िलाफ़ थे। भक्तों को उनके 'राम' का यह संबोधन महत्त्वपूर्ण है-

मोकों कहाँ ढूँढे बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में।
ना तो कौन क्रिया-कर्म में, नहीं योग-बैराग में।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौं, पल भर की तालास में।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसों की स्वाँस में।।

निष्कर्ष यह कि ईश्वर के लिए कहीं जाने या भटकने की आवश्यकता नहीं। वह तो अपने भीतर ही और सर्वत्र विद्यमान है। दिलचस्प है कि आसन्न अतीत में उग्र और कट्टरपंथी हिन्दुओं के उन्मत्त उद्घोष- *'क़सम राम की खाते हैं, हम मंदिर वहीं बनायेंगे'* के जवाब में नब्बे के दशक में बाबरी मस्जिद ढहाये जाने के कारण हुए सांप्रदायिक दंगों के दौरान धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक शक्तियों ने यह नारा गढ़ा था- *'घट-घट में व्यापे हैं राम। मत भड़काओ दंगा लेकर उनका नाम।'* ज़ाहिर है कि कबीर ने जिन राम की भक्ति की थी, उनकी क़सम खाकर मंदिर को 'वहीं' बनाने के संकल्प की न तो घोषणा संभव है, न ऐसे संकल्प को किसी तरह का औचित्य ही प्रदान किया जा सकता है। शायद कबीर इन ख़तरों से वाक़िफ़ थे कि ईश्वर को स्थान-विशेष से जोड़ दिये जाने पर जन-सामान्य में कैसी अंधश्रद्धा, अंधविश्वास, उन्माद और प्रतिहिंसा जाग सकती है- तीर्थाटन या वैराग्य के नाम पर कैसे सारहीन भटकाव और योग-साधना तथा पूजा-पाठ के नाम पर कैसी आत्माहीन सक्रियता को बढ़ावा मिलेगा!

ग़ौरतलब है कि तुलसी के काव्य-नायक राम भी 'मानस' के अयोध्याकाण्ड में वन पहुँचने पर वाल्मीकि जी से मिलते हैं और उनसे अपने लिए किसी जगह के निर्देश का अनुरोध करते हैं, जहाँ वे अपनी कुटी बनाकर सीता और लक्ष्मण के साथ रह सकें-

अस जियँ जानि कहिअ सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ।।
तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। बासु करौं कछु काल कृपाला।।

इसके प्रत्युत्तर में वाल्मीकि जी का कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है-

पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहि देखावौं ठाउँ।।127।। (अयोध्याकाण्ड)

तुलसी के राम सगुण और अवतारी होते हुए भी सर्वत्र व्याप्त हैं। इतनी-सी बात पर अगर आज एक सर्वानुमति हो जाय तो कथित 'रामजन्मभूमि मुक्ति आंदोलन' के लिए वैसा हाहाकार न हो, जो बीच-बीच में हमारे राष्ट्रीय जीवन में एक संकट की तरह प्रवेश करता है। तुलसी के शब्दों में जो राम *'सकल जग स्वामी'* हैं, उनके नाम को स्थान-विशेष पर आधिपत्य के लिए हो रहे झगड़े में इस्तेमाल करना किसी विडंबना से कम नहीं और वरिष्ठ कवि कुँवर नारायण ने बड़े प्रभावशाली ढंग से इसे अपनी एक कविता में व्यक्त किया है-

हे राम, /जीवन एक कटु यथार्थ है/और तुम एक महाकाव्य! ... /इससे बड़ा क्या हो सकता है/हमारा दुर्भाग्य/एक विवादित स्थल में सिमटकर/रह गया तुम्हारा साम्राज्य/अयोध्या इस समय तुम्हारी अयोध्या नहीं/योद्धाओं की लंका है/'मानस' तुम्हारा 'चरित' नहीं/चुनाव का डंका है!

चुनाव की राजनीति से लेकर सांप्रदायिक दंगों की रणनीति में 'रामचरितमानस' का जिस तरह दुरुपयोग हो रहा है, वह दुख और चिन्ता का विषय तो है ही; उससे यह प्रश्न भी जुड़ा है कि तुलसी की कविता में आख़िर ऐसा क्या है, जो उसके ऐसे इस्तेमाल को मुमकिन बनाता है? इस प्रसंग में उनका एक दोहा विचारणीय है-

स्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात।
रामु कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात।।194।। (अयोध्याकाण्ड)

यानी 'मूर्ख और पापी (नीच) चाण्डाल, शबर, खस, यवन, कोल और किरात भी राम-नाम कहते ही परम पवित्र और सारे संसार में विख्यात हो जाते हैं।' 'मानस' दरअसल अपनी संपूर्ण व्यंजना में उस इकहरे हिन्दू सांस्कृतिक विमर्श की अभिजात सवर्ण पितृसत्तात्मक व्यवस्था को निर्मित और प्रस्तावित करती है; जिसके स्वीकार के बग़ैर अन्य संप्रदाय, मत या पंथ के अनुयायियों, तथाकथित नीच जातियों के हिन्दुओं और स्त्रियों को मुक्ति तो ख़ैर क्या, जीने-भर के लिए पर्याप्त सम्मान और छवि की स्वच्छता भी हासिल नहीं हो सकती। उपर्युक्त दोहा उस प्रसंग में लिखा गया है, जब वनवासी राम से मिलने गये भरत निषादराज को गले लगा लेते हैं। गले लगा लेनेवाली सदाशयता, उमड़ते प्रेम के क्षणों में वर्ण-भेद की दीवार के गिर जाने की स्थिति अपनी जगह सराहनीय है, मगर इसका उत्स राम द्वारा निषाद को मित्र के रूप में अंगीकार करना है। लेकिन इस प्रक्रिया में भी न तो स्वयं राम अपने गुरु एवं कुलपूज्य वशिष्ठ की ब्राह्मण-सम्मत विचारधारा से विरत होते हैं, न अपने क्षत्रिय वर्ण के राजसी आभामंडल से बाहर आते हैं और न निषाद ही अपनी वर्ण-स्थिति की अभिशप्त छाया से छूट पाता है। उसका यह कर्तव्य है कि मुनिराज वशिष्ठ, राम, भरत या लक्ष्मण को देखकर दूर से ही अपना नाम, गाँव और जाति

बताते हुए ज़मीन पर माथा टेककर जोहार करे- *"गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई।।"* इसके अलावा उसकी दमित सामाजिक अवस्थिति को भली-भाँति निरूपित करते हुए तुलसीदास लिखते हैं कि वह लोक और वेद, दोनों में सब प्रकार से नीच माना गया है और उसकी छाया के छू जाने से भी स्नान करना होता है- *"लोक बेद सब भाँतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा।।"* वशिष्ठ के संदर्भ में तो निषाद की यह पहचान और तीखी तथा स्पष्ट होकर उभरती है-

एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं।।
जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ।।243।। (अध्योध्याकाण्ड)

बार-बार जैसे इस बात का ढिंढोरा पीटा गया है कि उस 'अधम अवर्ण' को गले लगाकर मानो कोई बहुत बड़ा, अनोखा और अप्रत्याशित काम अंजाम दिया गया है और इस काम की भी अनिवार्य बुनियादी शर्त रखी गयी है- 'राम का भजन!' सवाल है कि निचली जातियों के साधारण जन को वर्ण-व्यवस्था की शृंखलाओं से मुक्त किये बिना अगर उस पर यह प्रेम न्योछावर किया गया है, तो क्या यह उसके अस्तित्व को कुंठित और अधीन बनाये रखने की ही साज़िश नहीं है? मुख्यधारा के प्रवाह में उसकी पहचान को विलीन रखनेवाला 'धृतराष्ट्री प्रेम'? कोई अचरज नहीं कि नायक राम से ही तुलसी ने यह स्वीकारोक्ति करायी है-

बिप्रबंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई।284।। (बालकाण्ड)

ब्राह्मणों की इस प्रभुता को एकच्छत्र रखने का एकमात्र तरीक़ा यह है-

सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।।
पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रबीना।।

यही नहीं, तुलसीदास अनेक पुराणों, वेदों, शास्त्रों, स्मृतियों और रामायण-गीता आदि से अनुमोदित समाज-व्यवस्था का ऐसा ख़ाका खींचते हैं, जिसमें ढोल जैसी निर्जीव वस्तु और पशुओं के समकक्ष शूद्रों और स्त्रियों को रखकर उन्हें प्रताड़ना के योग्य घोषित करने में कोई संकोच नहीं करते। 'मानस' का कोई काण्ड ऐसा नहीं है, जिसमें स्त्री-विरोधी काव्य-पंक्तियाँ न लिखी हों। कुल मिलाकर मामला ऐसा है कि युवा आलोचक अपूर्वानंद की यह टिप्पणी यहाँ बरबस याद आती है कि समकालीन राष्ट्रीय जीवन में या हिन्दू चित्त और संस्कृति में *"अध्यात्म के अभाव की शिकायत करने वाले लोग हिन्दू धर्म की उस निर्मिति पर सवाल क्यों नहीं उठाते, जो पवित्र और अपवित्र के बुनियादी द्वैत पर टिकी हुई है। यहाँ सफ़ाई-कर्म करने के कारण दलित अपवित्र हैं और स्त्रियाँ अपनी शारीरिक संरचना के कारण अनेकशः*

अपवित्र मानी गयी हैं। मुसलमान तो ख़ैर अपवित्र हैं ही।'' प्रसंगवश विचारणीय है कि आचार्य शुक्ल ने मुख्य रूप से 'रामचरितमानस' के प्रस्थान-बिंदु से लोक-मंगल की जो आलोचनात्मक अवधारणा विकसित की थी, उसमें स्त्रियों, दलितों, अल्पसंख्यकों और अन्य पिछड़ी जातियों के लिए कहाँ और कैसी जगह निर्धारित की गयी है? क्या उस अवधारणा के विखंडन और पुनर्सृजन की अब ज़रूरत नहीं है?

तुलसी के राम हमेशा वैदिक मर्यादाओं का पालन करते हैं– *'तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू।।'* नतीजतन उन्होंने ऐसे 'रामराज्य' की स्थापना की है, जिसमें समूची प्रजा वैदिक मार्ग पर चलती है और वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार लोग आचरण करते हैं। 'गीता' में कृष्ण कहते हैं कि अन्य तीन वर्णों की 'परिचर्या' या सेवा ही शूद्रों का 'स्वाभाविक कर्म' है- *'परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजं।'* तुलसी के निषाद भी 'जड़ जीव' हैं और जीव-हत्या जैसे कर्म उनकी विवशता नहीं हैं, बल्कि वे कुजाति होने के सबब कुटिल, दुर्बुद्धि और शीलहीन हैं-

हम जड़ जीव जीव गन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती।
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई।।

ज़ाहिर है कि इस सोपानबद्ध सामाजिक व्यवस्था में तुलसी को किसी तरह की ऊँच-नीच या अन्याय के दर्शन नहीं होते; बल्कि समस्त जनता उन्हें सुखी, निर्भय और नीरोग दिखायी पड़ती है-

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग।।20।। (उत्तरकाण्ड)

इकहरे सांस्कृतिक विमर्श में निहित सत्तामूलक सवर्ण-पुरुषवाद की ही फलश्रुति है कि इस वक़्त भारत में सक्रिय चरम हिन्दूपंथी तत्त्वों ने 'रामचरितमानस' में व्यवहृत शब्द-बंध 'राम-काज' को निजी स्वार्थों से प्रेरित सांप्रदायिक अभियान का पर्याय बना दिया है। 'मानस' में रावण द्वारा अपहृत सीता को खोजने निकले हनुमान् जी रास्ते में विश्राम कर लेने के मैनाक पर्वत के अनुरोध को अस्वीकार करते हुए कहते हैं-

हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम।।1।।(सुन्दरकाण्ड)

कैसी विडंबना है कि 'राम काज' को इन दिनों एक उन्मादी और रक्तरंजित प्रयोजन से जोड़ा गया है- वैश्विक स्तर पर चलनेवाले एक हिन्दूवादी संगठन ने 'रामजन्मभूमि मुक्ति' के नाम पर जारी किये गये अपने पोस्टरों में उपर्युक्त दोहे की दूसरी पंक्ति का इस्तेमाल किया है। यह संगठन किस सीता की खोज में है और

उसकी नज़रों में रावण कौन है; एक और पोस्टर के उदाहरण से इस बात पर कुछ रौशनी पड़ेगी, जिसमें एक अन्य दोहे की यह पंक्ति अंकित है-

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।।9।। (अरण्यकाण्ड)

वन में हड्डियों का ढेर देखकर राम ने साथ चल रहे बहुत-से मुनियों के समूह से पूछा था कि ये हड्डियाँ कैसी हैं? यह जानकर उन्हें बहुत मानसिक पीड़ा हुई कि राक्षसों के गिरोह ने मुनियों को अपना ग्रास बनाया है और ये उनकी अस्थियाँ हैं। अतः उन्होंने भुजा उठाकर यह महान् प्रतिज्ञा की कि वे पृथ्वी को राक्षसों से हीन कर देंगे। निश्चय ही, राम का वह संकल्प महान् था और उसका क्रियान्वयन भी। लेकिन वर्तमान संदर्भ में इस प्रतिज्ञा का स्मरण कराने के पीछे मक़सद क्या है? बक़ौल अपूर्वानंद, ''यह आध्यात्मिकता मानव-रक्त से अपना अभिषेक क्यों कराती है?'' दूसरे शब्दों में, वे 'निसिचर' कौन हैं, जिनका वध अभी किया जाना है? कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दुत्ववादियों की नज़र में 'निसिचर' या तो धार्मिक अल्पसंख्यक हैं या वे असंख्य भारतीय, जो उनके 'हिन्दू राष्ट्रवाद' से सहमत नहीं हैं। उल्लेखनीय है कि एक संस्था द्वारा कराये गये जनमत-सर्वेक्षण के मुताबिक़ ज़्यादातर हिन्दू उक्त हिन्दुत्ववादी संगठन को अपने प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार नहीं करते। हाल में युवा आलोचक वीरेन्द्र यादव ने ठीक ही ध्यान दिलाया है कि *''यही वह परिदृश्य है, जिसमें मुसलमानों, ईसाइयों, कम्युनिस्टों और देश की सेकुलर मीडिया, लेखकों-कलाकारों आदि की शत्रु-छवियाँ गढ़ी जा रही हैं।''* राम के जिस रूप की रचना तुलसीदास ने की थी, अपनी सीमा के बावजूद उसमें एक उदात्तता थी; मगर उसे इस तरह छितराया गया है कि वह रावण के सदृश हो गयी है। कैफ़ी आज़मी के शब्दों में -

उसका रथ निकला तो जैसे लश्कर निकला
राम का ताज वो माथे पे सजाकर निकला
लेकिन तौला गया तो रावण के बराबर निकला

राम के ये तथाकथित हिन्दुत्ववादी अनुयायी इस बात से भी अनभिज्ञ और विमुख हैं कि तुलसी ने भक्त को किस रूप में परिभाषित किया है? उनके यहाँ वाल्मीकि ने राम से कैसे भक्तों के हृदय में निवास करने का अनुरोध किया है? एक उदाहरण देखिये -

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा।।
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया। तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया।।
सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी।।
जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेखी।।

यही नहीं, जिसने अपनी जाति-पाँति, धन-धर्म, महत्ता एवं घर-परिवार के सुख का परित्याग कर दिया है; राम! तुम उसी के हृदय में रहो-

जाति-पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई।।
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई।।

इन सबसे ऊपर अनुरोध तो यह किया गया है-

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु।।137।। (अयोध्याकाण्ड)

इसके विपरीत दुर्भाग्य यह है कि जिन्हें आज सत्ता, संपत्ति और तरह-तरह के अन्य सभी भौतिक साधनों पर स्वामित्व चाहिए; वही लोग राम के नाम पर अपनी इजारेदारी जता रहे हैं। यही नहीं, राम के नाम पर ही वर्णाश्रम-धर्म से पोषित पितृसत्तात्मक हिन्दू संस्कृति को भी राष्ट्रीय स्तर पर अक्षुण्ण रखना है। भरसक उसे लगातार मज़बूत, असहिष्णु और हिंसक बनाना है। इसके लिए यह हिन्दू राजनीति उन्हीं हथियारों का सहारा लेती है, जिनका तुलसीदास ने भक्तों के जीवन-व्यवहार में निषेध किया है- यानी जाति-पाँति, धन-धर्म, सत्ता, बाहुबल, कुल-गोत्र आदि। इसके अतिरिक्त काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह-मत्सर से, राग-द्रोह से, झूठ और कपट की मायावी चालों से भी कोई परहेज़ नहीं है। परायी विपत्ति से विशेष रूप से दुखित हो जाना और दूसरों की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहना इस राजनीति की विशेषताएँ नहीं हैं, क्योंकि तुलसी के शब्दों में कहें तो *'सबका प्रिय, सबका हितकारी'* होना इसका ध्येय ही नहीं है।

ऐसे राजनीतिक तत्त्व भी अगर 'रामचरितमानस' या उसके कुछ अंशों का अपने हित में इस्तेमाल कर ले जाते हैं, तो देखना होगा कि जिस पुराणसम्मत अवतारवाद, धार्मिक बाह्याचार, सगुण-पूजा, कर्मकाण्ड, वर्णाश्रम-धर्म और स्त्री-विरोध को तुलसी अपनी काव्यगत वैचारिकता का हिस्सा बनाते हैं, कहीं वही इस परिस्थिति को निर्मित करनेवाली चीज़ें तो नहीं हैं?

दो : आलोचक और तुलसी का 'रामराज्य'

यह एक क्लासिकल मार्क्सीय तर्क है कि प्रत्येक समाज की अनिवार्यतः एक ही विचारधारा होती है, जिसे उसके शासक-वर्ग की 'प्रभुत्वशाली विचारधारा' के रूप में पहचाना जाना चाहिए। इसकी बजाए डेविड लॉरेन्जन, ग्राम्शी की इस बात को ज़्यादा अहमियत देते हैं कि एक ही समाज में सुविधासम्पन्न वर्गों की विचारधारा (या विचारधाराएँ) सत्ता और दमन के बल पर वंचित वर्गों की विचारधारा (या विचारधाराओं) पर अपना वर्चस्व क़ायम कर सकती है। इसलिए उनका मत है कि

"निर्गुण और सगुण भक्ति-आंदोलन के फ़र्क़ की बुनियाद में दरअसल वर्चस्वशाली और अधीनस्थ (Sub-ordinate) या निम्नवर्गीय (Sub-Altern) विचारधारात्मक विमर्शों का यही अन्तर मौजूद है।" लॉरेन्जन रेखांकित करते हैं कि धर्मशास्त्रीय परंपराओं के पीछे उनकी सामाजिक विचारधाराएँ होती हैं और इन विचारधाराओं के पीछे उनके समर्थक जन-समुदाय या वर्ग सक्रिय रहते हैं। *"इसीलिए निर्गुण परम्परा और शुद्धतावादी अद्वैत में जो स्वाभाविक धर्मशास्त्रीय साम्य नज़र आता है और जिसे कबीरपंथ का संस्कृतीकरण करने वाले हनुमद्दास जैसे बुद्धिजीवी कबीर की महानता के एक साक्ष्य के तौर पर अक्सर उद्धृत करते हैं, उसका ख़ास मतलब नहीं रह जाता। धर्मशास्त्रों में चाहे जितनी या जैसी समानता हो, उनका समर्थन करनेवाली सामाजिक विचारधाराओं और वर्गों, दोनों में ही साझेदारी नगण्य थी।"*

प्रभुत्वशाली विचारधारा स्वभावतः अपनी सामाजिक प्रस्थापनाओं में समूचे समाज के हित या 'लोकमगल' का दावा करती है, चाहे वास्तव में वह ज़्यादातर उच्चवर्गीय अभिजात के हितों की रक्षा में ही संलग्न हो। इसलिए लॉरेन्जन कहते हैं कि विचारधारात्मक विमर्श और सामुदायिक अस्मिता को परिभाषित करनेवाले विमर्श हमेशा असमाधेय तरीक़े से परस्पर गुँथे रहते हैं। ग़ौरतलब है कि ऋग्वेद के समय से ही चला आनेवाला 'वर्णाश्रम-धर्म' जो भगवद्गीता में प्रकट होता है और कालांतर में मध्यकालीन सगुण भक्ति-आंदोलन की सामाजिक विचारधारा बन जाता है; उसके समर्थकों की यही दलील है कि वर्णाश्रम-धर्म की सोपानबद्ध सामाजिक संरचना प्रत्येक जाति और वर्ण के विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक अधिकारों को सुनिश्चित करती है। जबकि इससे सिद्धांत और व्यवहार, दोनों में हमेशा ऊँची जातियाँ ही लाभान्वित हुई हैं। इसीलिए डेविड लॉरेन्जन के अनुसार, *"यह पूछा जाना तार्किक होगा कि वर्णाश्रम-धर्म का साथ देकर सगुण भक्ति ने किस हद तक अधिकांशतः ब्राह्मण अभिजात द्वारा आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्वार्थों के लिए धर्म का इस्तेमाल हो जाने दिया है। इसी अभिजात ने सगुण ग्रन्थों की रचना की और उन्हें सामान्य जनता में प्रचारित किया है। इन ब्राह्मणों के साथ इनके तात्कालिक वर्ग-मित्र और संरक्षक, सम्पन्न भू-स्वामी और व्यापारी थे। मार्क्सवादी शब्दावली में : किस हद तक सगुण भक्ति इस विशिष्ट प्रभुत्वशाली विचारधारा के समर्थन को धारण करती है?"*

लॉरेन्जन के मुताबिक़ इस तरह का विचारधारात्मक इस्तेमाल सगुण भक्तिधारा का प्रमुख तत्त्व है और यह कि उसने वर्णाश्रम-धर्म के औचित्य को सिद्ध करने की भूमिका निभायी है और ब्राह्मणों एवं अन्य सवर्ण समूहों के अधिकारों तथा सुविधाओं को जायज़ ठहराया है। इसके बरअक्स निर्गुण भक्ति ने ख़ास तौर पर शुरूआती

दौर में वर्णाश्रम-धर्म की विचारधारा को सीधे निरस्त किया है। यह समझना ज़रूर मुश्किल है कि सगुण भक्ति के निम्नजातीय एवं स्त्री अनुयायियों ने अपने हितों के मद्देनज़र इस विचारधारा को कैसे पुनर्व्याख्यायित किया है? ज़ाहिर है कि जहाँ शुरू से लेकर आज तक सभी निर्गुण आंदोलनों में ब्राह्मण अनुयायी बिलकुल नहीं हैं, सगुण भक्ति आंदोलनों के संस्थापक प्रायः ब्राह्मण ही रहे। इसके बावजूद सगुण भक्ति और उसकी अनेक प्रशाखाओं ने सभी जातियों और वर्गों, यहाँ तक कि अछूतों में भी अपनी विचारधारा के प्रसार या विभिन्न रूपों में उसके आभ्यंतरीकरण को मुमकिन बना लिया। इस परिदृश्य में 'निर्गुण धर्म', जैसा कि लॉरिन्जन कहते हैं, *"सगुण धर्म के विश्वासों और पद्धतियों से उधार लेने, उनका अनुकरण करने और उन्हें ख़ारिज करने के एक जटिल समवाय का रूपक है।"*

हिन्दी में मुक्तिबोध ने उस सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया को सही ढंग से पहचाना और व्याख्यायित किया है, जिसमें सगुण भक्ति ने निर्गुण भक्ति के क्रांतिकारी तत्त्वों को 'विरोध, विकृति और समाहार' के ज़रिये निस्तेज बना दिया और इस संघर्ष में, अनुचित ही सही, अपनी विजय दर्ज की- *"यह आकस्मिकता न थी कि चण्डीदास कह उठता है:*

शुनह मानुष भाई;
शबार ऊपरे मानुष शत्तो
ताहार उपरे नाई।

इस मनुष्य-सत्य की घोषणा के क्रांतिकारी अभिप्राय कबीर में प्रकट हुए। कुरीतियों, धार्मिक अंधविश्वासों और जातिवाद के विरुद्ध कबीर ने आवाज उठायी। वह फैली। निम्न जातियों में आत्मविश्वास पैदा हुआ। उनमें आत्मगौरव का भाव हुआ। समाज की शासन सत्ता को यह कब अच्छा लगता? निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का प्रारंभिक प्रसार और विकास उच्चवंशियों में हुआ। निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का संघर्ष निम्न वर्गों के विरुद्ध उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरूचिवालों का संघर्ष था। सगुण मत विजयी हआ।" भक्ति-काव्य के क्षेत्र में इस विजय को संभव बनाने, उसे शीर्ष पर प्रतिष्ठित करने का पुरुषार्थ तुलसीदास में ही था- *"एक बार भक्ति-आंदोलन में ब्राह्मणों का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम-धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर नहीं थी। ये घोषणा तुलसीदास जी ने की थी। निर्गुण मत में निम्नजातीय धार्मिक जनवाद का पूरा ज़ोर था, उसका क्रांतिकारी संदेश था। कृष्णभक्ति में वह बिल्कुल कम हो गया, किन्तु फिर भी निम्नजातीय प्रभाव अभी भी पर्याप्त था। तुलसीदास ने भी निम्नजातीय भक्ति स्वीकार की, किन्तु उसको अपना सामाजिक दायरा बतला दिया। निर्गुण मतवाद के जनोन्मुख रूप और उसकी*

क्रांतिकारी जातिवाद विरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदास जी ने पुराण-मतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया। निर्गुण-मतवादियों को ईश्वर एक था, किन्तु अब तुलसीदास जी के मनोजगत् में परब्रह्म के निर्गुण स्वरूप के बावजूद सगुण ईश्वर ने सारा समाज और उसकी व्यवस्था- जो जातिवाद, वर्णाश्रम-धर्म पर आधारित थी- उत्पन्न की।''

आज हमें कबीर और निर्गुण पंथ के अन्य कवि तुलसी की अपेक्षा अधिक आधुनिक या समकालीन क्यों लगते हैं? उनकी अपील ज़्यादा सार्वजनीन और सार्वभौम क्यों साबित हुई है? इसका एक जवाब मैनेजर पाण्डेय के इस प्रसिद्ध कथन में है- *''कबीर की कविता प्रश्न पैदा करती है, जबकि तुलसी की कविता उत्तर देने वाली है।''* यह उत्तर भी ऐसा है, जो अपनी ही विषमता या दुविधा से आक्रांत है- *''तुलसीदास भी भक्ति के क्षेत्र में ऊँच-नीच, जाति-पाँति, स्त्री-पुरुष का भेद नहीं मानते, लेकिन राम की भक्ति के क्षेत्र में ही; सामाजिक जीवन में नहीं; यहाँ तक कि रामराज्य में भी नहीं।''* इसी बात को मुक्तिबोध ने बहुत प्रभावशाली और धारदार ढंग से अभिव्यक्त किया था- *''तुलसी को भक्ति का यह मूल तत्त्व तो स्वीकार करना ही पड़ा कि राम के सामने सब बराबर हैं, किन्तु चूंकि राम ही ने सारा समाज उत्पन्न किया है, इसलिए वर्णाश्रम-धर्म और जातिवाद को तो मानना ही होगा। पं. रामचन्द्र शुक्ल जो निर्गुण मत को कोसते हैं, वह यों ही नहीं। इसके पीछे उनकी सारी पुराण-मतवादी चेतना बोलती है।''* यहाँ स्मरणीय है कि डॉ. रामविलास शर्मा निर्गुण-सगुण के बीच कोई द्वन्द्व ही नहीं देख पाते- इस असमर्थता के पीछे कौन-सी चेतना सक्रिय है, कहने की ज़रूरत नहीं।

एक तरफ़ मैनेजर पाण्डेय को लगता है कि *''कबीर ऐसे कवि हैं, जिन्हें किसी तरह की साम्प्रदायिकता और कट्टरता न तो अपना बना सकती है और न पचा सकती है''*, दूसरी ओर वे कहते हैं कि *''आज की हिन्दी आलोचना ने कबीर को अध्यात्म-प्रेमी विदेशियों तथा उनके देशी सहयोगियों को सौंप दिया है और तुलसीदास को 'जय श्रीराम' का नारा लगाने वाले शाखामृगों की मर्ज़ी पर छोड़ दिया है।''* तुलसी की कविता के संदर्भ में यह बात कुछ इस तरह कही गई है, मानो सारा दोष हिन्दी आलोचना का है और इससे पहले या इससे अलग हटकर ऐसी कोई स्थिति नहीं थी। यह मानना तो ग़लत होगा कि मैनेजर पाण्डेय तुलसी की कविता को निर्दोष समझते हैं, लेकिन जिस सचाई को व्यक्त करने में वे किसी वजह से संकोच कर जाते हैं, उसे सामने लाने में मुक्तिबोध नहीं हिचकते- *''हिन्दी क्षेत्र में जो सबसे अधिक धार्मिक रूप से कट्टर वर्ग है, उनमें भी तुलसीदास जी इतने लोकप्रिय हैं कि उनकी भावनाओं और वैचारिक अस्त्रों द्वारा, वह वर्ग आज भी आधुनिक दृष्टि और भावनाओं से संघर्ष करता रहता है। समाज के पारिवारिक क्षेत्र में इस कट्टरपन को अब नये पंख भी फूटने लगे हैं।''*

हालाँकि ये दोनों आलोचक भक्ति-काव्य की विफलता और अपर्याप्तता और कालांतर में उसके पराभव और लोप के कारण भारत की सामन्ती सामाजिक-आर्थिक बनावट में देखते हैं। दरअसल विदेशी या साम्राज्यवादी पूँजीवाद बाद में भी सामन्तवाद अपदस्थ करके नहीं, बल्कि जैसा कि मैनेजर पाण्डेय कहते हैं, उसके कंधों पर हाथ रखकर भारत में प्रवेश करता है। मुक्तिबोध कहते हैं कि भक्तिकाल में हिन्दू सामन्त तत्त्वों से मुस्लिम सामन्त तत्त्वों ने, तत्कालीन मुस्लिम शासकों ने सहयोग किया। मुक्तिबोध का यह आकलन महत्त्वपूर्ण है कि भक्ति भावना के *"राजनीतिक गर्भितार्थ तत्कालीन सामन्ती शोषक वर्गों और उनकी विचारधारा के समर्थकों के विरुद्ध थे"*, लेकिन इस लड़ाई में जीत सामन्तवाद की हुई। बक़ौल मैनेजर पाण्डेय, *"असल में निर्गुण, सूफ़ी और सगुण अर्थात् पूरा भक्ति-आंदोलन जिस सामन्ती समाज-व्यवस्था के विरुद्ध खड़ा हुआ था, वह अधिक शक्तिशाली साबित हुई। उसने भक्ति-आंदोलन की सभी धाराओं को धीरे-धीरे अपने अनुकूल बना लिया। इससे साबित होता है कि सिर्फ़ सदाचारवाद से- चाहे वह कितना भी क्रांतिकारी क्यों न हो- सामाजिक व्यवस्था नहीं बदलती।"* सामाजिक क्षेत्र में सामन्ती शक्तियों की इस विजय का साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिफलन रीति-काव्य के अभ्युदय के रूप में हुआ। मुक्तिबोध के शब्दों में *"उच्चवंशी उच्चजातीय वर्गों का- समाज के संचालक शासक वर्गों का धार्मिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर, साहित्यिक क्षेत्र में उन वर्गों के प्रधान भाव- शृंगार-विलास- का प्रभावशाली विकास हुआ और भक्ति-काव्य की प्रधानता जाती रही। क्या कारण है कि तुलसीदास भक्ति आंदोलन के प्रधान (हिन्दी क्षेत्र में) अन्तिम कवि थे?"*

जैसा कि पहले कह आये हैं, हिन्दी में फिर से किसी महान् भक्त-कवि के न होने का कारण मुक्तिबोध *'तुलसीदास जी द्वारा वर्णाश्रमधर्म की पुनःस्थापना'* को मानते हैं। *'मानस'* में अनसूया द्वारा सीता को दिये गये उपदेश का हवाला देकर मुक्तिबोध लिखते हैं कि तुलसी के लिए *"सचाई और ईमानदारी, प्रेम और सहानुभूति से ज़्यादा बड़ा तक़ाज़ा था सामाजिक रीतियों का पालन। उन रीतियों और आदेशों का पालन करते हुए, और उसकी सीमा में रहकर ही, मनुष्य के उद्धार का रास्ता था। यद्यपि यह कहना कठिन है कि किस हद तक तुलसीदास जी इन आदेशों का पालन करवाना चाहते थे और किस हद तक नहीं।"* यहाँ तुलसी की सदाशयता या मनुष्य-कल्याण की उनकी भावना को, अंशतः सही, मुक्तिबोध इसलिए स्वीकार करते हैं कि उनके द्वारा *'मानस'* में राम के एक अत्यन्त उदात्त, भरसक निर्दोष चरित्र को निर्मित किया गया है। वस्तुतः राम की यह व्यक्तित्व-रचना *'मानस'* के अद्वितीय सौन्दर्य और उसकी अमिट सार्थकता का मेरुदण्ड है। काव्य-नायक की

महनीयता और उसके कवि द्वारा अपनायी गयी वर्णाश्रमधर्म की सामाजिक विचारधारा का यह ज़बरदस्त अन्तर्विरोध *'मानस'* का मुख्य अन्तर्विरोध है और यह संघर्ष दिलचस्प है। यहाँ अपने ईमानदार विश्लेषण के ही अनुरूप मुक्तिबोध यह कहने को विवश हैं कि *''जहाँ तक 'रामचरितमानस' की काव्यगत सफलताओं का प्रश्न है, हम उनके सम्मुख केवल इसलिए नतमस्तक नहीं है कि उसमें श्रेष्ठ कला के दर्शन होते हैं, बल्कि इसलिए भी कि उसमें उक्त मानव-चरित्र के, भव्य और मनोहर व्यक्तित्व-सत्ता के भी दर्शन होते हैं। तुलसीदास जी की 'रामायण' पढ़ते हुए हम एक अत्यंत महान व्यक्तित्व की छाया में रहकर अपने मन और हृदय का आप-ही-आप विस्तार करने लगते हैं।''*

शायद *'मानस'* की इसी बहुअर्थगामिता के कारण महात्मा गाँधी उसे *'समस्त भक्ति-साहित्य में महानतम ग्रन्थ'* मानते थे। विभीषण के चरित्र से उन्होंने सत्याग्रह और सीता के चरित्र से असहयोग आंदोलन की प्रेरणा हासिल की थी। इसके अतिरिक्त स्वाधीन भारत के अपने स्वप्न को साकार करने के प्रसंग में वे 'मानस' से *'रामराज्य'* की विशद परिकल्पना भी ग्रहण करते हैं।

'स्वराज्य' से ज़्यादा वे 'रामराज्य' को पसंद करते थे, क्योंकि *'रामराज्य'* उनके मनोजगत् में *''स्वाधीन राजनीतिक सत्ता' ही नहीं, 'धर्मराज्य' का भी पर्याय था, जो कि सामान्य राजनीतिक मुक्ति की तुलना में उदात्ततर अवधारणा थी।''* लेकिन धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक विचारकों द्वारा 'मानस' खास तौर पर उसके रूढ़िवादी, यहाँ तक कि प्रतिक्रियावादी काव्यांशों की आलोचना किये जाने पर गांधी का कहना था कि वे *'मानस'* के *'पाठ'* या शब्दावली (टेक्स्ट) की बजाए उसकी आत्मा से सरोकार रखते हैं। इसीलिए वे इसमें निहित वर्णविभाजित सामाजिक संरचना के ईश्वरीय न्याय की अवधारणा को नज़रअंदाज़ कर जाते हैं, ईश्वरीय राजतंत्र का महा-काव्यात्मक दर्शन उनके यहाँ आश्चर्यजनक ढंग से लोकप्रिय जनतंत्र में रूपांतरित हो जाता है। आत्मनिषेध और आत्मसंयम के नैतिक सिद्धांत को अहमियत देते हुए वे कहते हैं- *''रामराज्य का मतलब हैं जनता का राज्य। राम जैसा व्यक्ति कभी स्वयं शासन करने की इच्छा नहीं रख सकता था।''*

दिलचस्प है कि इंदिरा गाँधी द्वारा इमर्जेन्सी लगाये जाने के बाद के दौर में प्रेमनाथ बजाज ने अपनी पुस्तक *'भारत पर रामराज्य की छाया'* में लिखा कि गाँधीवादी राष्ट्रवादी चिन्तन वस्तुतः *'रामराज्य'* की सोच से ग्रस्त था; लेकिन यह सोच मूलतः प्रतिक्रियावादी, साम्प्रदायिक और अलोकतांत्रिक साबित हुई। इसका सतत आह्वान भारत को भ्रष्टाचार, हिंसा और चरम तानाशाही के पतनोन्मुख दुश्चक्र में ही ले जा सकता था। प्रेमनाथ बजाज के शब्दों में, *''कटु सत्य यह है*

कि तानाशाही और निरंकुशतावाद उस प्राचीन भारतीय संस्कृति में बद्धमूल हैं, जिसकी सराहना कुछ राष्ट्रवादी तत्त्व करते हैं।'' बजाज रामराज्य के प्रतिमान को भारतीय संस्कृति में ऐतिहासिक रूप से मौजूद अन्य 'उदार और जनतांत्रिक धाराओं' के विरोध में देखते हैं, मसलन् कबीर और संत कवियों की निर्गुण भक्ति-परंपराएँ।

इस तरह *'रामराज्य'* वेंडी डॉनिगर के शब्दों में, *''अवधारणा की बजाए दरअसल एक समस्या''* है। रामराज्य की व्याख्या से जुड़ी हुई बहस एक अन्तर्विरोध में बद्धमूल है और यह अन्तर्विरोध स्वयं *'रामचरितमानस'* में अर्न्तव्याप्त है। इसको चाहे तो हम राम के व्यक्तित्व और वर्णाश्रमधर्म का अन्तर्विरोध कह सकते हैं चाहे *'मानस'* के *'पाठ'* (Text) और उसकी आत्मा का। इस अन्तर्विरोध की एक झलक हमें डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी की व्याख्या में भी मिलती है- *''तुलसीदास के दर्शन और चिन्तन के राम ब्रह्म हैं, लेकिन उनकी कविता के राम लोकनायक हैं।''* डॉ. त्रिपाठी आगे यह भी लिखते हैं कि *''तुलसी दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से रहित रामराज्य का स्वप्न निर्मित करते हैं। यह उनकी कविता की नैतिकता अतः प्रगतिशीलता है। तुलसी अपने देश और काल की सीमाओं में लोकवादी कवि हैं। उनकी लोकवादिता खंडित होती है वर्ण-व्यवस्था के प्रति दुराग्रह के कारण।''* दुराग्रह का कारण बताते हुए डॉ. त्रिपाठी ने बहुत सही टिप्पणी की है कि *''लोक और वेद दोनों में तालमेल बिठाने के चक्कर में तुलसी इस (वर्ण व्यवस्था की) विडम्बना को ठीक-ठीक नहीं पहचान सके।''*

ग़ौरतलब है कि कबीर, तुलसी के पूर्ववर्ती कवि थे। इसलिए यह कहना अब बहुत ठीक नहीं जान पड़ता कि तुलसी को वर्णाश्रमधर्म का विरोध करने से *'देश और काल की सीमाएँ'* रोक रही थीं। इसका एक प्रमाण यह भी है कि काशी के पंडितों द्वारा प्रताड़ित किये जाने पर 'कवितावली' में वे वर्ण-व्यवस्था के प्रति *'कबीरदास जैसा आक्रोशपूर्ण विरोध'* दर्ज करते हैं। ज़ाहिर है कि वर्ग और वर्ण की सीमाओं ने तुलसी के लोकवाद को खंडित किया है, उसे एकांगी बनाया है। खुद विश्वनाथ त्रिपाठी ने तुलसी के जीवन और व्यक्तित्व के इस अन्तर्विरोध की शिनाख़्त की है और वर्ग तथा वर्ण की उनकी सीमाओं को स्वीकार किया है- *''तुलसी को गरीबी, अकाल, महामारी, बाहु-पीड़ा ने ही पीड़ित नहीं किया था, काशी के कट्टर पंडितों और वर्णाश्रम-व्यवस्था ने भी पीड़ित किया था। किन्तु वे इस पीड़न को कलियुग का दुष्प्रभाव नहीं कहते, उल्टे उस व्यवस्था का समर्थन करते हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध करने के लिए उन्हें कबीरदास की भाँति जुलाहे के घर में पैदा होना पड़ता।''*

अगर्चे इस मामले में विश्वनाथ त्रिपाठी ने जिस आधार पर तुलसी का पक्ष-समर्थन किया है, वह बहुत अजीब है। वे लिखते हैं- *''...लेकिन वे किसी शूद्र*

की निन्दा इस आधार पर नहीं करते कि वह शूद्र है, बल्कि इसलिए कि उसने अपना कर्म छोड़ रखा है। अपना कर्म छोड़ने वाला समान रूप से निन्दनीय है, चाहे वह शूद्र हो, चाहे ब्राह्मण।'' दरअसल तुलसी की यह मान्यता *'गीता'* के इस श्लोक से निःसृत होती है-

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। (अध्याय 3/35)

(अपने नियत कर्मों को दोषपूर्ण ढंग से सम्पन्न करना भी अन्य के कर्मों को भली-भाँति करने से श्रेयस्कर है। स्वीय कर्मों को करते हुए मरना पराये कर्मों में प्रवृत्त होने की अपेक्षा श्रेष्ठतर है, क्योंकि अन्य किसी के मार्ग का अनुसरण भयावह होता है।) *'गीता'* के एक टीकाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है- *''चाहे भौतिक कर्म हों या आध्यात्मिक कर्म, मनुष्य को मृत्युपर्यन्त अपने नियत कर्मों में दृढ़ रहना चाहिए।''* अफ़सोस की बात है कि ब्राह्मण को ब्राह्मण और शूद्र को शूद्र बनाये रखने की इस साज़िश को डॉ. त्रिपाठी अनदेखा करते हैं।

विश्वनाथ त्रिपाठी ने यह बात अच्छी लिखी है कि *''तुलसी का रामराज्य, उनके कलियुग के पेट में- से निकलता है। ... कलियुग और रामराज्य तुलसी के कृतित्व के संरचनात्मक घटक हैं। एक-दूसरे के विरोधी किन्तु साथ-साथ सर्वत्र विद्यमान!''* तुलसीदास के कलियुग-वर्णन को ध्यान से देखें तो उसमें वैदिकपौराणिक व्यवस्था के ध्वस्त हो जाने और वर्णाश्रमधर्म के विशृंखल हो जाने को लेकर काफ़ी विलाप किया गया है। ब्राह्मणों ने ज्ञान, साधना, सदाचार के अनुशासनों से विरत होकर अपना प्रभुत्व गँवा दिया है और उन्हें शूद्रों से चुनौती, अवहेलना और कभी-कभार तिरस्कार का सामना करना पड़ता है; इस सम्बन्ध में तुलसी को बहुत क्षोभ है। विपन्न तो सभी हो गये हैं, चाहे उनकी जाति कोई भी हो- *''सब जाति कुजाति भए मँगता।''* तुलसी के मनोराज्य में विषमता वर्ण-व्यवस्था में नहीं, बल्कि उसके टूट-फूट जाने में है। *'राम का प्रताप'* ऐसा है कि प्रभु-वर्ग बैरी ही नहीं लगता और विषमता का एहसास जाता रहता है- *''बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।''*

वर्णाश्रम की सामाजिक विचारधारा के कारण तुलसी का रामराज्य, उन्हीं के शब्दों में कहें तो ऐसा हो गया है, जैसे ज़हर से भरा सोने का घड़ा हो- *''विष रस भरा कनक घटु जैसे''!* उसे न निगलते बनता है न उगलते। यही वजह है कि एक ओर विश्वनाथ त्रिपाठी को संशय है कि *''कवि का स्वप्न (रामराज्य) समाज का स्वप्न बन सकता है या नहीं?''*, दूसरी ओर वे तस्दीक़ करते हैं कि *''आज हम जानते हैं कि भय, शोक और रोग से छुटकारा पाने का उपाय वर्णाश्रम-व्यवस्था के*

भीतर नहीं है। आज वर्णाश्रम-व्यवस्था सबको सुखी बनाने का नहीं, बल्कि दुखी बनाने का कारण है।''

'रामराज्य' के वर्णन में तुलसी लिखते हैं- *'त्रेताँ भइ कृतजुग कै करनी'*- यानी त्रेता में सत्ययुग लौट आया! इस आधार पर फ़िलिप ल्युट्गेन्डॉर्फ़ ने यह महत्वपूर्ण सवाल उठाया है कि यह पुनरुत्थान का स्वप्न ही तो नहीं? क्या यह खोये हुए वैदिक युग के लिए समकालीन हिन्दू विमर्श में निहित नॉस्टेल्जिया को ध्वनित नहीं करता? इस तरह *''रामराज्य का वर्णन उस युग की पुनर्प्रतिष्ठा का प्रस्ताव भी लग सकता है।''* लेकिन फ़िलिप ने ध्यान दिलाया है कि तुलसी को कहीं-न-कहीं एहसास था कि अतीत की वापसी मुमकिन नहीं है। कलियुग में धर्मसेतु पूरी तरह नष्ट हो चुका है, उसे पुनर्निर्मित नहीं किया जा सकता- *''भये बरन संकर कलि भिन्नसेतु सब लोग।''* श्रुतिसेतुपालक राम अब कहाँ? कलियुग में उनके नाम का ही सहारा है। निर्गुण और सगुण दोनों ही अगम हैं, पर नाम से सुगम हो जाते हैं। नाम निर्गुण ब्रह्म और सगुण राम, दोनों से बड़ा है- *''उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें।''* तुलसीदास कलियुग की समस्त व्याधियों का समाधान राम के नाम में देखते हैं। सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में जो गति पूजा, यज्ञ और योग से हासिल हो पाती है, कलियुग में वह केवल भगवान् के नाम से मिल जाती है- *''कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग। जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग।।''* *'मानस'* में नाम की इस महिमा को देखते हुए कुछ लोगों को तुलसीदास अपनी आध्यात्मिक संवेदना में निर्गुण भक्त कवियों के निकट महसूस होते हैं। लेकिन यह अगर है भी, तो कुल प्रभाव या रौशनी में *'मानस'* का एक गौण अन्तर्विरोध ही है।

फ़िलिप ल्युट्गेन्डॉर्फ़ ने एक महत्वपूर्ण संकेत किया है कि तुलसीदास के लेखन में ब्राह्मणवादी और इस्लामी विश्वदृष्टियों की सांस्कृतिक मुठभेड़ के सबूत प्रायः नहीं मिलते हैं। *'कलियुग वर्णन'* में उनसे यह उम्मीद की जा सकती थी, लेकिन *'मानस'* में प्रत्यक्ष राजनीतिक आशयों की आश्चर्यजनक अनुपस्थिति है। अयोध्याकाण्ड के एक दोहे में ज़रूर कहा गया है कि *'राम'* कहने से *'जड़ यवन'* भी *'परम पवित्र'* और *'भुवन विख्यात'* हो जाते हैं। इसी तरह डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने *'दोहावली'* के इस दोहे की ओर ध्यान आकृष्ट किया है-

गोंड गवाँर नृपाल महि जमन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल।।

यानी कलियुग में क्षत्रिय नहीं, गोंड और गवाँर राजा हैं और यवन महामहिपाल है। ये भी न्यायप्रिय नहीं हैं, अपितु अत्याचारी हैं। तुलसी उनसे समान रूप से क्षुब्ध

हैं। डॉ. त्रिपाठी ने लिखा है कि तुलसी *"इस्लाम के विरोध में हिन्दुत्व की रक्षा की साम्प्रदायिक चिन्ता"* से ग्रस्त नहीं थे- *"तुलसी दरबार में इसलिए नहीं गये, क्योंकि वे अपरिग्रही भक्त थे। उस काल में मुग़ल सम्राट का दरबार एक ही था, लेकिन हिन्दू राज-दरबार कई थे। ....कबीर, सूर, तुलसी और सैकड़ों अन्य भक्त कवियों ने तत्कालीन किसी सम्राट् या हिन्दू-मुस्लिम सामन्त का आश्रय स्वीकार नहीं किया।"*

राम को वैदिक आचार-विचार का पालक दिखाये जाने के कारण एक अन्तर्विरोध *'मर्यादा पुरुषोतम'* की अवधारणा में भी पैदा होता है। शायद ग्राम्शी ने कहा है कि शासक के संदर्भ में जो मर्यादा होती है, शासित वर्गों के लिए वही अत्याचार में बदल जाती है। इसके बावजूद यह भी सच है कि लोक-प्रचलित विश्वासों के विपरीत तुलसी के राम न तो शम्बूक-वध करते हैं, न सीता को वनवास देते हैं। आचार्य शुक्ल के एक कथन से उधार लेकर कहा जा सकता है कि राम यह सब करते, तो हमारे किसी काम के न होते!

फ़िलिप ल्युट्गेन्डॉर्फ़ ने इस विस्मयकारी तथ्य को रेखांकित किया है कि *'वाल्मीकि रामायण'* के लगभग चौबीस हज़ार श्लोकों में दस से भी कम श्लोक रामराज्य से सम्बन्धित हैं। इसी तरह *'अध्यात्म रामायण'* में महज़ चार अनुच्छेद और 'मानस' की भी तक़रीबन तेरह हज़ार पंक्तियों में सिर्फ़ छत्तीस पंक्तियाँ! इसका अभिप्राय क्या है? वस्तुतः रामराज्य राम के व्यक्तित्व, उनके श्रेष्ठ संकल्पों और उदात्त गतिविधियों को प्रतिबिम्बित करता हुआ समूचे महाकाव्य में प्रकाशित होता है। अयोध्या वहाँ है, जहाँ राम हैं- *"अवध तहाँ जहँ राम निवासू।"* वनवासी राम अन्याय सहते हुए नायक के रूप में हमारी संवेदना को विचलित करते हैं और विरोधों के बीच अपने पुरुषार्थ से प्रभावित करते हैं। राम एक आध्यात्मिक राजा हैं, भगवान् विष्णु के क्षत्रिय अवतार, लेकिन ब्राह्मण से भी अधिक सम्मानित और 'दीनबन्धु' के रूप में अवर्णों को अपना मित्र बनाने वाले। कुछ-कुछ ईसा मसीह से मिलती उनकी छवि है, यानी विकट संघर्ष में पड़े हुए ईश्वर की!

इसे हम सगुण भक्ति में निहित रामराज्य की वर्णाश्रम-धर्ममूलक सामाजिक विचारधारा और राम के उदात्त व्यक्तित्व का अन्तर्विरोध कहें या *'रामचरितमानस'* की बहुअर्थगामिता; मधु किश्वर शायद इसीलिए कहती हैं कि यह रामायण का अज्ञान है, उसके प्रति निष्ठा नहीं, जो युवा पीढ़ी को दक्षिणपंथियों का साथ देने को प्रेरित करता है। किश्वर लिखती हैं कि *"भाजपा-राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ-विश्व हिन्दू परिषद् के गठजोड़ ने प्रतिशोध की राजनीति के ज़रिए"* राजसत्ता पर क़ब्ज़ा करने के लिए रामायण के लोक-प्रचलित प्रसंगों और अभिप्रायों को दुर्भावनापूर्ण ढंग से अपनाया है। राम तो भारतीय जनचेतना में सत्य, प्रेम, करुणा, त्याग और कर्तव्यनिष्ठा के प्रतीक हैं। इसलिए मधु किश्वर की टिप्पणी है कि *"उनका (संघ*

परिवारियों का) धर्म हिन्दू राष्ट्रवाद है, हिन्दू धर्म नहीं। वे राम से नहीं, हिटलर से प्रेरित हैं।''

फ़िलिप ल्युट्गेन्डॉर्फ़ ने 'रामराज्य' पर अपने निबन्ध का समापन करते हुए लिखा है कि *''यह कलियुग की ही विडम्बना कही जायेगी कि एक दक्षिणपंथी हत्यारे की गोली लगने पर महात्मा गाँधी ने जिस नाम का उच्चारण किया था; उसे अन्याय, घृणा और हत्या का औचित्य सिद्ध करने के लिए निरंतर इस्तेमाल किया जाय!''*

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Email- cidrpankaj@gmail.com
Mob. No.- 9425614005

भक्ति साहित्य का समाज दर्शन

डॉ. राजेन्द्र यादव

भक्ति साहित्य की सभी भक्ति धाराओं का लक्ष्य और हेतु समय की सभी संज्ञाओं में समाज ही रहा है। भक्ति साहित्य के माध्यम से भारतीय उपमहाद्वीप में पहला सामाजिक आंदोलन सामने आया, हिन्दी साहित्य के काल विभाजन में भक्तिकालीन साहित्य में विन्यस्त भक्ति की विभिन्न धाराओं का साहित्य असल में एक सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आंदोलन था। भक्ति के जिस आंदोलन को लक्ष्य कर हम चिंतन कर रहे हैं, वह आंदोलन उत्तर भारत में उत्पन्न नहीं हुआ था। भक्ति आंदोलन का प्रारम्भ दक्षिण भारत से हुआ, आलवार संतों, नामदेव, ज्ञानदेव, रमण महर्षि, रामानुजाचार्य के द्वारा दक्षिण भारत से भक्ति आंदोलन की प्रामाणिक शुरूआत हुई। यहाँ प्रश्न यह है कि दक्षिण भारत में भक्ति का प्रारम्भ क्यों हुआ? भारतीय उपमहाद्वीप में दक्षिण की राजनैतिक अस्थिरता, स्थानीय पड़ोसी राज्यों के आये दिन युद्ध संघर्ष तथा जातिगत भेद-भाव, अस्पृश्यता में समाज नष्ट होने की कगार पर आ गया था। उसी पर विदेशी आक्रमणों से दक्षिण भी अछूता नहीं रहा। अतः गहरे स्तर पर समाज में व्याप्त ऊँच-नीच, गरीबी, धार्मिक अंधविश्वास आदि में डूबे समाज को दक्षिण भारत में सामाजिक समानता की स्थापना करने, सभी प्रकार के भेदभाव ऊँच-नीच को समाप्त कर समाज में मानवीय प्रेम, दया, करूणा की पुर्नप्रतिष्ठा आलवार संतों, नामदेव, ज्ञानदेव, रामानुजाचार्य आदि संतों ने अपनी वाणी से की। इस तरह दक्षिण भारत में पहली बार समाज सुधार, सामाजिक समानता, आपसी प्रेम की मानवीयता को स्थापित करने जो आंदोलन चला उसे हम उत्तर भारत के हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन विभिन्न धाराओं की पृष्ठभूमि कह सकते हैं। पृष्ठभूमि इस अर्थ में कि उत्तर भारत में भक्ति की शुरूआत 'कबीर' से प्रारम्भ हुई थी और 'कबीर' के गुरू रामानंद थे जो कि दक्षिण भारत से अपने गुरू रामानुजाचार्य के निर्देश पर भक्ति आंदोलन का सामाजिक विचार लेकर उत्तर भारत आए थे, जिसे 'कबीर' ने ग्रहण कर उत्तर भारत में भक्ति का सामाजिक आंदोलन बना दिया।

उत्तर भारत में भक्तिकाल को खासकर हिन्दी आलोचना के इतिहास में भक्तिकालीन साहित्य धाराओं को भक्ति आंदोलन की संज्ञा तो दी गई पर भक्तिकालीन साहित्य की विभिन्न धाराओं को सामाजिक आंदोलन न मानकर ईश्वर प्राप्ति के मार्गों के रूप में घोषित किया गया। किसी ने इसे हिन्दी साहित्य का स्वर्णकाल कहकर किनारे लगा दिया तो किसी ने इसे अवधि भाषा, ब्रजभाषा के साहित्य की संज्ञा देकर इसे क्षेत्रीय बनाने तक की कोशिश की। हिन्दी साहित्य का भक्तिकालीन साहित्य एक पुख्ता और प्रामाणिक जन आंदोलन था, जिसका प्रारम्भ उत्तर भारत में अस्पृश्यता, जातिगत, भेद-भाव, ऊँच-नीच की भावना को समाप्त करने के लिए हुआ था। भक्तिकाल के पूर्व भी उत्तर भारत में सिद्धों और नाथों की परम्परा थी जिसे उत्तर भारत के समाज में व्याप्त ऊँच-नीच, जातिगत भेद-भाव के विरूद्ध कबीर ने अपनी वाणी में प्रयोग किया। अर्थात् जिस उत्तर भारत में रामानंद जी सामाजिक भक्ति आंदोलन की मशाल लेकर आये, उसके लिए उत्तर भारत में सिद्धों, नाथों की वाणी ने उत्तर भारतीय समाज में उर्वर जमीन तैयार कर दी थी। रामानंद के सामाजिक आंदोलन के लक्ष्य को 'कबीर' ने आत्मसात कर पहली बार उत्तर भारत में पहले सामाजिक आंदोलन की नींव रखी। उत्तर भारत में गरीब और निम्न समझी जाने वाली जातियों से संबंध रखने वाले 'कनफटे' चमत्कारिक सिद्ध और नाथ बृहत् समाज पर अपना प्रभाव छोड़ने में असमर्थ रहे, पर 'कबीर' ने उत्तर भारतीय समाज में व्याप्त अशिक्षा, भेद-भाव, जातिगत, धर्मगत आदि-स्तर के भेद-भाव को ध्वस्त करने की आवाज सीधे शब्दों में बुलंद की लिहाजा परिणाम यह हुआ कि कबीर की समाजसुधार वाणी ने उत्तर भारत के समाज को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। 'कबीर' की भाषा, कहने के ढंग और 'कबीर' के सामाजिक लक्ष्य से पूरा उत्तर भारतीय समाज, हिन्दू-मुसलमान सब सहमत थे, 'कबीर' की वाणी में व्याप्त सामाजिक आंदोलन के लक्ष्य को उनके सामाजिक सरोकार, ऊँच-नीच, अस्पृश्यता, जातिगत, धार्मिक भेद-भाव को समाप्त करने तथा सामाजिक धार्मिक, जातिगत समानता को उत्तर भारत में स्थापित करने का आह्वान करने वाली साखियों, सबद में देखी जा सकती है। आलवर संतों और सिद्धों-नाथों की तरह 'कबीर' भी 'जुलाहा' जाति के थे, 'कबीर' की जीवनी के विषय में अनेक बातें प्रचलित हैं कि वे किसी विधवा ब्राह्मणी से जन्में एक अवैध संतान थे जिसे उसने जन्म के बाद बाहर कूड़े के ढेर में फेंक दिया था और बाद में यह संतान, निःसंतान नीरू जुलाहे को मिली जिसे उसने अपनी संतान की तरह पाला। तमाम मतों के प्रचलन के बाद भी यह स्पष्ट है कि 'कबीर' जुलाहा जाति के थे जोकि एक निम्न समझी जाने वाली जाति मानी जाती थी। अतः 'कबीर' को उत्तर भारत में व्याप्त ऊँच-नीच, भेद-भाव जो कि जाति, धर्म, सम्प्रदाय के रूप में समाज के भीतर तथा

व्यवहारिक रूप में गहरे स्तर पर पेठ चुका था। कबीर ने सभी तरह का भेद-भाव स्वयं अनुभव किया था। कबीर अपनी वाणी के द्वारा सामाजिक आंदोलन के माध्यम से उत्तर भारत के धर्म, जाति, सम्प्रदाय में विभक्त समाज में समानता की स्थापना करना चाहते थे। इसी अर्थ में 'कबीर' ने सच्चे जननायक की वाणी में समाज को कड़ी फटकार लगाई। 'कबीर' ने समाज में व्याप्त विषमताओं को परत-दर-परत उखाड़कर सच्चाई को समाज के सामने रखा और समाज ने 'कबीर' की आलोचना का, उनकी वाणी का स्वागत किया। कबीर की मध्यकालीन भारतीय समाज ने हत्या नहीं की, उनकी वाणी का सम्मान किया। कहते हैं कि भारतीय समाज में मध्यकाल में धार्मिक, जातिगत, कट्टरता इतनी गहरी और अटूट थी कि इसमें किसी बदलाव की गुंजाइश ही नहीं थी। मुस्लिम साम्राज्य का युग था, हिन्दुओं में ऊँच-नीच, जातिगत भेद-भाव सर्वव्याप्त था, वर्ण व्यवस्था अपने घृणित रूप में समाज के भीतर स्थाई हो चुकी थी। मध्यकालीन मुस्लिम सत्ता तथा हिन्दुओं की वर्ण व्यवस्था के विरूद्ध बोलने पर भी कबीर को किसी ने चुनौती नहीं दी। मध्यकालीन समाज के सभी वर्गों ने 'कबीर' के सामाजिक आंदोलन और धर्म-दर्शन और लक्ष्य का सम्मान किया। कबीर भारतीय समाज में जन्मे एक ऐसे क्रांतिकारी संत हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण भारतीय समाज में समानता की स्थापना करने की कारगर कोशिश की।

कबीर ने भारतीय समाज के उत्थान के लिए निरगुनियाँ मार्ग बताया था, क्या इसी कारण भारतीय समाज और लोक में कबीर जीवित हैं? या कबीर बुद्ध के बाद सबसे बड़े समाज सुधारक, समाज दृष्टा के रूप में। 'कबीर' के नाम पर कबीर पंथ भी है, कबीर को जातिगत तौर पर अपना मानने वाला एक जातिय वर्ग भी है, पर मैं जानना चाहता हूँ कि सात सौ वर्ष बाद भारतीय समाज में 'कबीर' कबीर पंथ के अनुयाइयों के कारण चर्चा में है, या समाज सुधारक, के रूप में या विषमता से चरमरा रहे भारतीय समाज में समानता की आधारशिला रखने वाले जन आंदोलनकारी स्कॉलर के रूप में?

कबीर की मध्यकालीन समानता की सामाजिक फटकार को स्वतंत्र भारत के संविधान ने पहली और प्रामाणिक मान्यता दी। कबीर के निरगुनियाँ अध्यात्मिक मत को भी भारत के संविधान ने सेक्यूलर के रूप में मान्य किया। 'कबीर' के मध्य कालीन सामाजिक आंदोलन का नया और परिष्कृत रूप भारतीय पुर्नजागरण आंदोलन में दिखाई दिया। राजाराम मोहनराय, रानाडे, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, स्वामी दयानंद सरस्वती, एनीबेसेंट, भारतेन्दु हरश्चिन्द्र और उनके मंडल के साहित्यकार, लेखक, संपादक आदि के साथ तिलक, महात्मा गांधी, भीमराव अम्बेडकर, गणेश शंकर विद्यार्थी, मुंशी प्रेमचंद, माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', महादेवी वर्मा, वृन्दावन लाल वर्मा

आदि ने भारतीय पुनर्जागरण साहित्य लेखन, समाज-सुधार, समानता, एकता की स्थापना के प्रयास किये। जिस समाज सुधार की मांग और जरूरत पर महात्मा गांधी और उनके समकालीन राष्ट्रीय आंदोलन में शरीक प्रमुख व्यक्तियों ने जोर दिया था। कबीर ने सैकड़ों वर्ष पहले ही इस पुर्नजागरण की व्यावहारिक मांग की थी। भारत को अंग्रेजों से आजादी जिस राष्ट्रीय सामाजिक एकता के कारण संभव हुई, इसकी शुरूआत मध्यकाल में कबीर से हुई थी। आज कबीर को उनके साहित्य को भारतीय समाज के एक जरूरी सामाजिक आंदोलन के रूप में देखा जाना चाहिए। कबीर को हिन्दी आलोचना, अपने आरंभ से ही मध्यकालीन भक्त कवि, निरगुनियाँ पंथ के प्रमुख कवि बनाने में लगी रही है। पर अब इक्कीसवीं सदी में हमें कबीर को उनके सबसे बड़े लक्ष्य सामाजिक बराबरी को ध्यान में रखकर देखना होगा और किसी भी कवि लेखक का सबसे बड़ा लक्ष्य समाज ही होता है, ईश्वर नहीं, इस अर्थ में हमें कबीर को निर्गुण संत की बनी बनायी परिपाटी से भिन्न उनके सामाजिक लक्ष्य के आधार पर अपनी दृष्टि बनानी होगी। 'कबीर' अपने पूरे रचनात्मक केनवास में निर्गुण भक्ति धारा के सबसे लोकप्रिय कवि हैं। लोकप्रिय इस अर्थ में कि सैकड़ों वर्ष बाद उत्तर भारत के अशिक्षित समाज ने, गांव में पीढ़ी-दर-पीढ़ी कबीर को उनके निरगुनियाँ भक्ति मार्ग को तथा उसी भक्ति की साखियों में आए जीवन दर्शन को सहेजकर रखा है। ''भारत में 'कबीर' किताब से कम लोक से अधिक जीवित हैं।'' 'कबीर' के सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक निष्कर्ष कोई अब तक झुठला नहीं पाया है, कबीर मंदिर, मस्जिद, मूर्तिवाद आदि ईश्वर के नाम पर मध्यकालीन समाज में फैले आडम्बर के विरूद्ध थे। 'कबीर' भारतीय समाज को मध्यकाल में ही ऐसी बौद्धिक आध्यात्मिक ऊँचाई पर ले जाना चाहते थे जिससे सभी प्रकार के भेद-भावों के नाम पर जादू-टोने, बाहाचार, चमत्कार, आडम्बर में जो समाज भटक गया था। वे उसे सभी प्रकार के चमत्कारों से बाहर निकालना चाहते थे तथा धर्म के नाम पर लगातार जो समाज की लूट हो रही थी, ऐसी स्थिति में कबीर ने ध्यान, धारणा, समाधि, योग के माध्यम से सर्वव्याप्त ईश्वर को अनुभूत करने का मार्ग बतलाया।

ध्यान रहे कबीर अपने जीते जी तथा उसके बाद 'कबीर' की भक्ति धारा को मानने वाले लोग भी 'कबीर' के नाम पर कोई बड़ा धर्म सम्प्रदाय नहीं बना पाये। 'कबीर' का पंथ आज भी है पर अलग से उसकी स्वतंत्र धार्मिक मान्यता समाज में स्थापित नहीं है, 'कबीर' के भारत में अनेक मठ हैं पर उत्तर भारत में 'कबीर' के वैसे मंदिर नहीं हैं जैसे अवतारों के। कारण कबीर के निर्गुण राम का कोई रूप रंग आकार है ही नहीं फिर मंदिर कैसे संभव होता। कबीर मध्यकाल में निरगुनियाँ थे और आज इक्कीसवी सदी के दूसरे दशक में भी समाज के बाह्य

वातावरण में लगभग 'अनुपस्थित निरगुनियाँ' ही हैं, पर इक्कीसवीं सदी के भारतीय समाज में कबीर मध्यकालीन सभी संत कवियों से ज्यादा लोकतांत्रिक और लोक तथा सभ्य समाज दोनों में गहरे स्तर पर प्रासंगिक हैं।

मध्यकालीन रूढ़ीवादी समाज में अवतारवाद से ग्रस्त भारतीय हिन्दू समाज के सम्मुख निर्गुण को स्थापित करना, सभी प्रकार के भेद-भावों और ऊँच-नीच का विरोध करके कबीर मध्यकाल से लेकर इक्कीसवीं सदी तक समाज में वैसे प्रिय नहीं रहे जैसे सूर और तुलसी पर पश्चिमी संस्कृति के सम्पूर्ण विश्व पर विस्तार के बाद शिक्षा के बढ़ते स्तर के प्रभाव से सदियों बाद अब 'कबीर' की बात से भारतीय अवतारवादी समाज का प्रबुद्ध वर्ग सहमत हो रहा है और तमाम मध्यकालीन महाकवियों के साहित्य पर सवाल भी उठा रहा है। मध्यकालीन अन्य भक्त कवियों का सीधा लक्ष्य समाज नहीं रहा है। निर्गुण भक्ति के समकालीन ही भारत में प्रमुख रूप से उत्तर भारत में 'सूफी' भक्ति आंदोलन ने भी भारतीय समाज को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। सूफियों में सूफी हिन्दी साहित्य में प्रेम को आधार बनाकर साहित्य रचनाएँ लिखी। सूफियों के साहित्य में इस्लाम की प्रगतिवादी सोच स्पष्ट दिखाई देती है। इस्लाम में संगीत, नृत्य को गैर-इस्लामिक कुफ्र माना जाता था, जबकि सूफी भक्ति का प्रारंभ ही संगीत और नृत्य से होता है। इस दृष्टि से सूफी हिन्दी साहित्य ने हिन्दू-मुस्लिम एकता की बेहतरीन बुनियाद रखी। सूफी साहित्य का अभीष्ट प्रेम है। सूफियों ने आध्यात्मिक प्रेम के लिए भारतीय समाज में पहले से प्रचलित लौकिक प्रेम कथाओं को अपने साहित्य का विषय बनाकर लौकिक प्रेम की व्यंजना के माध्यम से अलौकिक प्रेम को अभिव्यक्त किया। मलिक मुहम्मद जायसी, मुल्ला दाऊद, कुतुबन, मंझन, उसमान आदि ने लोक में प्रचलित प्रेम गाथाओं को अपने साहित्य का आधार बनाया। भारतीय समाज में प्रेम के आधार पर सूफी मत की स्थापना की। भेद-भावों से परे सूफीमत भारतीय समाज में बहुत लोकप्रिय हुआ। यह मत भारतीय समाज में गहरे स्तर पर आज भी अपनी प्रतिष्ठा बनाये हुए है। सूफी साहित्य दर्शन ने मध्यकालीन भारतीय समाज में व्याप्त जातिगत भेद-भाव, धार्मिक, साम्प्रदायिक भेद-भाव तथा इस्लाम की कट्टरता रोजा-नमाज के साथ इस्लामिक सत्ता की खुली खिलाफत की। जिसका खामियाजा भी 'सरमद' जैसे सूफियों को अपने प्राण देकर चुकाना पड़ा। सूफियों का 'इश्क़-हक़ीक़ी' कबीर में भी है।

निर्गुण और सूफी मत के सामाजिक आध्यात्मिक मानवतावाद और जीवन दर्शन से भारतीय समाज का एक बड़ा वर्ग प्रभावित हुआ। उत्तर भारत में कबीर के निर्गुण संतकाव्य का समाज पर गहरा प्रभाव हुआ। सूफी मत भी उत्तर भारत के सामाजिक भेद-भावों से भरे समाज में प्रेम की, मानवतावाद की, समानता की

ताजगी लेकर आया और समाज में गहरे स्तर पर सूफीमत को स्वीकृति मिली। संत साहित्य और सूफी साहित्य दोनों समाज सापेक्ष भक्ति धाराओं की व्यापक स्वीकारोक्ति के पश्चात भी उत्तर भारत में समाज का एक बड़ा हिस्सा मध्यकाल में संस्कृत साहित्य के पुराणवाद से गहरे प्रभावित था। श्रीमद्भागवत् पुराण की कथा को आधार बनाकर महाकवि सूरदास ने अपने सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ सूरसागर की रचना की। शास्त्रीय संगीत के रागों आदि से परिपूर्ण देशभाषा में सूरसागर की रचना को व्यापक लोकप्रियता मिली। महर्षि वेदव्यास कृत श्रीमद्भागवत पुराण के दशवें अध्याय को आधार बनाकर सूरदास से अपने पूर्व-प्रतिष्ठित निर्गुण संत कबीर की खुली आलोचना की और सगुण भक्ति को समाज के लिए श्रेष्ठ घोषित किया। सूरदास के सगुण ईश्वर श्रीकृष्ण थे और स्थानीय भी थे, उनका रूप, रंग, आकार एवं गुण सब था और पुराणों के अवतारवाद में वे विष्णु के अवतार थे। पुराणों की व्यापकता को देश भाषा में अवतारवाद से नया ईष्वर उतारने तथा शास्त्रीय संगीत से परिपूर्ण 'सूरसागर' की गेयता ने शीघ्र ही सूरदास को स्थापित कर दिया।

मध्यकालीन जीवन दर्शन में प्रेम की लीलाओं के आधार मधुराभक्ति के, बाललीला, भ्रमरगीत आदि के कारण सूरदास उत्तर भारत के लोक के हृदय में लोकप्रिय और स्थापित हो गये। वल्लभाचार्य के अष्टछाप में सूरदास सर्वाधिक लोकप्रियता को प्राप्त हुए। सूरदास की सगुण भक्ति को श्रीकृष्ण का रूपरंग मिला तो संपूर्ण उत्तर भारत कृष्णमय हो गया। मध्यकालीन भारतीय समाज को राजनैतिक सामाजिक सम्मान की पुर्नप्राप्ति के लिए सूरदास की सगुण भक्ति के जीवन दर्शन ने भारतीय समाज में स्वीकृति पाई।

सगुण का तात्पर्य है दृश्य, भक्ति के सभी मार्गों में वास्तविक रूप से ईश्वर अनुपस्थित ही रहा है, इसीलिए सगुण भक्ति के तमाम् अवतारवादी प्रतीकों के माध्यम से भक्ति साहित्य का अंतिम लक्ष्य अपने समय के मनुष्य की प्रवृत्तियों में बदलाव करना, उसे बेहतर मनुष्य बनाने की कोशिश करना। निर्गुण भक्ति भी इस अर्थ में सगुण है और अपने रूप गुण विधान से भरी सगुण भक्ति के दोनों आयाम राम और कृष्ण संबंधी भक्ति धाराएँ अंततः निर्गुण ही हैं, क्योंकि वास्तविक ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों जगह अनुपस्थित है। इस अर्थ में भक्ति कालीन साहित्य की सभी धाराओं का प्रथम और अंतिम लक्ष्य मनुष्य ही है, इसीलिए भक्ति अपने पूर्ण स्वरूप में एक जन आंदोलन ही था। कबीर और उनके समाज सुधार से शुरू हुआ यह आंदोलन तुलसीदास के माध्यम से परिपक्व और विस्तृत हुआ। सोलहवीं सदी में भारतीय समाज की वास्तविकता से 'कबीर' और तुलसी दोनों ने किनारा नहीं किया। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल के अंतर्गत कबीर और तुलसी की भक्ति में पर्याप्त अंतर है, पर 'कबीर' के सामाजिक विचारों को तुलसीदास ने

खुली मान्यता दी। 'कबीर' की निरगुनिया भक्ति धारा का तुलसीदास ने अपने महाकाव्य 'श्रीरामचरितमाानस' में प्रामाणिक समर्थन किया। उन्होंने लिखा है- 'याते जग दारुण दुख नाना, सबते कठिन जाति अवयाना। अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।' यहाँ यह स्पष्ट है कि तुलसी कबीर की भक्ति और समाज सुधार की विचारधारा से परिचित थे, इसीलिए उन्होंने 'कबीर' के सामाजिक सरोकारों का समर्थन किया। इतना ही नहीं उन्होंने अपने महाकाव्य 'श्रीरामचरितमानस' में सूफी भक्ति धारा तथा सूरदास की कृष्णभक्ति का भी उल्लेख किया। 'मानस' में तुलसी ने 'राम' को बार-बार गरीब नेवाज की संज्ञा दी, जबकि गरीब नेवाज नाम अजमेर वाले सूफी 'संत ख्वाजा मुईनउद्दीन चिश्ती' के लिए जाना जाता है। भक्तिकाल के सामाजिक आंदोलन का एक छोर कबीर के हाथ था तो दूसरा तुलसी के। 'कबीर' का सामाजिक लक्ष्य सीधा और स्पष्ट था, जिसमें सामाजिक सुधार के साथ समकालीन समाज की स्थिति के अनुकूल कबीर ने संस्कृत पौराणिक अवतारवाद में उलझे भारतीय समाज के सम्मुख निर्गुण भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। 'कबीर' अपने समकालीन मनुष्य की स्थिति से परिचित थे, और 'कबीर' भारतीय समाज को बाह्याचारों, अंधविश्वासों, आडम्बरों, चत्मकारों तथा ईश्वर को लेकर उत्पन्न किये सभी प्रकार के विरोधाभासों भ्रमों से बाहर लाना चाहते थे। मध्यकालीन उत्तर भारतीय समाज के भ्रमित वातावरण से आहत 'कबीर' ने ईश्वर के सभी रूपों विधानों को खारिज कर 'निर्गुण' भक्ति मार्ग का प्रस्ताव रखा जो समाज के लिए कारगर सिद्ध हुआ, 'कबीर' ने अपने समकालीन प्रचलित सभी ईश्वरीय मतों विधानों का खण्डन कर निर्गुण मार्ग की प्रामाणिकता सिद्ध की। 'कबीर' के बाद 'कबीर' को खारिज करने की सूरदास ने पुरजोर कोशिश की तथा सूरदास ने श्रीमद्भागवत के दशम् स्कन्ध से कथा उठाकर निर्गुण-सगुण के द्वंद को नये रूप में अभिव्यक्त किया। सूरदास अपने सम्पूर्ण साहित्यिक अवदान में 'कबीर' को खारिज नहीं कर पाये। इस अर्थ में तुलसी ने 'कबीर' को सीधे तौर पर खारिज करने का जोखिम नहीं उठाया बल्कि उन्होंने 'कबीर' की सामाजिक जातिगत मान्यताओं का समर्थन करते हुए, अपनी प्रतिबद्धता वर्ण व्यवस्था में जाहिर की। उन्होंने कबीर को उनके सामाजिक लक्ष्य को मान्य करने की अपनी निजी भावभूमि निर्मित की। तुलसी ने हिन्दू समाज में व्याप्त वैष्णव, शैव, शाक्त आदि मतों के खूनी संघर्ष को रामभक्ति की विराट भूमि पर एकाकार करके भारतीय समाज की सबसे बड़ी चुनौती को कारगर रूप में स्थापित किया। भक्तिकाल में तुलसी अकेले है जो सगुण भक्ति में रामभक्ति के केन्द्र में होते हुए कबीर के निर्गुण मत का समर्थन और समानता को स्वीकार करते हैं। अतः यहाँ तुलसी के सामाजिक अवदान को समझा जा सकता है। विरोधी विचारधारा का सम्मान करना ही लोकतंत्र है। इस अर्थ में तुलसीदास पूरे भक्तिकाल में सबसे अधिक लोकतांत्रिक हैं।

तुलसीदास ने मध्यकाल की सामाजिक राजनैतिक स्थिति को एक बड़े अध्येयता के रूप में परखा और एक आदर्श समाज, आदर्श राजनीतिक व्यवस्था को अपने महाकाव्य 'श्रीरामचरितमानस' में प्रस्तावित किया। उन्होंने राम के विविध जीवन संदर्भों के माध्यम से एक श्रेष्ठ मनुष्य के निर्माण का मार्ग प्रस्तावित किया। परिवार, समाज और राजनीति, सत्ता, राजा, प्रजा, धर्म, ज्ञान, प्रेम, बलिदान, क्षमा, दण्ड, नीति, न्याय, आडम्बर, आदि को तुलसी ने भक्तिकालीन साहित्य परम्परा की दृष्टि से युगीन भक्ति धाराओं के लक्ष्य को निष्कर्ष रूप में व्यक्त किया। बहुपत्नीवाद से उत्पन्न पारिवारिक विघटन की स्थिति से 'राम' को वनवास जाना पड़ा और वहाँ सीता के अपहरण से उत्पन्न स्थिति से निबटने के लिए रावण से महासंग्राम करना पड़ा। राम ने अपने जीवन संघर्ष में ऋषियों, मुनियों, के अलावा वनवासी आमजन का ही सहयोग लिया किसी राजा, महाराजा का सहयोग राम ने नहीं लिया।

तुलसीदास ने मध्यकालीन भारतीय समाज, राजनीति की स्थितियों से उत्पन्न स्थिति को लक्ष्य कर अपनी राम भक्ति के दायरे में रहते हुए परिवार, समाज, राजनीति, न्याय, रक्षा, दण्ड की आदर्श व्यवस्था को प्रस्तावित किया। उन्होंने राम राज्य की स्थापना के लिए जो मानदण्ड राम के चरित्र के द्वारा स्थापित किये उन मानदण्डों पर गतिशील समाज और राजनीति की आदर्श स्थिति को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा कि- 'दैहिक दैविक भौतिक तापा, रामराज काहू नहीं व्यापा।' स्पष्ट है कि तुलसी के सामाजिक राजनैतिक यूटोपिया के अनुरूप चलने पर एक बेहतर समाज व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है। तुलसी ने मध्यकालीन सभी भक्ति धाराओं को सम्मान सहित अपने में समाहित कर समाज और राजनैतिक व्यवस्था में भी आदर्श स्थिति का खाका खींचा जिसे हम तुलसी का 'रामराज्य' कह सकते हैं। तुलसीदास ने 'कबीर' के सवालों को गंभीरता से लिया और इसी अर्थ में भक्ति की सभी धाराओं की स्वतंत्रता को स्वीकार करते हुए मध्यकालीन भारतीय समाज और राजनीति को मानवीय बनाने के लिए राम राज्य की परिकल्पना की।

इस अर्थ में हिन्दी भक्ति साहित्य की सभी धाराओं में ईश्वर की भक्ति के माध्यम से अपने समकालीन समाज की सामाजिक राजनैतिक परिस्थितियों के मद्देनजर भक्त कवियों ने अपनी-अपनी दृष्टि और क्षमता से समाजदर्शन को अभिव्यक्त किया।

वरिष्ठ सहायक प्राध्यापक,
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्यप्रदेश
Email-yadavdrrajendra@gmail.com
Mob. No.- 8120071137

संदर्भ ग्रंथ :

1. श्रीरामचरितमानस : तुलसीदास, सम्पादक गीताप्रेस गोरखपुर।
2. सूरग्रन्थावली, सूरसागर : सूरदास, सम्पादक नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
3. कबीर : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद।
4. महाकवि सूरदास : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विष्वविद्यालय, सागर, म.प्र.।
5. त्रिवेणी : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संपा, रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
6. चिंतामणि : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
7. पद्मावत : मलिक मुहम्मद जायसी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
8. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
9. हिन्दी साहित्य की भूमिका, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
10. हिन्दी सूफी भक्ति की प्रासंगिकता, डॉ. राजेन्द्र यादव, विजया बुक्स, नई दिल्ली।
11. निर्गुण और सगुण भक्ति के दो आयाम : कबीर और तुलसी, डॉ. राजेन्द्र यादव, विजया बुक्स, नई दिल्ली।
12. तुलसी काव्य मीमांसा, उदयभानु सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली।

कबीर का समन्वयवाद

आशुतोष

कबीर एक ऐसे भक्त कवि हैं जिनके साहित्य से पाठकों, रचनाकारों और आलोचकों को सर्वाधिक उम्मीद है। कबीर की कविता मनुष्य और उसके समाज के लिए एक उपलब्धि की तरह है। समय के साथ कबीर की कविता की बढ़ती जा रही प्रासंगिकता इस बात की तस्दीक करती चलती है। जब तक इस नश्वर संसार में मुक्ति की दरकार रहेगी तब तक कबीर और उनकी कविताई की प्रासंगिकता बनी रहेगी। कबीर एक ऐसे रचनाकार हैं जिनके पास हम अपने जीवन-जगत के बहुत सारे सवालों के साथ जाते हैं और एक मुकम्मल उत्तर की माँग करते हैं। कबीर हमें कभी निराश भी नहीं करते। उस पर उनकी ठसक ऐसी कि 'हमन है इश्क मस्ताना, हमें दुनिया से यारी क्या'। लेकिन दुनिया को कबीर की यारी पसन्द है। एक बेहतर कल के लिए, समतामूलक समाज की रचना के लिए, प्रत्येक प्रकार की भेद-दृष्टियों से मुक्ति के लिए।

कबीर की कविता पर कई दृष्टियों से विचार किया गया है। कबीर का काव्य असिमित संभावनाओं का काव्य है। इसलिए बार-बार उसके अध्ययन-विश्लेषण की जरुरत पड़ती रहती है। ऐसा ही एक प्रश्न है कि क्या कबीर समन्वयवादी थे? यदि कबीर समन्वयवादी थे तो उनके और तुलसी के समन्वयवाद में क्या कोई तात्विक अंतर है? यहाँ कबीर के साहित्य से इन्हीं कुछ प्रश्नों के उत्तर पाने की कोशिश की जा रही है।

समन्वय से तात्पर्य दो या उससे अधिक विभिन्न बातों के बीच एक ऐसी समानता का प्रतिपादन करना होता है, जिसके कारण उनमें पारस्परिक विरोध का अभाव सूचित होने लगे और वास्तविक एकता सिद्ध की जा सके। कबीर के धार्मिक और दार्शनिक विश्वासों, साहित्यिक और सामाजिक मान्यताओं के अध्ययन-विश्लेषण से एक प्रश्न उठता है कि क्या वे समन्वयवादी थे? इस प्रश्न का समाधान खोजने के लिए कबीर के विश्वासों और विचारों के संधि-स्थल को देखना होगा।

कबीर के आविर्भाव मे तीन मुख्य दार्शनिक और धार्मिक प्रवृत्तियों का हाथ था। प्रथमतः उन पर सिद्ध और योगधारा का प्रभाव था। दूसरे इस्लाम और सूफ़ी मत का और तीसरे तत्कालीन भक्ति सम्प्रदायों का। इन तीनों के फलस्वरुप कबीर के काव्य में एक नवीन विचार एवं भाव-धारा लक्षित की जा सकती है।

कबीर को कोई दार्शनिक शिक्षा नहीं मिली थी। उन्हें किसी धार्मिक महापुरुष की ओर से कोई सुव्यवस्थित सुझाव भी नहीं मिला था। प्रसिद्ध है कि वे निरक्षर भी थे। इस कारण उनके लिए किन्हीं मान्य ग्रन्थों का अध्ययन एवं मनन करने कुछ निश्चय करना भी कठिन था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अपने समय की परिस्थिति तथा सम्यक् निरीक्षण तथा पहचान की उनमें विशेष योग्यता थी और उससे निकाले गये निष्कर्षों को सत्संग एवं आत्मचिन्तन की कसौटी पर परखने में भी वे अत्यंत कुशल थे। फिर भी उन पर विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। वे अनेक धार्मिक और दार्शनिक विचारों को आत्मसात करते चलते हैं।

कबीर की ईश्वर की सम्बन्धी विचारों में भी बड़ी भिन्नता देखने को मिलती है। उनकी रचनाओं में निर्गुण निराकार अथवा शून्यतत्व की उपस्थिति प्रकट है। स्पष्ट है कि शून्य की यह भावना नागार्जुन के 'अनिर्वचनीयतावाद' से सिद्धों में 'महासुख' (ईश्वरत्व) के रूप मे होती हुई नाथपंथियों में आई थी। नाथपंथी योगियों का कबीर के समय में बहुत अधिक प्रभाव था। कबीर के यहाँ निर्गुण निराकार अथवा शून्यतत्व नाथपंथियों के प्रभाव से आया है। दूसरी ओर उनकी रचनाओं में एकेश्वरवाद भी अपने पूरे वैभव के साथ उपलब्ध है। कबीर का पालन-पोषण मुसलमान परिवार में हुआ था इसलिए एकेश्वरवादी इस्लाम का प्रभाव उन पर पड़ा। तीसरी और जिस विचारधारा का सबसे अधिक प्रभाव कबीर पर दिखता है वह है अद्वैतवाद। जिसके अनुसार जीव और प्रकृति की सत्ता गौण है तथा ब्रह्म सर्वव्यापक है। अद्वैतवाद का प्रभाव उनके काव्य में सर्वत्र मिलता है। इन तीन विचारधाराओं के दिग्दर्शन से यह विचार उठना स्वभाविक है कि क्या कबीर ने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन सभी दार्शनिक मतों का समाहार करके एक सहज सिद्धान्त का निरुपण किया जिससे कि आपसी मतभेद दूर हो सके? यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि इन दार्शनिक मतों के अतिरिक्त भी ईश्वर की कृपा को प्राप्त करने के अन्य उपाय उनकी रचनाओं में मिलते हैं।

ईश्वर अर्थात् परमतत्व से साक्षात्कार के लिए उन्होंने अनेक बार योग और समाधि की बातें कही हैं। ब्रह्मरन्ध्र, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि योगपरक शब्द अनेक बार उनकी साखियों और पदों में आए हैं। अनेक बार उन्होंने आकाश स्थित कुँए में पानी पीने की बात कही है। नाथपंथियों के हठयोग के प्रभावस्वरुप कबीर

में इस प्रकार के विचार मिलते हैं। कबीर की कविता में आये हुए अनेक प्रकार के योगपरक प्रतीक और उलटबासियों पर नाथपंथ का अटूट प्रभाव है। दूसरी ओर वे 'इश्क' के मार्फत भी ईश्वर से रुबरू होने की बात करते हैं। जो कि सूफ़ी मत के प्रभाव के कारण है। भक्ति को वे ईश्वर अराधना के मार्ग में सर्वाधिक महत्व देते हैं। यह तत्कालीन भक्तों जैसे रामानन्द आदि के प्रभाव के कारण है। इसी प्रकार कबीर के काव्य में उपस्थित गुरु-महिमा, सत्संग, सदाचार, रहस्यवाद आदि सबमें हमें अनेक मतों का सम्मिलित प्रभाव देखने को मिलता है।

इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में दिखाई पड़ने वाली सभी भेद-दृष्टियों का वे पूरी ताकत और तार्किकता से खंडन करते हैं। हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, शुद्र, पीर, मुल्ला, काजी आदि सभी सबसे पहले मनुष्य हैं उसके बाद कुछ और। कबीर यह बात समझ गये थे। उन्होंने अपने समय में प्रचलित जाति-भेद, वर्ण-भेद, पंथ-भेद, बाह्याडंबरों, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत, रोजा-नमाज़ सबका विरोध किया है। इन तथ्यों को अकारथ बताते हुए जीवन की सहज दैनिक-चर्या को प्रश्रय दिया है। इन सबको देखते हुए कहा जा सकता है कि कबीर सुधारक थे, समन्यववादी थे जो अपने समय और काल से बहुत आगे की बात कर रहे थे।

वास्तव में कबीर के सहज अथवा साधारण धर्म में जन्मान्तर, कर्मवाद, भाग्यवाद, योगियो के योग-वाद, जैनियों के अहिंसावाद, सहजयानियों के सहजवाद, इस्लाम का एकेश्वरवाद, रामानन्द के अद्वैतवाद, रहस्यवाद आदि अनेक वादों का एक अद्वितीय समन्वय है। किन्तु यहाँ यह देखना होगा कि कबीर की कविता पर इन सभी वादों का प्रभाव सिर्फ 'प्रभाव' के ही रूप में है। उनमें इन सबसे ऊपर उठने की अपार शक्ति भी थी। उनमें अपने अनुभव द्वारा अर्जित ज्ञान और विश्वास की सम्पदा भी विपुल मात्रा में थी। इसलिए वे सबकुछ को देख-जान कर भक्ति को ही मुख्य मानते हैं। उन पर अन्य साधना-पद्धतियों का जो प्रभाव दिखता है वह सब साधना की अवस्था मात्र है। अपने पूर्ववर्ती और समकालीन साधना-पद्धतियों, मतों के सामर्थ्य और सीमा से परिचित होने के बाद कबीर के भीतर वास्तविकता के तह तक पहुँचने की विश्वास जगा था। इस विश्वास का आधार अनुभूति थी। इसी कारण वे परमपुरुष को द्वैताद्वैत-विलक्षण, सब मतों एवं धार्मिक विश्वासों से परे अद्वितीय और सर्वशक्तिमान मानने लगे थे। यदि हम इसे ही समन्वयवाद का नाम दें तो कह सकते हैं कि उनके समन्वयवाद का आधार परमतत्व के केवल, नित्य तथा एकरस होने तथा उसपर आश्रित बहुरुपिणी सृष्टि के अस्थिर होने और उनके विविध अंगो के, उनकी मौलिक एकता के समान होने के कारण है। जिसके लिए उन्होंने कहा था कि-

"जोगी गोरख गोरख करै, हिन्दू राम नाम उच्चारै,
मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीर को स्वामी घर घर रह्यो समाई।"

अर्थात हमें भिन्न भिन्न नामों के चक्कर में न पड़ कर जो सबके मूल में स्थित एकरूप सार तत्व है, उसी को स्वीकार करना चाहिए।

उनके सामाजिक मान्यताओं का, चाहें वह हिन्दुओं की हो या मुसलमानों की, इतने प्रहारात्मक रूप में खंडन करते देखकर उन्हें समाज सुधारक मान लिया जाता है। किन्तु ऐसा मानना साधारणीकरण है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि 'समझौता उनका रास्ता नहीं था।' वस्तुतः कबीर व्यक्ति-साधना के प्रचारक थे। यह एक परम्परा भी है। समष्टिवृत्ति उनके चित्त का स्वभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। फिर भी सर्व समन्वय के लिए जिस आधार की आवश्यकता होती है वह कबीर के पदों में सर्वत्र उपलब्ध है। वह है ईश्वर के प्रति अहेतुक प्रेम और मनुष्यमात्र को निर्दिष्ट रूप में समझना। किन्तु समन्वय से समान्यतः जिस प्रकार का भाव लिया जाता है अथवा जिस दृष्टि से तुलसी को समन्वयवादी कहा जाता है, कबीर उस रूप में समन्वयवादी नहीं थे। सभी धर्मों के बाह्याचारों और आन्तर संस्कारों में कुछ न कुछ विशेष देखना और सब आचारों और संस्कारों के प्रति सम्मान की दृष्टि उत्पन्न करना (जैसा तुलसी ने किया) कबीर को पसन्द नहीं था। उन्हें अर्थहीन आचार पसंद नहीं थे- चाहे वे बड़े-से-बड़े आचार्य या पैगम्बर के द्वारा ही प्रवर्तित हों या उच्च-से-उच्च समझे जाने वाले ग्रंथ पर आधारित हों। बाह्याचारों की निरर्थक पूजा और संस्कारों की विचारहीन गुलामी कबीर को मान्य नहीं थी। वे मुक्त मनुष्यात्मा को ही प्रेम भक्ति का पात्र मानते थे। धर्मगत विशेषताओं के प्रति सहनशीलता और सम्प्रय का भाव भी उनके पदों में नहीं मिलता। वे मनुष्यमात्र को समान मर्यादा का अधिकारी मानते थे साथ ही सम्प्रदाय प्रतिष्ठा का पूरे साहस के साथ विरोध करते थे।

हिन्दू और मुसलमानों की एकता मानने वाले कबीर को अपना मार्गदर्शक मानते हैं। केशव-करीम, राम-रहीम की स्वयंसिद्ध एकता का सबसे जोरदार प्रतिपादन कबीर ने ही किया है। किन्तु कबीर ने दोनों धर्मों की ऊँची संस्कृति या दोनों धर्मों के उच्चतर भावों में सामंजस्य स्थापित करने का कोई प्रयास न कर कबीर ने सभी धर्मगत विशेषताओं की खिल्ली उड़ाई है, जिसे अनेकों धर्मनिष्ठ लोग एक श्रेष्ठ धर्माचार मान कर स्थापित करने की कोशिश करते हैं। कबीर ने धार्मिक-द्वन्द्वों के मध्य एकता का प्रतिपादन करने का दूसरा रास्ता अपनाया था। वह था अखण्ड भगवद्विलास, अहैतुक भक्ति। इसी अर्थ में कबीर हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के विधायक थे।

अतः कहा जा सकता है कि कबीर समन्वयवादी थे। किन्तु तुलसी के अर्थ में नहीं। उन्होंने सभी धार्मिक और दार्शनिक मतवादों के प्रति श्रद्धा की किन्तु दृष्टि स्थिर नहीं की। उन सभी धार्मिक और दार्शनिक मतों के तह में स्थित मूल सत्य को ही उन्होंने अपने समन्वय का मूल तत्व बनाया। मंडन करके नहीं खंडन करके उन्होंने समन्वय किया। श्रद्धा, सम्मान और समझौते के स्थान पर एकात्म सत्य की प्रतिष्ठा की। यही उनका समन्वयवाद है। जैसे कबीर अपनी प्रत्येक बात में मौलिक और विशेष हैं उसी प्रकार उनका समन्वयवाद भी मौलिक और विशेष है।

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Email- prominentashu786@gmail.com
Mob. No.- 9479398591

कबीर की प्रासंगिकता का प्रश्न

डॉ. हिमांशु कुमार

कहते हैं कि सृष्टि पल-पल परिवर्तित हुआ करती है। एक क्षण दूसरे में पर्यवसित होता रहता है। इक्कीसवीं शताब्दी से लगभग 600 साल पहले के संत कवि कबीर जो अपनी कविता में तत्कालीन स्थितियों, दबावों और चिंताओं को महसूस कर रहे थे और फिर भी सृजनरत थे- आज भी उतने ही प्रासंगिक क्यों है? कहीं ऐसा तो नहीं कि भारतीय समाज आज भी उस मध्यकालीन जड़ता से बाहर नहीं निकल पाया है, जबकि हम रोज यह दावा किये जा रहे हैं कि हम इक्कीसवीं शताब्दी के उत्तर आधुनिक समय में जी रहे हैं, जहाँ सब कुछ ठीक है और अच्छे दिन भी हैं। क्या आज का समाज फिर से उसी मध्यकाल में नहीं लौट गया है? क्या हम आज भी उस कठमुल्लेपन, पाखंडवाद, बाह्याडम्बर, मनुष्य के श्रम की अवमानना, रूढ़ियुक्त संकीर्णता, मंदिर-मस्जिद-काबा-कैलास के झगड़े, झूठ के बोलबाले, हत्या इत्यादि से मुक्त हो पाये हैं। उत्तर है नहीं। ऐसे में "मसि कागद छुयो नहीं, कलम गह्यौ नहीं हाथ" वाले कबीर याद आते हैं।

किसी भी कवि या रचनाकार की प्रासंगिकता के सूत्र उसके अपने समय के बीचो-बीच छिपे होते हैं। रचनाकार कालजयी तब बनता है जब वह अपनी रचनाओं में अपने युग-समय की प्रतिध्वनि सुनता है तथा भविष्य के समय पर भी अपनी पदचाप छोड़ जाता है। उसकी रचनाओं की प्राणवान गंध बराबर यात्रा करती रहती है तथा भविष्य के साथ और भी प्रासंगिक होती जाती है। कबीर ऐसे ही कालजयी रचनाकार हैं जो आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं।

आज जब चारों ओर एक नई तरह की सामाजिक जड़ता तथा अराजकता का दौर है। हमारा पूरा समय बाज़ारवाद के चंगुल में है। भूमण्डलीकरण की आँधी चल रही है। दुनिया वैश्वीकरण के आगोश में है। सत्ता और बाजार के गठजोड़ से समाज में एक नये समीकरण का उदय हो रहा है। मीडिया (सोशल, इलेक्ट्रानिक

और प्रिंट) की विश्वसनीयता बार-बार संदेह के घेरे में है। संकट के इस दौर में आम जन को सही रास्ता दिखाने वाला कोई नहीं है।

तब ऐसे में कबीर पर बात करना स्वाभाविक हो जाता है। क्योंकि कबीर मध्यकाल में अकेले ऐसे सन्त हैं जो बड़ी निर्भीकता से संसाधनविहीन होने पर भी सत्ता और बाजार से टक्कर ले रहे थे। नहीं तो क्या वे लिख पाते कि-

"कबिरा खड़ा बाजार में, लिये लुकाठी हाथ
जो घर जाणैं आपणां, चलै हमारे साथ।।"

मध्यकाल में साहस का ऐसा उदाहरण दूसरा नहीं है। वास्तव में कबीर मध्यकाल में नेतृत्व का नया मुहावरा रच रहे थे।

आज जब दुनिया खाने-पीने में मगन है, खा रही और सो रही है। एक मनुष्य को दूसरे की कोई चिंता नहीं है। मनुष्य के अन्दर की संवेदना खत्म होती जा रही है। मनुष्य केवल अपने स्वार्थ में लिप्त है। तब दुनिया के लिए दुखी और बेचैन कबीर की आग सबसे अलग दिखती है, जो उन्हें चैन से सोने नहीं देती और वे रोते रहते हैं-

"सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै।"

कबीर का यह रोना सामान्य रोना नहीं है। जागने के साथ चैतन्य होकर रोना, होशोहवास में रोना है, जिसमें बड़े नैतिक साहस की जरुरत पड़ती है, जो कि संत के संतत्व की शर्त है। इस अर्थ में कबीर सही मायने में संत थे। आजकल के धर्मगुरूओं और बाबाओं को देखकर जो केवल सम्पत्ति और भोग-विलास में गले तक लिप्त हैं और अपने कर्मों से संवैधानिक रूप से जेल भी जा रहे हैं। कबीर जैसे संत के महत्व को समझा जा सकता है, जिनकी दृष्टि में मनुष्यता ही सबसे बड़ा धर्म है।

आधुनिक भारत के निर्माता डॉ. अम्बेडकर मानते थे कि जातिवाद भारतीय समाज का सबसे बड़ा कोढ़ है। समय के साथ बहुत सी चीजें नष्ट हो जाती हैं पर जाति नहीं। सवर्ण-अवर्ण, अस्पृश्यता, ऊँच-नीच इत्यादि से जर्जर भारतीय समाज के विरूद्ध कबीर ने मुखर आवाज उठाते हुए मानव मुक्ति का नया रास्ता दिखाया-

"जाति-पाति पूछे नहिं कोई
हरि को भजे सो हरि का होई।"

कबीर का दिखाया यह रास्ता आज भी कितना मायने रखता है, इसको आज के भारतीय समाज की तस्वीर से समझा जा सकता है। आज का भारत जातियों

में खण्ड-खण्ड विभाजित है। दलित-पिछड़े, आदिवासी और सवर्ण के विभाजन की खाई और भी गहराती जा रही है। राजनीति, धर्म, सत्ता, संस्कृति इत्यादि का निर्माण जाति रूपी आधार स्तम्भ पर हो रहा है। आज भी एक विशेष जाति-वर्ग की श्रेष्ठता कायम रखने की कोशिश की जा रही है, जिससे अन्य जातियाँ हाशिये का जीवन जी रही हैं। अतः जन्म और जाति को अमान्य ठहराकर कबीर सवाल करते हैं-

"जो तू बाभन बाभनि जाया,
तो आन बाट ह्वै काहे न आया।"

वास्तव में कबीर आम आदमी की आवाज थे। वे समाज में निम्नवर्गीय चेतना का प्रसार करना चाहते थे। उन्होंने जन्म-जाति या कुलगत उच्चता को चुनौती दी। कबीर एक क्रान्तिधर्मी रचनाकार थे जो तत्कालीन समय के आडम्बरों, कुरीतियों, जड़ता, मूढ़ता और अन्धविश्वासों से तर्कपूर्ण ढंग से लोहा ले रहे थे। कबीर ने यथार्थ के धरातल पर हर बुराई को खंडित एवं खारिज किया। कबीर सामन्तवाद और उथल-पुथल के उस दौर में क्रान्ति की मशाल जला रहे थे।

आज जब दुनिया में भौतिक सुख-सुविधाओं हेतु भ्रष्टाचार, लूट-खसोट, मिलावट खोरी जैसे अपराध मानवता को झकझोरने की नयी कहानी बया कर रहे हैं तब कबीर का यह कथन अत्यंत प्रासंगिक जान पड़ता है-

"साईं इतना दीजिए, जामे कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय।।"

कबीर धार्मिक आडम्बरों पर गहरी चोट करते हैं और कहते हैं-

"काकर पाथर जोड़ के मस्जिद लिया बनाय।
ता पर मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय।।"

निर्बलों के साथ बरती जा रही अमानवीयता पर कबीर समाज को चेताते हैं–

"निर्बल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की श्वांस सौं, सार भसम ह्वै जाय।।"

कबीर शिक्षा प्रणाली को पोथियों से बाहर लाकर ज्ञान से ज्यादा महत्व प्रेम का देते हुए कहते हैं-

"पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।।"

हिन्दुओं के धार्मिक कर्मकांड को चुनौती देते हुए कबीर कहते हैं–

"पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पूजूं पहाड़।
ताते तो चाकी भली, पीस खाय संसार।।"

वास्तव में कबीर समाज को और मनुष्य को और बेहतर बनाने के लिए प्रयासरत थे। हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म की कथनी और करनी के भेद को उघाड़ते हुए वे कहते हैं-

"अरे इन दोउन राह न पाई,
हिन्दू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देई।
वेश्या के पावन तर सोवैं, यह देखो हिन्दुआई।।
मुसलमान के पीर-औलिया, मुरगा-मुरगी खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं, घरहि में करैं सगाई।।"

कबीर इतना सब कुछ अपने अनुभव से करते हैं जिसका उनके लिए खास महत्व है। तभी तो वे कहते हैं-

"तू कहता कागद की लेखी,
मैं कहता आँखिन की देखी।"

स्पष्टतः कबीर के पास ऐसी आँख थी जिससे वे समाज की समस्त बुराईयों को देख रहे थे और समाज में नयी चेतना का संचार कर रहे थे। कबीर के पास एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तर्कबुद्धि थी। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर के बारे में लिखते हैं- "वे मुसलमान नहीं थे। हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे। योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे भगवान के नरसिंहावतार की मानव प्रतिमूर्ति थे। नरसिंह की भांति वे असम्भव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन बिन्दु पर अवतरित हुए थे, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है और दूसरी ओर भक्तिमार्ग।"

कहना न होगा कि कबीर का पूरा व्यक्तित्व ही विरूद्धों के सामंजस्य के रूप में नजर आता है। वे गृहस्थ जीवन से पलायन न कर समाज के बीच में रहकर मुनष्यों को कर्मयोग का पाठ पढ़ाना चाहते थे।

आज जब पूरे विश्व पर आतंकवाद की काली छाया मंडरा रही है। धर्म की जकड़ से विश्व छटपटा रहा है। अन्धविश्वास को हथियार बनाकर आमजन को बरगलाया जा रहा है। पूरी दुनिया में वाक्युद्ध छिड़ा हुआ है। युद्ध का संकट बराबर बना हुआ है और दुनिया युद्ध के मोहाने पर खड़ी है। नफरतें चरम पर हैं। संवेदनायें नष्ट होने को हैं। मानवता खत्म होती जा रही है। तब इस भयावह समय में कबीर ही एकमात्र संबल हैं जो हमें इन मुश्किलों से पार पाने का उपाय सुझाते हैं। कबीर इसीलिए आज भी बेहद प्रासंगिक लगते हैं।

कबीर का यह उद्घोष दुनिया के लिए बहुत मूल्यवान मंत्र है जिसका मानवता की प्रतिष्ठा में योगदान असंदिग्ध है-

"अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप।।

× × × ×

"बोली एक अमोल है जो कोई बोलै जानि।
हिये तराजू तौल के, तब मुख बाहर आनि।।"

× × × ×

"ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपहुँ सीतल होय।।"

आज के संचार युग में कबीर के ये दोहे कितने प्रासंगिक हैं, ये कहने की आवश्यकता नहीं।

समग्रता में यदि कहें तो कबीर एक ऐसे सामाजिक न्याय के पक्षधर थे जहाँ ईष्या-द्वेष, घृणा, असहिष्णुता इत्यादि के लिए कोई स्थान नहीं है। संयम, आत्मबोध और सत्याग्रह ही कबीर के लिए उच्चतर मूल्य हैं जिनसे मानवता की सेवा की जा सकती है। कबीर के इसी विस्मयकारी व्यक्तित्व का ही परिणाम है कि आधुनिक साहित्य के अध्येता पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने कबीर और भारत के राष्ट्रपिता, सत्य एवं अहिंसा के पुजारी महात्मा गांधी की तुलना करते हुए एक लेख लिखा था, "कबीर और गांधी।" कबीर की ही तरह गांधी में भी कम विद्रोह नहीं है। गांधी ने निर्भयता, संवेदना, संयम, अनुशासन, सत्याग्रह, प्रेम इत्यादि के माध्यम से भारत को आजाद कराने के लिए सामाजिक परिवर्तन की पहल की थी। तत्कालीन समय में यही काम कबीर ने भी किया था। कबीर की करूणा और विद्रोह गांधी में प्रतिबिंबित होते हुए दिखते हैं। इसी को लक्षित करते हुए पीतांबर दत्त बड़थ्वाल ने कहा- "गांधी जब लंदन में गोलमेज कान्फ्रेंस में गरीबों पर भाषण दे रहे थे, तो लगता था कि उनके मुँह से कबीर बोल रहे हैं।" इसलिए आधुनिक भारत और विश्व में मानवमुक्ति के लिए कबीर के व्यक्तित्व में निहित संवेदना, उदात्तता, करूणा, निर्भयता, आत्मविश्वास और सामंजस्य के इसी भाव की आवश्यकता है जिससे आज की जटिल समस्याओं का समाधान निकल सकता है। इन्हीं अर्थों में कबीर उत्तरोत्तर प्रासंगिक हुए जाते हैं।

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर मध्यप्रदेश
Email- drhimanshu3319@gmail.com
Mob. 07697425313

संत रविदास की भक्ति में बेगमपुर की अभिव्यक्ति

डॉ. अरविन्द कुमार

संत रविदास एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाह रहे थे, जहाँ पर किसी प्रकार का गम न हो। वह समाज गमरहित नजर आये। इनकी कविता का मूलस्वर इसी को लेकर आगे बढ़ता है। इसलिए इनकी पूरी कविता में 'बेगमपुर' केन्द्रीय भाव के रूप में उभरता है, जो मानवता के प्रति उनकी संवेदना का परिचायक है। भक्ति आंदोलन के शीर्ष कवि संत शिरोमणि गुरू रविदास जी का नाम बड़े सम्मान के साथ भक्त कवियों में जोड़ा जाता है। जिस प्रकार से कबीरदास, तुलसीदास, सूरदास और गुरूनानक समाज में हो रहे, अनवरत तरह से भेदभाव को समाप्त कर एक समता मूलक समाज का निर्माण करना चाहते थे, उसी प्रकार से गुरू रविदास भी भारतीय समाज में एकीकरण लाने के लिए प्रयासरत थे। गुरू रविदास जी समाज में एक भक्त कवि ही नहीं थे, बल्कि एक समाज सुधारक के रूप में जाने जाते हैं। 13 वीं 14 वीं शताब्दी में भारत देश विभिन्न वर्ण और जाति में बटा हुआ था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जिसमें शूद्र को अछूत, दलित, निम्न जाति का भंगी, चूहड़ा कहकर समाज में तिरस्कृत किया जाता था। शूद्र को स्वतंत्र रूप से जीवन जीने का अधिकार नहीं था, तालाब या कुआँ से पानी नहीं ले सकता था। मंदिर, मस्जिद में प्रवेश वर्जित था। किसी ब्राह्मण या क्षत्रिय के घर नहीं जा सकता था। इस तरह से जाति भेद की भावना समाज में कूट-कूट कर भरी हुई थी। जिससे ये भक्त कवि इस निम्न वर्ण को समानान्तर धरातल से जोड़ने और भेदभाव को समाप्त करने का वीणा उठाया। उनका माध्यम था, भक्ति भावना। भक्ति भावना में भक्त और ईश्वर में अभेद बताया। प्रत्येक प्राणी ईश्वर के द्वारा निर्मित है। उसमें सबकुछ समान है। वह चाहे किसी भी वर्ण में जन्म ले, लेकिन उसकी जाति सिर्फ मनुष्य की जाति होगी। मानव समाज ने यह भेदभाव निर्मित किया है। लेकिन ईश्वर ने भक्ति को महत्व दिया है। भक्त कवियों की मान्यता है।

संत शिरोमणि गुरू रविदास जी मनुष्य और मनुष्य के बीच अभेद बताकर सत्यसंग में विश्वास जताया है, सत्यसंग अर्थात् सच्चाई का साथं देना, सत्य को जानना, मनुष्य को मनुष्य के साथ रहने की प्रेरणा देते हुए कवि रविदास जी कहते हैं कि

"प्रभु संगति भारन तुम्हारी। जग जीवन राम मुरारी।
गली-गली को जल बहि आयों, सुरसरि जाय समायो।
संगति के परताप महातम, नाम गंगोदक पायो।।1।।
स्वाँति बूँद बरसै फणि ऊपर, सीस विशै होई जाई।
वही बूँद के मोती उपजै, संगति की अधिकाई।।2।।
तुम चन्दन हम रैंड बापुरे, निकट तुम्हारे आई।
संगत के परताप महातम, आवै वास सुबासा।।3।।
जाति भी ओछी करम भी ओछा, ओछ कसब हमारा।
नीचे से प्रभु ऊँचों कियो है, कहि रविदास चमारा।।4।।"[1]

गुरू रविदास जी कहते हैं कि मुझे ईश्वर की शरण में या संगत में आने से समाज में सम्मान मिला, नहीं तो मैं एक निम्न जाति में पैदा हुआ था। जहाँ पर मुझे अपमान की घूट पीना पड़ा था। गली-गली में नाले के द्वारा जो पानी बहता है उसे गंदे नाले का पानी कहा जाता है। यदि वही गंदे नाले का पानी जब समुद्र में या गंगा जल से मिल जाता है तो उसे शुद्ध गंगा का जल कहा जाता है, यह संगति का ही परताप है। गुरू रविदास जी कहते हैं। कि जब स्वाँति बूँद शेषनाग के फण के ऊपर पड़ता है तो विष बन जाता है। जब शिपी में पड़ता है तो मोती बन जाता है। यह सम्पर्क अलग-अलग होने से अलग-अलग प्रभाव दिखाई देता है। उसी प्रकार गुरू रविदास जी कहते हैं कि मैं एक साधारण परिवार में जन्मा था लेकिन तुम्हारे सम्पर्क में आने से कर्म, धर्म सब कुछ बदल गया।

गुरू रविदास जी आगे कहते हैं कि निम्न जाति में जन्म होने से कुछ नहीं होता कर्म का प्रभाव होता है। कर्म करना चाहिए, रविदास जी आज बड़े गर्व से अपने जाति बोध का नाम लेकर समाज को चुनौति देते हैं कि सत्यसंग के बिना भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, उच्च वर्ण और निम्न वर्ण में संगति होनी चाहिए, इस तरह से बँटवारा करके सच्ची भक्ति नहीं कर सकते हैं। गुरू रविदास जी का निम्न परिवार में जन्म होने के बावजूद उन्होंने भक्ति के द्वारा समाज में सभी के लिए पूज्यनीय हैं।

रैदास की भक्ति चन्दन और पानी के समतुल्य बताया है। रैदास जी कहते हैं कि 'प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी' कहकर भक्ति में लीन होने का संकेत है।

"प्रभु जी तुम चंदन हम पानी,
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवत चन्द चकोरा।
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती, जाकी बाति बरै दिन राती।
प्रभु जी तुम मोती हम धागा, जैसे सोने मिलत सुहागा।
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै रैदासा।"[2]

संत रैदास जी अपने भक्ति के माध्यम से संदेश देना चाहते हैं कि भक्ति का सीधा सम्बन्ध भगवान से होता है। भक्ति किसी भी समुदाय-वर्ण का व्यक्ति कर सकता है। भक्ति दीपक और बाती के समान होना चाहिए, जिसका उजाला सम्पूर्ण अंधेरे को खत्म कर प्रकाश फैलाने का काम करता है। उसी प्रकार ज्ञान रूपी दीपक से शरीर के अन्दर व्याप्त ईर्ष्या, द्वेष, बैर, नफरत, अहंकार आदि अंधकार रूपी विकार समाप्त हो जाता है। यानी की मनुष्य को मनुष्यता का ज्ञान हो जाता है। उसके आस-पास रहने वाले कुविचार के व्यक्ति भी अच्छे मार्ग की तलाश कर सकें।

संत शिरोमणि गुरू रविदास ने भक्ति के सन्दर्भ में कहा है कि भक्ति निःस्वार्थ भाव की होती है। भक्ति में किसी प्रकार की कोई चाह नहीं होनी चाहिए। भक्ति भोजन कम करने से नहीं होती, भक्ति क्रिया योग करने से नहीं होती है, भक्ति मूंड-मुंडन से नहीं होती है, भक्ति न चन्दन लगाने से होती है न माला जपने से होता है। भक्ति आत्म समर्पण से होती है। भक्ति में अहं का त्याग होता है। भक्ति प्रेम, समर्पण और आत्मनिवेदन के द्वारा भावानुभूति तक पहुँच जाता है। भक्ति में अभिव्यक्ति यथार्थ के नजदीक होने से रहस्मय जान पड़ती है।

रैदास साहब की भक्ति नाम स्मरण की भक्ति है, किसी समय, किसी भी परिस्थिति में, किसी भी अवस्था में ईश्वर का नाम लेकर आत्म संतुष्टि किया जा सकता है। रैदास के अनुसार नाम स्मरण में ही पूजा, अर्चना के सम्पूर्ण क्रिया-कलाप कर लेने की सलाह के साथ साधना करते हैं। रैदास के अनुसार नाम रूपी माला, फूल, धागा, चन्दन, दीपक, बाती, आसन सबकुछ पूजा के समान नाम रूपी होना चाहिए।

"नाम तेरो आरती, भजन मुरारे।
नाम तेरा आसन, नाम तेरो हुरसा, नाम तेरो केसर ले छिड़कारे।
नाम तेरो अमुला, नाम तेरो चन्दन, चंदन घसिजपै नाम उचारे।
नाम तेरो दिया, नाम तेरो, बाती, नाम तेरो तेल लेय मांहि पसारे।
नाम तेरो धागा, नाम फूल माला भार अठारह सकल जुटारे।"[3]

गुरू रविदास जी कहते है कि मेरी भक्ति में किसी अन्य सामग्री की आवश्यकता नहीं होती, मेरे भक्ति में नाम ही माला है, नाम चन्दन है। आसन है, केसर है, दीया

है, बाती है, धागा है, अर्थात् नाम ही सब कुछ है। उसी से मेरी सम्पूर्ण भक्ति होती है, जो प्रभु जी खुद अपने आप को भेंट चड़ा देते हैं। गुरू रैदास साहब में समर्पण का भाव व्याप्त है।

"तन मन अरपहुं पूज चरावहुँ।
गुरू परसादु निरंजन पावहुँ।"[4]

"रैदास ने भक्तिमार्ग में साधना मार्ग को परमप्राप्त तथा परमतत्व की प्राप्ति का मार्ग बताया है।"[5]

संत शिरोमणि गुरू रविदास जी के भक्ति भावना के सन्दर्भ में विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं कि 'रैदास के भक्ति का ढ़ाँचा निर्गुणवादियों का ही है, किन्तु उनका स्वर कबीर जैसा आक्रमण नहीं।' रैदास की कविता की विशेषता उनकी निरीहता है। वे अनन्यता पर बल देते हैं। रैदास में निरीहता के साथ-साथ कुंठहीनता का भाव दृष्टव्य है। भक्ति भावना ने उनमें बल भर दिया था। जिसके आधार पर वे डंके की चोट पर घोषित कर सकें-

"जाके कुटुंब सब ढोर ढोवंत।
फिरहिं उजहु बनारसी आस-पास।
आचार सहित बिप्र करहिं डंड उति।
तिन तनै रविदास दासा नुदासा।"[6]

रैदास ने एक ही ईश्वर को माना है, जो आगम अगोचर, इन्द्रियातीत और सबका स्वामी है। सारी सृष्टि में उसी निर्गुण निराकार का विस्तार है, "एक ही एक, अनेक पदों में बार-बार ईश्वर से प्रार्थना की है वे नीचों का उद्धार करें। इससे उनके मन की छटपटाहट का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि उनकी भक्ति श्रद्धा, समर्पण और विश्वास की भक्ति है।"[7]

'रैदास' धर्म के वाह्य आडम्बर पूर्ण कर्मकाण्ड, मूर्ति पूजा व दिखावटी रूप पर अविश्वास प्रकट करते हुए, धर्म के मौलिक स्वरूप अभ्यान्तरिक साधना और जीवन की पवित्रता पर पर्याप्त बल देते हैं। रैदास ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिस व्यक्ति के हृदय में वाह्य प्रदर्शन के स्थान पर सदा ही भगवान का ध्यान रहता है, उसी व्यक्ति को काम, क्रोधादि कभी नहीं सताते तथा वह भक्त स्वयं ईश्वर का रूप होता है।

"रैदास कहै जाके हृदय। रहै, रैन दिन राम।
सो भक्ता भगवन्त सम, क्रोध न व्यायै काम।"[8]

संत रैदास जी भक्ति साधना के असली स्वरूप को बताते हुए कहते हैं बाह्याडम्बर, वेष धारण, व्यर्थ की यौगिक क्रियाएँ, शारीरिक रूप से कठोर नियन्त्रण,

इन्द्रीतिक्षा, उपवास, आदि सभी को एक साथ अस्वीकार करते हुए ईष्ट के मार्ग में अपने पूर्ण रूपेण भुला देने, आत्मनिवेदन, इच्छाओं और आशाओं के परित्याग के मार्ग से अपने को अपने में ही स्थिर करने को भक्ति साधन का स्वरूप माना है। रैदास के इस पद में भक्ति का स्परूप देखा जा सकता है-

''भक्ति न रसदान, भक्ति न कथै ज्ञान, भक्ति न बन में सुफा खुदाई।
भक्ति न ऐसी हाँसी, भक्ति न आसापासी, भक्ति न कुलकान गाई।
भक्ति न इन्द्री बांधा, भक्ति न जोग साधा, भक्ति न आहार घटाई।
भक्ति न निद्रा साधै, भक्ति न वैराग बांधे, भक्ति न सब बेद पढ़ाई।
भक्ति न मूड़-मुड़ाई, भक्ति न माल दिखाई, भक्ति न चरन धुवाये।
आपो गयो तो भक्ति पाई, ऐसी भक्ति है भाई।
राम मिल्यो आपो गुन गायो, रिधि-सिधि सबै गंवाई।
कहैं रैदास की छूटी आस, तब हरि ताहि के पास।
आत्मा थिर भई, तब सबही निधि पाई।।'[9]

आचार्य राम चन्द्र शुक्ल के अनुसार- ''रैदास की भक्ति भी निगुर्ण ढाँचे की जान पड़ती है। कहीं तो वे अपने भगवान को सबमें व्याप्त देखते हैं, भावर जंगम कीट पतंगा, पूरि रहयो हरिराई और कहिं कबीर की तरह परात्पर की ओर संकेत करके कहते हैं- गुन निर्गुन कहियत नहिं जाके।''[10]

संत रविदास के स्वभाव के संदर्भ में बच्चन सिंह का कहना है कि- ''कबीर में ओज अक्खड़ता और प्रखरता थी, तो रैदास में शांति, संयम और विनम्रता।''[11] संत रविदास के भक्ति के ढांचे से अनुमान लगा सकते हैं कि पूरी तरह से मध्यकाल धर्म का काल था और उस समय सामाजिक पुनर्गठन या सुधार का कार्य धर्म की ही भाषा में मुख्य रूप से हो सकता था। मध्यकाल के महापुरूषों को जनता ने सम्मान दिया था। उनका मुख्य कार्य भक्ति के द्वारा समाज में सुधार और परिवर्तन लाना था। इसी प्रकार से रैदास भी भक्ति का रास्ता चुना, समाज को सुधारने के लिए। रैदास ने तत्कालीन युग में परम्परा से चले आ रहे, सामाजिक अन्याय, के परिणाम स्वरूप, तत्कालीन परिस्थितियों में हो रहे ध्वस्त, भारतीय समाज के सामने प्रत्येक व्यक्ति के समान बात कहकर नये युग की सबसे बड़ी आवश्यकता का उद्घोष किया।

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्यप्रदेश
Mob. No.- 9479975625
Email- arvindhindi2@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. संत रैदास, योगेन्द्र सिंह, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद संस्करण-2008, पृ. 150
2. वही पृ. सं.-69
3. वही पृ. सं.-80
4. वही पृ. सं.-80
5. संभाय, अर्ध-वार्षिक पत्रिका, संपा- ज्ञान प्रकाश चौबे, डॉ. रविकान्त राय, वाल्यूम-IV, अंक-2, जुलाई-दिसम्बर-2012, पृ.सं.-62
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास सामान्य पश्चिम, विश्वनाथ त्रिपाठी, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, एन.सी.ई.आर.टी. कैम्पस- श्री अरविन्द मार्ग नई दिल्ली, संस्करण 2003, पृ.सं.-18
7. दलित साहित्य का समाजशास्त्र- हरिनारायण ठाकुर, भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इन्स्टीट्शनल, एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली, संस्करण- 2009, पृ.सं.-222
8. संत रैदास, योगेन्द्र सिंह, लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद संस्करण-2008, पृ. 87
9. वही पृ. सं.- 67-68
10. हिन्दी साहित्य का इतिहास- आचार्य राम चन्द्र शुक्ल, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण-2005, पृ.सं.-53
11. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास- बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, आवृत्ति 2009 पृ.सं.-92

भक्तिकाल : मीराबाई और स्त्री संघर्ष

डॉ. मनीष कुमार

कृष्ण भक्ति शाखा की महान कवयित्री मीराबाई का जन्म 1504 ई. में जोधपुर के पास मेड़ता ग्राम में हुआ था। जब मीराबाई तीन वर्ष की थीं तो एक साधु उनके यहाँ आए, उन्होंने मीराबाई को श्रीकृष्ण की एक छोटी सी मूर्ति दी। वे श्रीकृष्ण भगवान की मूर्ति को खिलाती-पिलाती, उनके साथ बातें करतीं और खेलती-कूदती थीं और श्रीकृष्ण की भक्ति में लीन होकर भजन गाती थी। मीराबाई का विवाह बचपन में ही चित्तौड़ के राजा महाराणा सांगा के पुत्र भोजराज से हुआ था। कुछ वर्षों के पश्चात् उनके पति को एक युद्ध में वीरगति प्राप्त हुई, उसी समय से वे एक तपस्विनी के समान विरक्त रहने लगीं तथा दिन-रात श्रीकृष्ण-भक्ति में लीन रहने लगीं। मीरा के देवर राणा विक्रमाजीत सिंह को राजमहल में साधु संतों का आना-जाना अच्छा नहीं लगता था। संत मीराबाई की भक्ति से त्रस्त होकर राणा विक्रमाजीत ने उन पर अनेक अत्याचार किए।

भक्ति आन्दोलन नारी को भी घर से उसी तरह बाहर आने का निमंत्रण देता था जिस प्रकार पुरूष को। भक्ति की दृष्टि में नारी और पुरूष में अंतर नहीं, दोनों अंशी के अंश है। लेकिन सामंती व्यवस्था नारी को विशेषतः उच्च वर्ग की नारी को घर से बाहर निकलने की आज्ञा नहीं देती थी। मीरा के भक्त-जीवन का यही मूल भौतिक संघर्ष था। मीरा मध्यकालीन सामंती व्यवस्था की पीड़ित नारी कवयित्री हैं। इस पीड़ित नारीत्व को भूलकर उनकी कविता को हृदयगम नहीं किया जा सकता। मध्यकाल में पुरूष भक्त कवि होने के लिए जाति-पाँति, धन, धरम, बड़ाई, ऊँच-नीच छोड़ता था तो स्त्री को भी 'लोक-लाज, कुल-शृंखला तोड़नी पड़ती थी। यह बातें मीरा के साहित्य में बहुत मिलती है। यह अकारण नहीं। यह उस बंधनग्रस्त मध्यकालीन नारीमन की अभिव्यक्ति है, जिसके विषय में तुलसी ने लिखा था-भगवान ने नारी को क्यों बनाया, उस पराधीन को सपने में भी सुख नहीं मिलता-

"कत बिधि सृजी नारि जगमाहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।।"[1]

मीरा कृष्ण से प्रेम करती हैं और उनका प्रेम ऐसा है, जिसमें समाज कदम-कदम पर बाधा पहुंचाता है। वह मीरा को बरजता है, हटकता है और जब मीरा विद्रोह करती हैं तो उसे 'भटकी' या 'बिगड़ी' घोषित कर देता है।

'थारों रूप देख्या अटकी
कुल कुटम्ब सजज बार-बार हटकी।'

× × ×

''म्हारे मण मगण स्याम लोक कह्यां भटकी''[2]
''मीरा गिरधर हाथ बिकाणी, लोक कह्यां बिगड़ी''[3]

मीरा की भावना उस समाज की नारी की भावना है, जहाँ नारी अपने प्रेम की अभिव्यक्ति सहज तौर पर नहीं कर सकती है। मध्यकाल के सामंती चौखटे में बँधी आम नारी की कल्पना करें, तो स्पष्ट होगा कि उस चौखटे से बाहर आना इस आम नारी के लिए कितना कठिन होगा? मीरा के राजघराने की बहू होने के नाते उनके सामने तो बहुत ज्यादा समस्या थी, परन्तु मीरा अपने माध्यम से, मध्यकालीन समाज में घुटती-कराहती, नाना प्रकार के सामाजिक अत्याचारों और पारिवारिक प्रताड़नाओं को सहती और संघर्ष करती हुई आम नारी का भी अहसास कराती हैं, उसके दुःख और उसकी कसक को भी अपने माध्यम से वाणी देती हैं, उस समाज को नंगा करती हैं, जहाँ नारी इतनी पराश्रित और इतनी असहाय है कि उसका समाज के बनाए नियमों के ख़िलाफ उठा एक पग भी, उसे भ्रष्ट, पतिता और 'बिगड़ी' करार देता है।

मीराबाई सत्ता के नियमों, कायदों, मर्यादाओं और रूढ़ियों को तोड़ती हैं। मीरा ने जीवन में महान संघर्ष किया। वे जिस कुल की बहू थी उस कूल में सती-प्रथा विद्यमान थी। मीरा ने अपने पति की मृत्यु के बाद सती होने से मना कर दिया। जब आज इक्कीसवीं सदी में सती-प्रथा के समर्थन में, जयपुर में तलवार-भांज और प्रदर्शन करने वाले लोग मिल जाते हैं, तो सोलहवीं सदी में यह कल्पना की जा सकती है कि एक स्त्री जो सती होने से मना करती है, उसके प्रति लोगों का क्या व्यवहार रहा होगा?

स्त्रियों की पराधीनता और दमन के प्रसंग में शास्त्र उतना दमनकारी नहीं होता जितना लोक होता है। एक स्त्री का जीना, मरना, मुस्कुराना, हँसना, रोना, प्रेम करना सब कुछ के प्रसंग में यह कहा जाता है कि ये ऐसा करेगी या वैसा करेगी तो लोग क्या कहेंगे? इसी को 'लोक' कहते हैं। इसलिए बड़ी भूमिका लोक की रही है और होती है साथ ही पुरूषों ने यह मान्यता बना रखी है कि लोक-लाज ही स्त्री का आभूषण है, लेकिन मीराबाई कहती हैं-

"लोक-लाज कुल कानि जगत की दई बहाय जस पाणि
अपने घर का परदा कर लो, मैं अबाला बौरानी।"[4]

मैं तो पागल हो गई हूँ। अगर तुम्हें, देखा नहीं जाता तो मेरे ऊपर परदा डालने के बदले अपने घर का परदा कर लो। इसलिए मीराबाई की कविता में जो विद्रोह है, वह उनकी कविता के प्राण की तरह है। मीरा अपने को कृष्ण के प्रेम में समर्पित कर देती हैं और कहती हैं कि जिसका मन श्रीकृष्ण भक्ति में लग गया हो, वह किसी के कुछ कहने से दिग्भ्रमित हो, ऐसा सम्भव नहीं है। तभी तो मीरा ने अपने देवर (राणा) से भी बड़े निर्भीक स्वर में साहस के साथ चुनौती की मुद्रा में यह भी कह डाला कि चाहे जितना जुल्मों-सितम ढाओ पर मैं तुम्हारी वर्जनाओं (बन्धनों) को नहीं मानूँगी-

"मारों चाहे छाँड़ों राणा, नहीं रहूँ मैं बरजी।"[5]

इस पंक्ति के माध्यम से मीरा की आत्म बलिदान की भावना एवं उनके स्वाधीनता के लिए संघर्ष को सहज ढंग से जाना जा सकता है।

मध्यवर्गीय भारतीय समाज की स्त्रियों के उत्पीड़न में स्त्रियों का भी योगदान होता है। सास-बहू, ननद-भौजाई की कलह भारतीय स्त्री-समाज की बहुत बड़ी विशेषता है। सासु-बहू, ननद-भौजाई में कलह ही नहीं होता प्रेम भी होता है, किन्तु विख्यात कलह ही है। मीरा के जीवन के विषय में जो लोकसाहित्य प्राप्त होता है, उससे मीरा ने 'सासु-ननद या 'राणा' के विषय में जो लिखा है, वह समर्थन करता है। सास ने कहा-मीरा कुल का नाश करने वाली है। जैसे-

"सासु कह्या कुल नासारी।"[6]

मीरा की ननद कहती है कि बरज-बरज कर मैं हार गई, भाभी मेरी बात मानो। राणा ने रोष किया था-तुम साधुओं में मत जाओ, कुल को दाग लगता हैं, भारी निंदा हो रही है, तुम साधुओं के संग वन-वन भटकती हो, सारी लाज गंवा दी है। इतने बड़े घर में तुम्हारा जन्म हुआ और तुम ताली दे-दे कर नाचती हो। (या तुम्हें ताली दे-दे कर इस प्रकार सबके बीच में नाचना शोभा नहीं देता)

"ऊदौ : थाणे बरज बरज मैं हारी, भाभी मानो बात हमारी।
× × ×
कुल को दाग लगे छै भीभी, निन्दा हो रही भारी।
× × ×
बड़ा घरा में जनम लियो छै नाचो दे दे तारी।"[7]

मीरा राजघराने के किसी भी आदमी की नहीं सुनती हैं। अपने मन के अनुसार संतों के साथ घूमती है और सत्संग करने में अपने को व्यस्त रखती हैं। जनश्रुति है कि राजा विक्रमाजीत ने मीरा को विष दिया था। मीरा की रचनाओं में इसका बहुशः : उल्लेख है। मीरा ने लिखा है कि वह विष उनके लिए अमृत बन गया। मान्य है कि मीरा के साधु-समागम के चलते लोकापवाद के डर से राजा विक्रमादित्य ने अपने बीजावर्णी मुसाहब की सलाह से उसी द्वारा फूलों की डालियों में सांप-बिच्छू तथा चरणामृत के व्याज से विष का प्याला भेजा। मीरा ने उसे सहर्ष ग्रहण कर लिया। राजा द्वारा भेजा गया विष का प्याला और सांप विच्छूओं की माला मीरा के लिए क्रमशः अमृत तथा पुष्पों की माला बन गई थी।

"विख रो प्यालो राणा भेज्यां, पीवां मीरा हांसारी।"[8]

मीरा को भारी लोक निंदा सहनी पड़ी, क्योंकि मीरा एक राजपरिवार से सम्बन्ध रखती थी। राजपरिवार में घर से बाहर निकलना गलत माना जाता है। मीरा तो घर से बाहर निकलकर साधु संगति में बैठती थीं, मंदिरों में जाकर नाचती थी और सत्संग करने में व्यस्त रहती थीं। ये सारी बातें राणा परिवार को अच्छी नहीं लगती थी। राजा का परिवार और समाज मीरा की निंदा करता था। इससे मीरा पर कोई असर नहीं होता था और कहती थी कि-

"राणा जी म्हाने या बदनामी लगे मीठी।
कोई निंदों कोई बिंदों मैं चलूंगी चाल अनूठी।"[9]

मीरा की भावना उस समय की नारी-भावना है, जहाँ नारी अपने प्रेम की अभिव्यक्ति सहज तौर पर नहीं कर सकती। विपरीत परिस्थितियों में भी मीरा ने धैर्य बनाये रखा। "सामन्ती व्यवस्था को न लांघ पाने वाली सीमाओं एवं मध्ययुग के व्यापक रूढ़िवादी वातावरण में उस प्रेम दीवानी मीरा का यह ऐकांतिक विद्रोह निश्चय ही धन्य था।"[10]

संसार के लोग कड़वी बोली बोलकर मीरा की हंसी उड़ाते थे। मीरा प्रेम साधना की ज्वाला में इतना तप चुकी थी कि उन्हें लोकलाज व कुल-खानदान की मर्यादा, परवाह नहीं थी, क्योंकि वह हरि के बिना एक पल भी नहीं रह सकती थीं-

"कड़वा बोल लोक जग बोल्या करस्यां म्हांरी हांसी।"[11]

"लोकलज कुलकाण जगत की, दह बहाइ जस पाणि।"[12]

मीरा ने सारी बन्दिशों को तोड़ते हुए अपमान का विष पीकर भी अपने प्रेम की लाज रखी। वास्तव में सच्चा प्रेमी वही होता है, जो अपने प्रिय को पाने हेतु

समाज से बगावत करने के लिए भी तैयार रहे। मैनेजर पाण्डेय ने ठीक ही लिखा है-'प्रेम स्वभाव से ही सत्ता विरोधी और स्वतंत्र होता है।''[13]

सांसारिक विवाह तथा कुल की कानि का अस्वीकार तथा परिवार के सम्बन्ध की भर्त्सना आदि केवल उनके सांसारिक प्रकार्य का ही अस्वीकार नहीं है, वरन् उस मग्न सामाजिक व्यवस्था का भी अस्वीकार है, जिसने उसे रचा है। साथ ही, पारिवारिक जीवन का अस्वीकार रूढ़िगत यौन व्यवस्था का भी अस्वीकार है।

मीरा की कविता में व्यवस्था के प्रति असंतोष, नाराजगी और विद्रोह का जो उग्र और मुखर स्वर मिलता है, वो उनको उनके समकालीन संत-भक्तों से अलग सिद्ध करता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि ''जन्मांतर व्यवस्था और कर्मफलवाद के सिद्धान्त ने ऐसी गहरी जड़े जमा ली थी कि परवर्ती युग के कवियों और मनीषियों के चित्त में इस जागतिक व्यवस्था के प्रति भूल से भी असंतोष का भाव नहीं मिलता। जो कुछ जगत् में हो रहा है, उसका एक निश्चित कारण है, उसमें प्रश्न करने और सन्देह करने की जगह नहीं है।''[14] मध्यकालीन संतभक्तों की भी जन्मांतर व्यवस्था और कर्मफलवाद में असंदिग्ध और गहरी आस्था थी। इसीलिए उनकी कविता में उनके अपने समय की सामंतवादी व्यवस्था के स्वार्थपूर्ण हित संबंधों के प्रति असंतोष और नाराजगी का भाव लगभग नहीं के बराबर है। मीरा की कविता इस मामले में बहुत अलग और असाधारण है। यह सामंती व्यवस्था के धर्म, दर्शन और लोक द्वारा मान्य स्वार्थपूर्णहित सम्बन्धों को सीधे चुनौती देती है। इनको लेकर इसमें गहरा और उग्र असंतोष और मुखर विद्रोह है। मीरा की कविता इस मामले में कुछ हद तक कबीर से भी आगे है। कबीर एक अमूर्त व्यवस्था को चुनौती देते हैं, जबकि मीरा एक साक्षात् और जीवित शत्रु से लोहा लेती दिखती है। उसका विद्रोह उस राज, धर्म और लोक सत्ता के विरूद्ध है, जो शत्रु के रूप में उसके सामने, उसके समय में और उसके स्थान पर है। वह अपने शत्रु को चुनौती देते हुए कहती है-

''तुम जावो राणा घर अपनो, मेरी-तेरी नहीं सरी।''[15]

मीरा अपने संघर्ष में राणा से कहती है कि हे राणा आप अपने घर जाओ, आप में और मुझमें विचार मिलने वाले नहीं है। मध्यकालीन स्त्री का अपने पति से ऐसा कहना, एक संघर्षशील नारी का प्रतिमान माना जा सकता है, जो अपने से विपरीत सभी परिस्थितियों से डटकर संघर्ष करती है।

प्रेम का उद्गम कामना का जीवन्त संसार मीरा के काव्य में बिखरा बड़ा है। 'निपट बंकट छवि अटके' उनकी आँखे प्रिय की बाँकी छवि में अटकी हैं या रूप देखकर ऐसी मतवाली हुई हैं कि कुल कुटुम्ब द्वारा बार-बार रोके जाने पर भी सारी मान-मर्यादा का उलंघन कर जाती हैं-

"थारो रूप देख्या अटकी।
कुट-कुटुम्ब सजज सकल बार-बार हटकी।
म्हारो मण मगण स्याम लोक कह्या भटकी।"[16]

भक्त कवि मान-मर्यादा का निषेध नहीं करते। उनके यहाँ आत्मा कुलवधू है, पतिव्रता और सती स्त्री है, लेकिन मीरा सती होने की बात नहीं करती हैं, बल्कि उसका निषेध करती है। जीवन पर उनकी गहरी आस्था है और प्रेम पर अटूट विश्वास 'भजन करस्यां सती न होस्यां।' इस अटूट विश्वास और आस्था में मीरा के यहाँ सारे उत्पीड़न की व्यथा और विद्रोही के बावजूद जीवन जगमगाता हुआ है, जिजीविषा से लबालब भरा हुआ। यह जिजीविषा ही अवरोधों को तोड़ कर प्रिय की सेज सजाने की कल्पना का साहस देती है।

मध्यकालीन समाज में अवर्णों और सवर्णों के बीच बराबरी को लेकर जाति-प्रथा के आधार पर आमना-सामना होता था तो नारियों को समान होने के लिए रूढ़िग्रस्तता और तुच्छ कुल की मर्यादा से लड़ना पड़ता था। मीरा जब अपनी रचनाओं में बार-बार लोक-लाज, कुल की मर्यादा को तोड़ने की बात कहती हैं, तब वे उसी बाधा का संकेत करती हैं। जिस प्रकार तुलसीदास को जहाँ मौका मिलता है, वहाँ भूख, अकाल, महामारी और कामदेव के प्रभाव का उल्लेख कर देते हैं, कबीर 'जाति जुलाहा मति का धीर' जैसा उल्लेख कर देते हैं, वैसे ही मीरा लोकलाज, कुल की मार्यादा तोड़ने का अदबदा कर उल्लेख करती है-

"लोकलाज कुलरां मर जादां जग मां जे कणा राख्यां री।"[17]

"साज सिंगार बांध पर घूंघर लोकलाज तज नाची।"[18]

"लोकलाज की काण न मानूं।"[19]

"थारे कारण जग जग त्यागां लोकलाज कुल डारा।"[20]

मीरा ने यह भी लिख दिया था कि लोकलाज तो मैंने तोड़ दी, लेकिन इसके लिए लोग मुझे भला बुरा कहते हैं, निंदा करते हैं, तरह-तरह की बातें करते हैं। सास लड़ती है, ननद खिजाती है, लोग भी कड़वे बोल-बोलकर हंसी उड़ाते हैं, पहरा बिठाल दिया गया है, ताला जड़ दिया गया है, ताकि मीरा बाहर न जा सकें-

"हेली म्हासूं हरि बिन रह्यों न जाय।
सास लड़े मेरी ननद खिजावै राणा रह्य रिसाय।
कड़वा बोल लोक जग बोल्या कारस्यां म्हारी हांसी।
पहरो भी राख्यों चौकी बिठार्‌यो तालो दियो जड़ाय।"[21]

मीरा कृष्ण-प्रेम और स्त्री की स्वतंत्रता के लिए हजारों-लाखों कष्ट सहन करती हैं, राणा जी कहते हैं कि तुमने इस समाज में थोड़ी भी इज्जत नहीं छोड़ी है, सब जगह सत्संग कर, नाच-गाकर आदि से हमें बेइज्जत कर दिया है। कुल की मार्यादा को तोड़ा है। अब तुम घर से बाहर नहीं जा सकती हो। अगर जबरदस्ती घर से बाहर जाना चाहोगी तो तुम्हारे कमरे में ताला जड़ दिया जायेगा। मीरा किसी की बात नहीं सुनती हैं और अपने मन के अनुसार स्त्री-मुक्ति के लिए काम करती है। अपने घर, परिवार, समाज से स्वाधीनता के लिए संघर्ष करती हैं और उसमें पूरी तरह से सफल भी होती हैं। इसीलिए विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं- ''उनकी स्वतंत्रता की आकांक्षा जितनी आध्यात्मिक है, उतनी ही सामाजिक भी।''[22] गोपेश्वर सिंह के शब्दों में- ''मीरा की कविता में मध्यकाल की विषपान करती और विषाद से भरी नारी अपने पूरे अस्तित्व के साथ विद्यमान है। उनकी कविता में जो तड़प है, विरह की अंतर्दशाएँ हैं, वह उस युग का कठोर यथार्थ है।''[23]

मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में अपने विद्रोही चेतना, स्वातंत्र्य, निर्भरता, साहस, निष्पृहता व विरह-विह्वलता में कबीर ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जो मीरा के समकक्ष खड़े किए जा सकते हैं। किन्तु मीरा का संघर्ष कबीर से कई गुना अधिक है। कबीर ने जिस सरल स्वभाव से कह दिया था कि 'हर घर जालौ आपणां ...' पर मीरा के लिए तो घर के आँगन को लाँघना भी बड़ी चुनौती थी। भक्ति आंदोलन ने भक्ति का द्वार स्त्रियों के लिए खोला तो क्या, समाज के सामंती दुर्ग के विशालकाय दरवाजे तो स्त्री के लिए अब भी बंद थे, जिन पर कुल की मर्यादा और रूढ़ियों के मजबूत तालों से सांकल बंधी थी। मीरा का काव्य इस 'दुर्ग द्वार पर दस्तक' ही तो है। इसके लिए मीरा को न जाने कितनी ही बातें सुननी पड़ी- 'कड़वा बोल लोक जन बोल्या'। पर वे झुकीं नहीं, मध्यकालीन हिन्दी काव्य-जगत में 'बरजी मैं काहू की नाहि रहुं' की उद्घोषणा करने वाली एकमात्र मीरा ही तो हैं।

यह मीरा का व्यक्ति-स्वातंत्र्य, विद्रोही चेतना व संघर्ष ही है, जो उन्हें इक्कीसवीं शताब्दी की आधुनिक स्त्री-चेतना की उस दहलीज पर ला खड़ा करता है, जहाँ आत्मकथाओं के रूप में आधुनिक स्त्री का संघर्ष बिखरा पड़ा है। मैं अपनी बात महान गीतकार गुलज़ार के इन शब्दों के साथ खत्म करता हूँ- ''मीरा में मुझे ऐसी औरत दिखती है जो आज़ाद है, जिसे ख़ुद पर यक़ीन है और जो एक मज़बूत, हिन्दुस्तानी स्त्री है।''[24]

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. No.- 9425478745
Email- manish09bhu@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. रामचरित मानस, तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर।
2. मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद-9
3. वहीं, पद-14
4. मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद-46
5. मीरा स्मृति ग्रंथ, साहित्य निकेतन, अजमेर, पृ. सं. 40
6. मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद-36
7. मीरा : व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ. 202-203
8. मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद-36
9. मीराबाई की पदावली, पद-34
10. मीरा पदावली, शंभु सिंह मनोहर, पृ.सं.-124
11. मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद-46
12. मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद-46
13. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य-मैनेजर पाण्डेय
14. हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 118
15. मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद-40
16. मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद-9
17. मीराबाई की पदावली : परशुराम चतुर्वेदी, पद-17
18. वही, पद-19
19. वही, पद-35
20. वही, पद-93
21. वही, पद-45
22. वही, पद-42
23. मीरा का काव्य : विश्वनाथ त्रिपाठी
24. कथा पत्रिका-सं. अनुप, अंक-16, मई 2012, पृ.सं. 103

मीराबाई : जीवन और भक्ति सन्दर्भ

डॉ. छबिल कुमार मेहेर

मीराबाई का जन्म राजस्थान के मेड़ता राज्य के अंतर्गत कुड़की ग्राम में सन् 1498 में हुआ था। बाल्यावस्था से ही मीरा की माँ इन्हें छोड़कर चल बसीं। पिता के अधिकतर युद्ध भूमि में व्यस्त रहने के कारण इनका पालन-पोषण इनके बाबा दूदाजी ने किया, जो कृष्ण भक्त रसिक थे। इस दृष्टि से मीराबाई के हृदय में कृष्ण भक्ति के बीज बोने का श्रेय इनके दादाजी को ही जाता है। बचपन में ही प्रसंगवश दादाजी ने मीरा जी को कह दिया था कि 'तेरे दुल्हा गिरधर गोपाल' होंगे। कहा जाता है कि इस बात को मीरा जीवनभर नहीं भूलीं। यह कहना शायद गलत न होगा कि मीरा का हृदय बाल्यावस्था से ही गिरधर के प्रेम से भरा हुआ था और वे बाल्यकाल से ही गिरधर को अपने जीवन का सर्वस्व मान बैठी थीं। कहते हैं कि बचपन में मीरा की हम उम्र की सहेलियाँ जब गुड़े और गुड़ियों से खेलने लगतीं तब मीरा एकांत में बैठकर गिरधर की मूरत को निहारती रहती थीं। मीराबाई का बाल्यावस्था से ही कृष्ण भक्ति से प्रेरित होना, प्रतिरूप में कृष्ण का वरण, विदाई के समय माता-पिता के आग्रह पर गिरधर गोपाल की मूरत दहेज में माँगना आदि से उनकी अविचल भक्ति तथा अगाध कृष्ण-प्रेम का परिचय मिलता है। श्रीमद्भागवत की कथा है कि भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा से जाती हुई किसी ऋषि पत्नी को घरवालों ने रोक दिया, वही ऋषि पत्नी मीरा के रूप में अवतरित हुई। जार्ज ग्रियर्सन ने अपने इतिहास ग्रंथ 'द माडर्न वरनाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान' में मीराबाई को एक महान् कवयित्री के रूप में स्वीकार किया है :

Mira Bai the one great poetess of northern India was pouring fourth the passionate Krishna Ranchora.

मीराबाई प्रेम की साकार प्रतिमा हैं। उनका कविता-साहित्य पवित्रता, तन्मयता और संगीतात्मकता में बेजोड़ है। श्री सुमित्रानंदन पंत जी ने मीराबाई को 'राजपुताने के मरूस्थल की मंदाकिनी' कहा है।

कबीर, जायसी, सूर, तुलसी और मीरा हिन्दी साहित्येतिहास के मध्यकालीन भक्तिपरक साहित्य के पंचप्राण रहे हैं। मीराबाई ने निर्गुण परम्परा के ज्ञान व प्रेम-मार्ग को पीछे छोड़ सगुण पुष्टिमार्ग की संकीर्ण-परिधि से मुक्त होकर रागानुरागा भक्तिपरक मधुर पदों की सृष्टि की, जो उनकी आत्मा की सच्ची पुकार है। कहने का तात्पर्य है, मीरा जी ने जब कभी, जो कुछ, जिस रूप में अनुभव किया, उसे वैसे ही व्यक्त कर दिया। सहज सरल संकीर्ण परिधि से मुक्त मानवीय कामनाओं की सर्वकालिक अनुभूतियों के मधुर प्रकाशन के कारण मीरा जी के पद अन्य भक्त कवियों की गीत सृष्टि से अधिक लोकप्रिय हुआ है। मीरा जी का काव्य उन विरले उदाहरणों में हैं जहाँ एक ओर उनका जीवन और काव्य एक दूसरे में घुलमिल गए हैं वहीं दूसरी ओर इसके परिणामस्वरूप उनकी भक्ति भावना और प्रेम व्यंजना एक दूसरे की परिधि में आकर एकीकृत हो गए हैं। इस तथ्य के समर्थन में डॉ. लालबहादुर सिंह चौहान ने अपनी पुस्तक 'भक्तिमती मीराबाई का जीवन और काव्य' में लिखा है 'कृष्ण भक्ति काव्य में मीरा जी की माधुर्य भावना में जो भक्ति की सत्यता, पावनता और प्रेम की जो टीस, अनुभूति की गहराई और प्रामाणिकता पाई जाती है, वह अन्य किसी भी कवि में नहीं' उनका काव्य उनकी हृदय की दिव्यानुभूतियों का सहज भावोच्छलन है।

'मीरा के पद' के विषय में डॉ. भगवानदास तिवारी मानना है कि ''उनमें सीधे-सादे हृदय की निर्विकल्प प्रेम पुकार है, आत्मा के सनातन नारीत्व का परम पुरुष कृष्ण के प्रति प्रेमोद्‌गारों का सहज समर्पण मीरा की पवित्र आत्मा से निःसृत मधुरा भक्ति के दिव्य स्त्रोत का सरस प्रवाह तथा उनके आत्मोल्लास के पुनीत क्षणों की गहन अनुभूतियों का स्वयंस्फूर्त अलंकृत अभिव्यंजना है'' (मीरा की भक्ति और उनकी काव्य साधना)। दरअसल, मीरा की उपासना माधुर्य भाव की उपासना थी, जिसके वर्णन में मीरा जी को अद्‌भुत सफलता मिली है। भक्ति साहित्य में मधुरोपासना या मधुरा भक्ति ईश्वर के प्रति माधुर्य भाव से प्रेरित होकर की जाने वाली भक्ति साधना है, लौकिक दाम्पत्य भाव का यह अलौकिक उदात्तीकरण है। सगुण के क्षेत्र में मीरा माधुर्य भाव की उपासिक हैं। कृष्ण की कल्पना उन्होंने पति के रूप में की है। यह सम्बन्ध इसलिए आकर्षक लगता है कि मीरा नारी है। यों कबीर ने भी पदों और साखिओं में अपने को ब्रह्म की पत्नि के रूप में कल्पित किया है पर वहाँ यह सम्बन्ध उतना स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। यह ठीक है कि दोनों स्थान पर तात्पर्य प्राणी की आत्मा से ही है पर नारी हृदय की भावनाओं का चित्रण जैसा नारी कर सकती है, वैसा पुरूष नहीं। मीरा की यह उपासना गोपी-भाव की है। ऐसा लगता है कि किसी गोपी की आत्मा भटककर धरती पर आ गयी है और उसने मीरा का रूप धारण कर लिया है। हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान रामस्वरूप

चतुर्वेदी जी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का इतिहास' में ठीक ही लिखा है, मिलता जुलता नारी चरित्र होने के कारण गोपियों की विरह भावना का अध्यारोहण मीरा पर आसानी से हो जाता है। उनका काव्य सूर द्वारा विस्तार में चित्रित गोपियों की विरहोन्मुखता का ब्यौरा है। जीवन-वृत्त में ब्रज की गोपियों से और रचना धर्मिता में सूरदास से एक बारगी साम्य मीरा के पदों में अतिरिक्त तीव्रता भरता है' (पृ. 30)। मीराबाई का नाम भारत के प्रधान भक्तों में है और एक सुदीर्घ काल पर्यन्त कतिपय भक्त गाथाओं का ही विषय रही है तथा इनका उदात्तमयी गुणगान नाभाजी, ध्रुवदास, मलूकदास आदि भक्तों ने भी किया है। नाभादास कृत 'भक्तमाल' में मीरा 'सदृश गोपिका' सम सुदृढ़ निष्ठा की भूरी-भूरी प्रशंसा मिलती है—

"लोक लाज तजि मीरा गिरधर भजी
सदृश गोपिका प्रेम प्रगट कल जुग ही दिखाय।" - भक्तमाल-पदः115

और इसी सदृश गोपिका प्रेम प्रगट कलजुग ही दिखाया जैसे विशिष्ट व्यक्तित्व के आधार पर ही मीरा शताब्दियों से भारतीय जनमानस पर अंकित है। उन्होंने अपने आराध्य के प्रति अडिग निष्ठा को अनेक चमत्कार पूर्ण वर्णन द्वारा चित्रित किया है-

"मैं गिरधर रंग राती सैयाँ, मैं गिरधर रंग राती।
पंचरंग चोला पहन सखी में, झिरमिट खेलन जाती।।
लोक किरमिट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती।
जिनका पिया परदेस बसत है, लिख लिख भेजें पाती।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती न जाती।।" -मीरा के पद

भक्त कवयित्री मीराबाई कृष्ण प्रेम की अनन्य प्रतिमूर्ति थी और वे उन गिरधर गोपाल के अतिरिक्त अन्य किसी को भी अपना मानती हुई नहीं जान पड़ती-

"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।।" -मीरा के पद

एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि 'जनम-जनम के कारी मीरा' इसका तात्पर्य यह हुआ कि अपने विवाह को मन से उन्होंने कभी स्वीकर ही नहीं किया था। जनश्रुति है कि वृन्दावन पहुँचकर मीराबाई ने प्रसिद्ध वैष्णव जीव गोस्वामी से भेंट करनी चाही। जीव गोस्वामी ने कहला भेजा कि स्त्री मुख न देखने की अपनी प्रतिज्ञा के कारण वे उनसे मिलने में असमर्थ हैं। मीरा ने प्रत्युतर में कहला भेजा कि 'आज तक तो मैं यही जानती थी कि वृंदावन में केवल एक ही पुरुष कृष्ण हैं- आज यह

भी ज्ञात हुआ कि एक अन्य पुरुष भी हैं।' उत्तर के गांभीर्य से प्रभावित और अपनी संकुचित मनोवृत्ति से लज्जित हो जीव गोस्वामी नंगे पाँव मीरा के दर्शन को दौड़ पड़े।

सांसारिक बंधन, लौकिक प्यार, सुख, सम्बन्ध सब उनके आगे क्षणस्थायी और मृगमरीचिका के समान प्रमाणित हुआ। उन्होंने अपने प्राणों में अलौकिक प्रभु का प्यार बसा रखा था। इसलिए वे गा उठीं

"ऐसे वर को के करूँ जनमे और मर जाय।
वर वरियो एक साँवरो मोरी चूड़ली अमर हो जाय।" -मीरा के पद

गिरधर गोपाल के प्रति मीरा जी का यह प्रेम कि प्रतिक्षण उनके हृदय में एक संगीत लहर उठा करती थी। यही कारण है कि वे खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते हर एक समय उनका हृदय उनके गिरधर के नाम की माला जपा करता था। परिणामस्वरूप उन्हें सपने में भी गिरधर गोपाल जी मिल जाते थे-

"मीरा को गिरधर मिला जी, पूर्व जनम के भाग।
सुपने में म्हाँरे परण गया जी, हो गया अचल सुहाग।।" -मीरा के पद

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि मीरा जी का हृदय गिरधर गोपाल के प्रेम में मतवाला तो था ही साथ में अपने आराध्य के प्रति अडिग निष्ठा की साहसिक अभिस्वीकृति का भाव भी उनमें समाहित था। यही कारण है कि राणा विक्रमादित्य की क्रूरता और उनके द्वारा दी गई अनन्त पीड़ा भी मीरा को कृष्ण प्रेम से विमुख नहीं कर सकी। यह तो कृष्ण की अनन्य की थी, इसलिए सासूजी के कहने पर भी उन्होंने गौरी पूजा नहीं किया-

"नहीं हम पूज्या गौर ज्यों जी नहीं पूजा अनदेव
परम सनेही गोविन्दी थे काँई जारो म्हारा भेष।" -मीरा के पद

इतना ही नहीं साधु महात्माओं के प्रति अगाध श्रद्धा एवं ममता ही मीरा की विशिष्टता बतलाई गई है। नाथ पंथी साधु और निर्गुण संतों के साथ मीरा का समागम था। अपने पदों में आराध्य-विरह की मालमक अभिव्यक्ति के साथ ही 'जग-हँसी' और 'कुल-मर्यादा' की उपेक्षा कर, बन्धु बाँधवों को त्यागकर आराध्य के प्रति पूर्णतः समर्पित हो जाने की तीव्र लालसा का स्वर सतत् गुंजरित है-

"लाज छाँड़ि मीरा गिरधर भजी करी न कछु कुल कानि,
साई मीरा जग विदित प्रकट भक्ति की खानि।
नृत्यति नूपुर बाँधिकै, नाचत लेकर तार,
विमल होयो भक्तिनि मिलि, तृण सम गणि संसार।।" -मीरा के पद

इतना ही नहीं, मीराबाई की रचनावली से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे सगुणोपासक तथा निर्गुण पंथ संत दोनों के ही प्रभाव से न्यूनाधिक प्रभावित थीं और उत्त दोनों प्रकार के साधकों के साथ सत्संग करने का सुअवसर उन्हें मिला था। कबीर के गुरू भाई चर्मकार संत रैदास या रविदास को मीरा जी ने अपना गुरु स्वीकार किया है-

"म्हांरो गुरु रैदास हैं सजनी म्हांरी हे।
पढ़े सुने फल होय पिय म्हांरी गिरधरी।।" -मीरा के पद

इसी पद के आधार पर डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने 'योग प्रवाह' में लिखा है- "उस पर (मीरा पर) निर्गुण भावना का रैदास रंग चढ़ा हुआ था। उनकी सगुण भावना निर्गुणोपासना का प्रतीक मात्र थी। यह कबीर की निर्गुण भावना के साथ सर्वथा मेल में है। उसी तात्पर्य के सहित कबीर के प्रायः सभी शब्दावली मीरा से मिलती है। कबीर से यदि मीरा में कोई अंतर है तो यही कि मीरा को मूलतयों से चिढ़ नहीं।" (पृ. 143)

मगर हमें यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि मीरा की भक्ति के आलम्बन केवल गिरधारी गोपाल कृष्ण ही हैं। इस संदर्भ में काका कालेलकर का यह कथन सटीक जान पड़ता है- 'मीरा की साधना शुरू से लेकर आखिर तक प्रेम साधना ही है, मैं नहीं मानता कि इस प्रेम साधना की मीरा ने किसी से दीक्षा ली होगी। अगर ली है तो प्रत्यक्ष गिरधर नागर से ही ली है?' (भक्तिमती मीरा का आराध्य प्रेम, मंगल प्रभात से)। इस दृष्टि से मीरा जी की भक्ति को 'प्रेम लक्षणा भक्ति' कहना अधिक सार्थक जान पड़ता है। वह परमात्मा को अपना पति समझती थीं और उनके (परमात्मा) अतिरिक्त किसी को पुरुष नहीं मानती थीं। उनकी कविता एक भुक्त-भोगिनी के हृदय की सच्ची कहानी है। उन्होंने योगियों की विचारधारा, संतों की प्रणाली, वैष्णवों की सौंदर्य-प्रियता और लोकजीवन की अकृत्रिम सरलता को अपने जीवन काव्य में एक साथ समेट लिया है। उनका जीवन और काव्य इन सबका संगीत वेदांत है।

कुछ आलोचकों ने उन्हें 'रहस्यवादी' भी प्रमाणित करने की कोशिश की है। इसमें कोई दो राय नहीं कि उनकी कविताओं में अगम देस, त्रिकुटी, हंस, सुन्न महल आदि शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है, परन्तु इससे वे रहस्यवादी नहीं हो जातीं। निर्गुण के उपासक ही रहस्यवादी कहलाते हैं, सगुणोपासक भक्त नहीं। भक्त और आराध्य, आत्मा और परमात्मा के बीच सदैव एक प्रकार की आँख मिचोनी हुआ तो करती ही है। बावरी मीरा का प्रेम सूक्ष्मता की पृष्ठभूमि में सजाया गया उच्चतम भाव राशि है। विरह की थाली में अपने 'सांवलिया गिरधर नागर' की

पावन आरती उतारना ही मीरा के प्रेम दर्शन का मूल उत्स और अभिप्राय है-

'मीरा को रंग लाग्यो हरि कौ, और सब रंग अटक परी।'

मीरा प्रेमयोगिनी प्रेम पथ पर इतना बढ़ जाती हैं कि वहाँ से पीछे लौटना संभव नहीं। यहाँ मीरा की 'अबला' गिरधर के बल पर ही पूर्णतः आश्रित हो जाती है-

"री म्हांरा पार निकल गयां सांवरे मारया तीर
चंचल चित चल्याँ न चलाँ बांह्या प्रेम-जंजीर।।" -मीरा के पद

मीरा का यह प्रेमतत्त्व परम सौन्दर्यमय सत्य के चिरंतन साक्षात्कार और सानिध्य की स्वानुभूतिमयी वाणी है। इस प्रकार मीरा और कृष्ण का सम्बन्ध प्रणय मूलक तो है ही उसकी प्रेमभावना लौकिक से अलौकिक की ओर बढ़ती गई है। लौकिक विषाद भी उसकी साधना में घुल-मिलकर प्रेम का प्रसाद हो गया है। मीरा जी की प्रेम भावना उनकी शुद्ध आत्मानुभूति का पवित्र तत्त्व है जिसके एक ओर गीति काव्य का औदात्य है तो दूसरी ओर किसी दर्शन व कला की अतिशयता से मुक्त। इतने पर भी मीरा का काव्य प्रणय की सिद्धि का नहीं, उनकी साधना का काव्य है, क्योंकि वियोग प्रणय की साधना है, संयोग उसकी सिद्धि। वियोग ही प्रणय साधना का केन्द्र बिन्दु है और मीरा का विरह अपने ढंग का अकेला है। वह देह के सामीप्य का नहीं, भावना के साहचर्य का सुपरिणाम है-

"तनिक हरि चितवां म्हारी ओर।
हम चितवां थे चितवों ना हरि, हिबड़ो बड़ो कठोर।।
म्हारी आसा चितवण धरी, और न दूजा ठोर।
उश्यां ठाढ़ी अरज करुँ छूँ, करतां भरतां भोर।।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी, देश्यूं प्राण अंकोर।।" -मीरा के पद

मीरा की विरह-वेदना हमारे संवेदनशील हृदय को अनायास छू लेती है, मानों उनके अन्तर की व्यथा को अपनी पूरी गहराई और व्यापकता में जैसे हम स्वयं अनुभव करने लगते हैं। मीरा की व्यथा की संप्रेषणीयता का मूल कारण है उनकी अभिव्यक्ति की आडम्बर हीनता। अपनी सहज अनुभूति को तकनीक के आवरण में बिना बांधे वह कह उठती हैं-

"हे री, मैं तो दरद दिवानी, मेरे दरद न जाने कोइ।
घायल की गति घायल जानै, की जिन लाई होइ।
जौहर की गति जौहरी जाने, सोवणा किस बिध होई।
गगन मंडल पै सैज पिया की, किस विध मिलता होइ।।"-मीरा के पद

"दरद की मारी वन-वन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोइ।
मीरा की तब पीर मिटै जब बैद सांवलिया होइ।।" -मीरा के पद

मीरा जी का यही प्रेम तत्व ही उनके जीवन व कविता को अधिक मधुर, संवेदनशील एवं उदार बनाता है। अपनी मानवीय अनुभूति के मालमक स्वर, अपनी सूक्ष्मता, अनन्यता तथा संवेदनशीलता के कारण तद्युगीन महत्तम काव्य चेतना की तुलना में समान तो है ही, रसात्मक भी है। उसकी भूमिका आध्यात्मिक के साथ लौकिक भी है। अतः कहा जा सकता है कि मीरा के प्रेमतत्व में लोक और परलोक का, राग और करुणा का, प्रेम और भक्त का, आस्था और कविता का दर्शन और दिग्दर्शन का, स्वानुभूति और दिव्यानुभूति का सुंदर समन्वय देखने को मिलता है।

हिन्दी अधिकारी,
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. No.- 8989154228
Email- hindicell2015@gmail.com

भ्रातृत्व के आदर्श : राम और भरत

डॉ. सरोज गुप्ता

विश्व इतिहास में श्रीराम का चरित्र मानवता के प्रतीक पुरुष के रूप में सदैव स्मरणीय रहेगा। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने परिवार व समाज में ऐसे उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत किये, जो इस विश्वधरा पर जन-जन के लिए स्पृहणीय हैं। श्रीराम जैसा विजेता सम्पूर्ण संसार में कोई नहीं है। उन्होंने अपने अद्‌भुत पराक्रम, व्यवहार कुशलता, सहिष्णुता, विनयशीलता, धैर्य, त्याग के आदर्श व अलौकिक बल से रावण जैसे आततायियों को उनके सहयोगियों को न केवल मार गिराया, वरन् सम्पूर्ण विश्व में सुख, आनन्द और शान्ति की लहर व्याप्त कर दी। श्रीराम ने किसी देश पर अधिकार नहीं किया, फिर भी विश्व विजयी रहे। आज के मेडागास्कर द्वीप से लेकर आस्ट्रेलिया तक के द्वीप, श्रीलंका, वर्मा, मलेशिया तक में श्रीराम की चर्चा लक्ष्मण, सीता, हनुमान, भरत, राजा दशरथ व रानी कौशल्या को आज भी याद करते हैं। श्रीराम का जीवन आज भी लोगों के लिए प्रेरक है।

श्रीराम श्रद्धा हैं, आस्था हैं, धर्म हैं। जन-जन के स्वाभिमान का प्रतीक है। व्यक्ति को परिवार व समाज में किस प्रकार रहना है, अपने जीवन को कैसे सार्थक बनाना हैं, मूल्यपरक जीवन जीने, सही मार्ग दिखाने व उस पर चलने का संदेश देने वाला श्रीराम का चरित्र ऐसा जीवंत दस्तावेज है, जिसे महर्षि वाल्मीकि व गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने-अपने युग के अनुरूप रामायण व रामचरितमानस में प्रस्तुत किया। श्रीराम का सम्पूर्ण जीवन मानवता की ऐसी प्रयोगशाला है; जहाँ छोटा भाई भरत राज्याभिषेक की घोषणा होने के बाद भी स्वयं राजा नहीं बनता वरन् चरण पादुकायें रखकर जमीन के अन्दर कुटिया बनाकर इस प्रकार रहता है कि बड़े भाई के चरण इस धरती पर जब-जब चलेंगे तब-तब मेरे सिर पर उनके चरण होंगे। नन्दीग्राम में चौदह वर्ष तक तलघर में तपस्या करने वाले भाई भरत धन्य हैं, जिन्होंने भ्रातृप्रेम का अद्‌भुत आदर्श प्रस्तुत किया; तभी तो गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं-

"चन्द चवै बरू अनल कन, सुधा होई विष तूल।
सपनेहुँ कबहुँ न करहि कछु, भरत राम प्रतिकूल।।"

—श्रीरामचरितमानस (2/48/0)

भले ही चन्द्रमा से अग्नि गिरने लगे, अमृत विष में परिवर्तित हो जाए परन्तु भरत जी स्वप्न में भी राम के प्रतिकूल नहीं हो सकते। भरत जैसा त्यागी भाई इस संसार में दुर्लभ है। आज लोग पद प्रतिष्ठा के लिए एक-दूसरे के रक्त के प्यासे हैं, वही भरत जी का आचरण और चरित्र हमें दायित्वों को हँसते-हँसते निभाना सिखाता है। बड़े भाई के प्रति श्रद्धा, भक्ति, निःस्वार्थ प्रेम के साथ त्याग का अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत करता है।

इस संदर्भ में तुलसी बाबा कहते हैं कि-

"जो न होत जग जनम भरत को, सकल धरम धुर धरनि धरत को।"

-श्रीरामचरितमानस (2/232/1)

अगर भरत का जन्म न होता तो इस धरती पर धर्म के चक्र को कौन धारण करता। भरत जी का चरित्र समुद्र सी गहराई लिए अगाध है, बुद्धि की सीमा से परे है। लोक आदर्श का श्रेष्ठ व अद्‌भुत समिश्रण है और भाई-भाई के प्रति अटूट प्रेम की सजीव प्रतिमूर्ति है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने मुगलकाल के टूटते-बिखरते खंडित आदर्शों को मंडित करने के कबीर के समाज सुधार अभियान को साकार करने के लिए रामचरितमानस में ऐसे अद्‌भुत चरित्रों को रचा है जिनका अनुकरण करना प्रत्येक परिवार के प्रत्येक सदस्य के लिए सर्वोपरि है। श्रेष्ठ परिवार व समाज महान देश के निर्माण में महती भूमिका निभा सकता है; आवश्यकता है राम और भरत जैसे श्रेष्ठ चरित्र को अपने जीवन में अपनाने की। पिता की मृत्यु व राम वनगमन से व्यथित भरत राम को मनाने के लिए चल पड़ते हैं। सारी प्रजा पीछे-पीछे, भरत आगे-आगे...। भरत से रथ पर बैठने के लिए कहा जाता है। भरत स्वयं राम का सेवक बताते हुए कहते हैं कि-

"सिर भर जाऊँ उचित अस मोरा। सबते सेवक धरम कठोरा।"

-(श्रीरामचरितमानस-2/48/0)

मेरे लिए तो उचित यह है कि मैं सिर के बल चलकर जाऊँ, क्योंकि सेवक का धर्म बड़ा कठोर होता है। सेवक के चरित्र में विनम्रता, विनयशीलता सबसे बड़ा गुण है, जिसे भरत जी ने आजीवन निभाया यद्यपि, भरत और राम देखने में एक जैसे थे। कभी-कभी उनकी माताओं तक को भ्रम हो जाया करता था फिर आदर्शों

में भरत राम से कैसे कम रह सकते हैं। पिता दशरथ कैकेयी से कहते हैं कि हे कैकेयी! तू जिस भरत के लिए राज्य के निमित्त राम को वनवास दिला रही हो वह बिना राम के किसी प्रकार के राजसिंहासन पर नहीं बैठ सकता क्योंकि यह राम से भी अधिक धर्म में प्रबल है; भरत जैसे भाई सभी नहीं होते। भरत का सम्पूर्ण जीवन राम की तरह महान उच्च आदर्शों से ओत-प्रोत व अनुकरणीय रहा है।

वाल्मीकि रामायण में भरत माता कैकेयी से कहते हैं- हे पापे! मैं उस महा बलवान राम को लाकर स्वयं वन चला जाऊँगा। तूने बड़ा पाप किया है। मैं आँसुओं से भरे प्रजाजनों के आदर्श राम को नहीं छोड़ सकता। तू अग्नि में प्रविष्ठ हो जो, स्वयं दण्डक वन में चली जा या कण्ठ में रज्जु बाँधकर फाँसी लगा लें। तुलसीदास जी कहते हैं कि–

"भरत अमित महिमा सुन रानी। जानहिं रामु न सबहिं बखानी।"
-श्रीरामचरितमानस (2/288/2)

"निरवधि गुण निरूपम पुरूष भरत-भरत सम जानि।
कहिय सुमेरू कि शेर सम कवि कुल मति सकुचानि।।"
-श्रीरामचरितमानस (2/288/0)

"सुमिरत भरतहिं प्रेम राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को।।"
-श्रीरामचरितमानस (2/303/3)

इस प्रकार भरत के बिना राम का जीवन, अधूरा प्रतीत होता हैं। भरत जी के चरित्र में कर्म, ज्ञान और भक्ति की जो त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है वह अद्‌भुत है। राम की वाक्‌पटुता देखिये, वे माँ कैकेयी से कहते हैं कि माँ आपने छोटी वस्तु छीनकर मुझे बडी वस्तु दे दी है-

'मुनि गन मिलतु विशेषि वन, सबहि भाँति हित मोर।'

वन में विचरण करते समय ऋषि, मुनियों से मेरी भेंट होगी जो हमारे लिए परम हितकारी है। श्रीराम कहते हैं कि मुझे वनवास देकर पिता का धर्म बच गया। माता का हित हो गया और भरत को राज्य मिल गया-

"तात वचन पुनि मात हित, भाई भरत अस राउ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु, सबु मम पुण्य प्रभाऊ।।"
–श्रीरामचरितमानस (2/125/0)

इस प्रकार बंटवारे में सबसे अधिक लाभ मुझे ही हुआ है। मैं पुण्यात्मा हूँ जो ऋषि-महर्षियों का सान्निध्य व दर्शन लाभ मिलेगा-'पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न

संता', पुण्य की पराकाष्ठा से ही सन्तों का सानिध्य लाभ प्राप्त होता है। भक्त चाहते हैं कि भगवान प्रकट हों और भगवान चाहते हैं कि भक्त का प्रेम समाज के सामने प्रकट हो। इस प्रकार राम और भरत दोनों का चरित्र हम सबके लिए स्पृहणीय है। वनगमन से राम दुखी नहीं है वरन् पूर्वजन्मों के पुण्यों का प्रताप मान रहे हैं। वहीं भरत स्वयं को रामवनगमन का निमित्त मानकर आत्मग्लानि से पीड़ित हैं। बड़े भाई राम पर उनकी श्रद्धा, भक्ति और प्रेम इतना प्रगाढ़ था कि वे इस दुख के भार को सहन नहीं कर पा रहे थे वे कहते हैं-

"को त्रिभुवन मोहि सरिस अभागी, गति असि तोरि मातु जेहि लागी।।
पितु सुरपुर बन रघुवर केतू, में केवल इस अनरथ हेतू।
धिग मोहि भयऊँ बेनुवन आगी, दुसह दाह दुख दूषन भागी।।"

-श्रीरामचरितमानस (2/163/6-8)

भरत जी रह-रहकर सोचते हैं कि मैं किस-किस को क्या-क्या बताऊँ? लोक की दृष्टि से अपने आपको निष्कलंक कैसे सिद्ध करूँ? वे कहते हैं- क्यों हौ आज होत सुचि सपथनि, कौन मानिहै साँची। मैं कितनी भी सौगन्ध लूं मगर मेरी बात कोई सच नहीं मानेगा।

'जो पै हौ मातु मते मह हवैं हौं।
तौ जननी जग में या मुख की कहौं कालिमा ध्वै हौं।'

भरत माँ कैकेयी से कहते हैं कि वर माँगते समय तुम्हारे मन में जरा भी दुख नहीं हुआ।

'वर माँगत मन भई न पीरा, गरि न जीव मुँह परेऊ न कीरा।
एसे तै क्यों कटुवचन कहयो री
राम जाहु कानन, कठोर तेरे कैसे धे हृदय रह्यो री।
दिनकर वंश, पिता दशरथ के राम लखन से भाई।
जननी तू जननी तौ कहा कहौं? विधि केहि खेरि न लाई।'

इस प्रकार से भरत की हृदयगत वेदना को महसूस किया जा सकता है। भरत के भ्रात प्रेम का उदाहरण उत्कृष्ट है। भरत के इन शब्दों से कैकेयी का पश्चाताप जागृत होता है और मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में वे कह उठती हैं-

'यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को, चौंके सब सुनकर अटल कैकेयी स्वर को।
बैठी थी अचल तदापि असंख्य तरंगा, वह सिंहनी अब थी हहा गौमुखी गंगा।।
हाँ जानकर भी मैंने न भरत को जाना। सब सुन ले तुमने स्वयं अभी यह माना।
यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ तो पति समान ही स्वयं पुत्र मैं खोऊँ।।

करके पहाड़ सा पाप मौन रह जाऊँ, राई भर भी अनुताप न करने पाऊँ।
युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी, रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।।
छल किया भाग्य ने मुझसे अयश देने का, बल दिया उसी ने भूल मान लेने का।
यह सुन प्रभु के साथ सभी चिल्लाई। सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।
निज जननी ने जना भरत सा भाई। सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।।'

भरत की माँ कैकेयी द्वारा निन्दित कर्म करने से लेकर पश्चाताप तक का वृतान्त अत्यन्त मार्मिक है। भरत का चरित्र हर परिवार, समाज के लिए उदाहरण है। भरत जैसे भाई आज हमारे परिवारों में रहें तो घर सुखमय व स्वर्ग के समान हो सकता है। राम की कथा वर्तमान समय की माँग है। श्रीराम का चरित्र जितना उनके समय प्रासंगिक था उतना ही आज प्रासंगिक है।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
पं. दीनदयाल उपाध्याय
शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. 9425693570
Email- sarojgupta1234@gmail.com

रामकथा का कालजयी ग्रन्थ 'श्रीरामचरितमानस'

डॉ. घनश्याम भारती

गोस्वामी तुलसीदास भक्तिकाल की रामकाव्य परंपरा के प्रमुख कवि माने जाते हैं। उन्होंने 'रामचरितमानस' जैसा विश्व ग्रन्थ लिखकर रामकथा को सार्थक बनाया है। 'मानस' में तुलसी ने 'दोहा-चौपाई' शैली में राम का जो चरित्र प्रस्तुत किया है वह विश्व साहित्य में अद्वितीय है। सम्पूर्ण भारत तथा विश्व में रामकथा के क्षेत्र में श्रीरामचरित मानस का स्थान सर्वोपरि है। चाहे श्रीमद्भागवत कथा वाचन हो या प्रवचन हो, जहाँ भी रामकथा का प्रसंग होता है वहाँ 'रामचरितमानस' की दोहा, चौपाईयाँ, छंदों का गायन अवश्य होता है, क्योंकि विश्व कवि तुलसी ने इस ग्रन्थ में संगीतात्मकता को भी प्रमुख स्थान दिया है। अखण्ड रामायण का पाठ, नवदुर्गोत्सव में सम्पूर्ण रामायण का पाठ भारतीय संस्कृति में आस्था, प्रेम तथा कार्यसिद्धि हेतु रामचरितमानस का सदुपयोग होता है।

गोस्वामी तुलसीदास को असाधारण ज्ञान, लोकानुभव तथा छंदशास्त्र के साथ-साथ रामकथा का वृहद् अनुभव था, इसीलिए उनकी रामकथा तथा उनके द्वारा रचित 'श्रीरामचरितमानस' को रामकथा का प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। श्री ज्ञानेन्द्र कुमार पाण्डेय के शब्दों में- "गोस्वामी तुलसीदास का लोकानुभव अत्यंत व्यापक था। वे सच्चे अर्थों में व्युत्पन्न कवि थे। लोक काव्यशास्त्र आदि के अनुशीलन से उनका अनुभव परिपूर्ण हो गया था। यदि उन्हें लोक हृदय की पहचान न होती तो वे भावुक कवियों की कोटि में अग्रगण्य न होते। जीवन के नाना क्रिया व्यापार एवं स्थिति-परिस्थितियों में मानव कब क्या सोचा करता है इसका उन्हें विधिवत् ज्ञान था। तभी उनकी रामकथा के पात्र कहीं भी मर्यादा या औचित्य निर्वाह में स्खलित नहीं होते।"[1] रामसजन पाण्डेय लिखते हैं- "तुलसी ने रामकथा को जिस ऊँचाई तक पहुँचाया उसी के सफल रूप में यह जन-जन का हृदय हार बनी। उन्होंने रामचरितमानस जैसे भारतीय संस्कारों के महाकाव्य की रचना कर रामकथा की श्रीवृद्धि की है।"[2]

'रामचरितमानस' रामकथा का अद्वितीय महाकाव्य है, इसमें सात काण्ड हैं। इस ग्रंथ की रचना सं.1631 से मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष संवत् 1633 (दो वर्ष सात माह छब्बीस दिन) में हुई। रामचरितमानस की रचना के संदर्भ में विश्वकवि गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं-

"संवत् सोलह सौ इकतीसा। करऊँ कथा हरिपद धरि सीसा।।"

इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य के विषय में भी गोस्वामी जी ने कहा है-

"एहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।।"[3]

इस ग्रन्थ में चौपाईयों की संख्या 9202, दोहा 1169, सोरठा 87, विविध छंद 235 और संस्कृत श्लोक 27 हैं। अब तक विश्व की 76 भाषाओं और 25 लिपियों में रामचरितमानस का अनुवाद हो चुका है।

'रामचरितमानस' में रामभक्ति के साथ-साथ समन्वय की विराट चेष्टा के दर्शन भी होते हैं। इसमें 'नवधा भक्ति' जैसे सुन्दर प्रसंग को भी रखा गया है जोकि प्रभु श्रीराम द्वारा माता शबरी को दी जाती है। पारिवारिक सम्बन्धों के साथ-साथ नैतिक ज्ञान, भगवद् भक्ति, गुरू सेवा, सब कुछ इस ग्रन्थ में समाहित है। देवर्षि कलानाथ शास्त्री के शब्दों में- "सन्त तुलसीदास ने अपनी रामकथा का मूल आधार वाल्मीकि रामायण को रखा है लेकिन कुछ प्रसंग इसमें वाल्मीकि रामायण के अलावा अन्य ग्रन्थों से तुलसी ने लिये है इसलिए तुलसी द्वारा निबद्ध रामकथा समूचे भारत की संजीवनी बनी हुई है। नगर-नगर और गाँव-गाँव रामलीलाओं द्वारा, मानस पारायणों द्वारा, हनुमान चालीसा के मंत्र जाप द्वारा जनमानस को जो सांस्कृतिक अमृत प्राप्त हो रहा है वह सर्वविदित है।"[4]

तुलसी को 'रामचरितमानस' लिखने का उद्देश्य 'राम का चरित्र' लिखना था अतः चैत्र मास की नवमी को अयोध्या में तुलसी ने इस ग्रन्थ को लिखना प्रारंभ किया, इसी दिन त्रेता युग में राम का जन्म भी हुआ था इसीलिए यही शुभ दिन तुलसी ने 'मानस' की रचना के शुभारंभ हेतु चुना।

"नौमी भौमबार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।।
जेहि दिन राम जनमु श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।।
विमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा।।"[5]

रामकथा तथा भगवान राम के अवतार के संदर्भ में भी तुलसी ने मानस में लिखा है-

"जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना।।"[6]
"रामकथा कै मिति जगनाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मनमाहीं।।"[7]

"नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा।।"[8]

'रामचरितमानस' में रामकथा की उद्‌भावना के संबंध में तुलसी आगे लिखते हैं–

"रामचरित मानस एहिनामा। सुनत श्रवन पाइअ विश्रामा।।
एहि मँह रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।।"[9]
"भव सागर चह पार जो पावा। रामकथा ताकहँ दृढ़ नावा।।
विषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा। श्रवन सुखद अरू मन अभिरामा।।
मनकामना सिद्धि नर पावा। जो यह कथा कपट तजि गावा।"[10]
संसृति रोग संजीवन मूरी। रामकथा गावहिं श्रुति सूरी।।[11]

'रामचरितमानस' की रामकथा में मंदाकिनी जैसी पवित्र नदी, चित्रकूट जैसा पवित्र स्थान है, जिसके संबंध में तुलसी बालकाण्ड में लिखते हैं कि–

"रामकथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारू।
तुलसी सुभग सनेह बन, सिय रघुवीर बिहारू।।"[12]

इस प्रकार तुलसी ने अपनी उन्मुक्त कल्पना से रामकथा का 'श्रीरामचरितमानस' में जो स्वरूप गीतात्मक शैली तथा अवधी भाषा में प्रस्तुत किया वह भारतीय संस्कृति के प्रत्येक जनमानस को प्रेरणा का केन्द्र बिन्दु रहा है। स्वान्तः सुखाय तथा बहुजन हिताय को दृष्टिगत रखते हुए यह ग्रन्थ जन-जन के हृदय तथा कंठ का हार बना हुआ है। रामचरितमानस के प्रणयन में तुलसी का दृष्टिकोण सर्वमंगलकारी है जिसका उद्देश्य जगत् का सामाजिक एवं आध्यात्मिक उत्थान प्रतिबिम्बित होता है। इस ग्रन्थ में उन्होंने संस्कृति के विभिन्न तत्वों को आत्मसात कर उज्ज्वलता प्रदान की तथा राम-कथा के माध्यम से समाज को नीति-भक्ति का पाठ पढ़ाया, साथ ही गुरूजन, विविध देवी-देवताओं, चर-अचर जीवधारियों की स्तुति करते हुए 'श्रीरामचरितमानस' को समर्पित किया।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
शास. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गढ़ाकोटा,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. 09893747806
E-mail : dr.ghanshyambharti@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. ज्ञानेन्द्र कुमार पाण्डेय का लेख, तुलसी-सौरभ, तुलसी मानस संस्थान, जयपुर, अप्रैल-मई 2011, पृ.7
2. डॉ. रामसजन पाण्डेय, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लक्ष्मी पब्लिशिंग हाउस, रोहतक, सं. 2002, पृ.189
3. गोस्वामी तुलसीदास, श्रीरामचरित मानस, 1/33/2, गीता प्रेस गोरखपुर
4. देवर्षि कलानाथ शास्त्री का लेख, तुलसी-सौरभ, अप्रैल-मई 2015, तुलसी मानस संस्थान, जयपुर, पृ.9
5. गोस्वामी तुलसीदास, श्रीरामचरितमानस, 1/34/6, गीता प्रेस गोरखपुर।
6. वही, 1/113/4
7. वही, 1/32/5
8. वही, 1/32/6
9. वही, 1/9
10. वही, 7/52/5/7
11. वही, 7/128
12. वही, बालकाण्ड, दोहा-31

सूरदास के काव्य में भक्ति की लहरें!

अवधेश कुमार

"साहित्य-संगीतकलाप्रवीणः श्रीनाथसेवानिरतश्च शाश्वत्।
सुदृष्टिहीनोऽपि हि दिव्यदृष्टिर्हर्यङ्घ्रिभृङ्गः कविसूरदासः।।"

-सूरग्रंथावली

भारतीय इतिहास का मध्यकाल हिन्दी साहित्य में 'भक्तिकाल' के नाम से जाना जाता है, जो भक्ति का समृद्धतम युग है। भाव, विचार, संवेदना और शिल्प आदि की दृष्टि से भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्णकाल है। वस्तुतः 'भक्ति' का प्रस्थान लोक में अतिप्राचीन है, जिसके बीज पुराण-काल में अवस्थित हैं, जो कालान्तर में भागवत-धर्म के विशाल वट-वृक्ष के रूप में परिलक्षित होता है। इसी वृक्ष के नीचे बैठकर ज्ञानी, संत, आचार्य, भक्त, दार्शनिक, चिन्तक एवं कवि आदि लोक कल्याण के प्रति सदैव चिन्तन-मनन करते रहे। भक्ति रूपी वृक्ष की शीतल छाया का जो अनुभव भक्तिकाल के कवियों ने प्राप्त किया, वह सारे संसार को अपनी भाषा में कह डाला। निःसंदेह भक्ति की यह परम्परा अटूट थी, इसलिए पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्त कवि सूरदास तक पहुँच पायी। भारतीय इतिहास को देखा जाय तो 15-16 वीं शताब्दी का समय सामाजिक अशान्ति का काल था। मुसलमानों के अनियंत्रित राज्य-सत्ता के दुष्परिणाम हिन्दू-धर्म और समाज दोनों को प्रभावित किया। इतना ही नहीं, उनकी शासन की नींव ही धर्म पर टिकी थी; इसलिए मूल से ही धर्म के रहने या न रहने का डर निर्मित हुआ, लेकिन भक्तिकाल में सूरदास तक इस परिस्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका था।

देखा जाय तो भक्तिकाल के प्रबल और प्रतिकूल वातावरण के तूफान में भक्ति और ज्ञान का द्वीप प्रज्ज्वलित रखने का कार्य आचार्यों, संतों, भक्तों और कवियों ने किया। भक्त सूरदास को भी ऐसे ही एक महान गुरू बल्लभाचार्य का सम्पर्क और मार्गदर्शन मिला, जिनके प्रसाद से वे अपने युग के भक्त, कवि और समाज सुधारक तीनों रूपों में सुशोभित हुए। इनका सामाजिक दर्शन आख्यानक

प्रसंगों के माध्यम से व्यक्त हुआ है तथा इनकी वैचारिक अभिव्यक्ति का ढंग अन्य कवियों से भिन्न रहा। कहा गया है कि- "कबीर घाव पर सीधे नश्तर लगाते हैं और चीर-फाड़कर रख देते हैं। सूर पके घाव में सूई चुभाते हैं और मवाद बहा देते हैं। छुआ-छूत, वर्ग-भेद आदि पर कबीर की लाठी-मार शैली सूर के लिए निरर्थक है। सूर की शैली हास-परिहास के कथात्मक सन्दर्भ द्वारा अनुभूति और संवेदना की घूँटी पिलाकर रोग का उपचार करने की है।"[1]

यदि हम सूरदास के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में बात करें तो अभी तक निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हो पाया है। साहित्य जगत के अधिकतर विद्वानों का मानना है कि इनका जन्म वैशाख शुक्ल पंचमी, संवत् 1535 विक्रमी अर्थात् सन् 1478 ई. में दिल्ली के निकट 'सीही' नामक स्थान पर हुआ तथा कुछ अन्य विद्वान इनका जन्म आगरा के पास 'रूनकता' एवं मथुरा के 'परासौली' में भी मानते हैं। इनकी मृत्यु सन् 1583 ई. में मथुरा में चन्द्र सरोवर के पास 'परासौली' में हुई थी। 'साहित्य लहरी' के एक पद में इन्होंने यह स्वीकार किया है कि वे 'पृथ्वीराज रासो' के रचयिता चन्दबरदायी के वंशज हैं। सूरदास जन्म से सिलपट अंधे थे। इनके जीवन के सम्बन्ध में 'भक्तमाल' में केवल एक ही छप्पय है, जिसमें सूरदास के अंधे होने का प्रमाण मिलता है-

"उक्ति चोज अनुप्रास बरन अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्‌भुत तुकधारी।।
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि, हृदय हरिलीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी।।
बिमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरै।
सूर कबित सुनि कवि जो नहि सिर चालन करै।।"[2]

कहा जाता है कि ये भी कबीर की भाँति श्रुति शास्त्र एवं लोक मर्मज्ञ थे। सूरदास ने स्वयं कुछ भी नहीं लिखा, बल्कि इनके काव्य-पदों को उनकी भाषा के मर्मज्ञ सहयोगियों, भक्तों और शिष्यों ने लिपिबद्ध एवं संग्रहीत किया। सूरदास का जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था, जो अपने चार भाईयों में सबसे छोटे थे। इनके बारे में यह भी प्रसिद्ध है कि ये बचपन से ही एक अच्छे शकुन विचारक एवं ज्योतिषी रहे हैं। इनके पिता सारस्वत ब्राह्मण थे, जो भागवत के कथावाचक के रूप में विख्यात थे। बचपन से ही इनके जीवन पर पिता के साथ रहने के कारण भागवत का गहरा असर पड़ा है, जिससे उनकी कृष्ण के प्रति विशेष अनुरक्ति हो गयी। सूरदास के हृदय में कृष्ण के प्रति बेहद अनुराग होने के कारण सांसारिकता से विरक्ति की भावना उत्पन्न हो गयी। इनका अभिमत था कि-

"मन रे, माधव सों करि प्रीति।
काम-क्रोध-मद-लोभ तू, छाँड़ि सबै विपरीति।
भौंरा भोगी बन भ्रमै, रे मोर न मानै ताप।
सब कुसुमनि मिलि रस करै, पै कमल बँधावै आप।।"[3]

सूरदास के गुरू वल्लभाचार्य ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद और एकेश्वरवाद को मिलाकर एक नये सम्प्रदाय शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया, जिसको 'पुष्टिमार्ग' के नाम से जाना जाता है। इसी पुष्टिमार्ग का प्रभाव भक्त सूरदास पर पड़ता है, जिससे वे पुष्टिमार्गीय हो जाते हैं। कहा जाता है कि बल्लभाचार्य ने सूरदास को गऊघाट में 'पुष्टिमार्ग' की गुरू-दीक्षा देकर 'दशम स्कंध' की अनुक्रमणिका सुनायी तथा मथुरा में गोवर्धन पर बने श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन सेवा के लिए नियुक्त कर, प्रभु की काव्य सेवा का अवसर दिया। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर सूरदास को काव्य, संगीत, तथा विविध कलाओं का सम्पन्न वातावरण सहज ही प्राप्त हो गया। इस कारण सूरदास की भक्ति-साधना की पद्धति में परिवर्तन हुआ। भगवत् भक्ति में मन लगाकर सूरदास ने कृष्ण और राधा के पदों का वात्सल्य एवं शृंगारिक पदों की रचना करने लगे। भगवान कृष्ण की लीला में सूर की अधिक सात्विक भक्ति थी और इन्हीं के कीर्तन में उनका मन लगता था-

"रे मन आपकौ पहिचानि।
सब जनम ते भ्रमत खोयो, अजहुँ तौ कछु जाति।।
ज्यों मृगा कस्तूरि भूले, सु तौ ताके पास।
भ्रमतहीं वह दौरि ढूँढ़े, जबहिं पावै बास।।"[4]

सूरदास पुष्टिमार्गी साधना के सौम्य, सरल और सहज साधक हैं, इसी तन्मयता के कारण ही उनकी कृष्णलीला सम्बन्धी रचनाओं में विशेष माधुर्य तथा ओज है। इनके हृदय में भक्ति की जो लहरें उठती थीं, उन्हें वह अपने कीर्तन-गायन शैली में गाते हुए प्रभु भक्ति में रसमग्न हो जाते थे। मन में प्रभु कृपा की प्रेमरूपी जो भी लहरें (भाव) उत्पन्न होती थीं, उसे तन्मय होकर गाने लगते थे-

"चरन-कमल बंदौं हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधेकौ सब कछु दरसाई।।
बहिरौ सुनै, गूँग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बंदौ तिहिं पाई।।"[5]

यदि हम सूरदास की रचनाओं की बात करें तो इनकी रचनाओं को 'सूरग्रंथावली' के नाम से महामना मदन मोहन मालवीय द्वारा स्थापित अखिल भारतीय विक्रम

परिषद, काशी द्वारा चार खण्डों में संपादित किया गया है, जिसमें प्रथम तीन खण्ड में 'सूरसागर' के पदों को संकलित किया गया है तथा चतुर्थ खण्ड में 'सूरसारावली', 'साहित्य लहरी' एवं अन्य फूटकल पद संग्रहीत हैं। सूरदास ने अपने काव्य को कीर्तन की दृष्टि से भाषा के गेय मुक्तक पदों में रचा है। इनकी प्रथम काव्य रचना 'सूरसागर' को बारह स्कन्धों में विभक्त किया गया है, जिसमें प्रत्येक स्कन्ध ''हरि हरि, हरि हरि सुमिरन करिए। हरि चरनारबिंद उर धरिए।।'' से प्रारम्भ होता है। 'सूरसागर' में 12 स्कन्ध हैं। विद्वानों का मानना था कि इसमें सवा लाख पद थे, लेकिन अब 6000 हजार पद ही उपलब्ध होते हैं। 'सूरसागर' के नवम स्कन्ध में सूरदास ने तुलसीदास से प्रेरित होकर 'राम' का वर्णन किया है, जिसको 'रामगीतावली' के भी नाम से जाना जाता है। इसके दशवें स्कन्ध में 'कृष्णलीला' को वर्णित किया गया है। सच कहा जाय तो इन्हें 'कृष्ण' और 'राम' दोनों प्रिय थे। हालांकि ''विद्यापति के बाद हिन्दी कृष्ण काव्य के प्रथम कवि सूरदास हुए, जिनकी प्रतिभा को पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक महाप्रभु बल्लभाचार्य ने अपने सम्प्रदाय के प्रचार में लगाया। सूरदास ने गोपाल कृष्ण के गोकुल, वृंदावन और मथुरा के जीवन से संबंधित संपूर्ण आख्यान को सूरसागर में एक गीति-प्रबन्ध का रूप दिया।''[6] इनकी दूसरी कृति 'साहित्य लहरी' में 138 पद हैं तथा 'सूर सारावली' में 1107 पद का जिक्र किया गया है। 'साहित्य लहरी' में सूरदास के 'दृष्टि-कूट' पदों का संग्रह है, इसमें अर्थगोपन शैली में राधा-कृष्ण लीलाओं, नखशिख, रस, नायिका-भेद का अद्वितीय वर्णन दिखायी देता है।

सूरदास की भक्ति-भावना पर बात करने से पहले हम सर्वप्रथम 'भक्ति' शब्द के मूल अर्थ को प्रकाश में लाते हैं। 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति 'भज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से हुई है, जिसका अर्थ होता है-'ईश्वर के प्रति सेवा भाव।' सामान्य अर्थो में 'भज्' का अर्थ 'भजना' होता है। ''नारद भक्ति सूत्र के अनुसार वह 'परमप्रेम रूपा' और 'अमृत स्वरूपा' है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है। शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र के अनुसार ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है-'सा परानुरक्तिरीश्वरे भक्तिः'।''[7] अर्थात् नारद भक्ति-सूत्र के अनुसार भक्ति, ईश्वर के प्रति परम-प्रेमरूप और अमृत स्वरूप है और शाण्डिल्य भक्ति सूत्र के अनुसार ईश्वर पर अनुरक्ति है। सूरदास के गुरु वल्लभाचार्य ने भी भक्ति के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि 'ईश्वर में सुदृढ़ और सनत स्नेह ही भक्ति है'।

यह सच है कि ''सूरदास सच्चे प्रेममार्ग के त्याग और पवित्रता को ज्ञानमार्ग के त्याग और पवित्रता के समकक्ष रखने में खूब समर्थ हुए हैं; साथ ही उन्होंने उस त्याग को रागात्मिका-वृत्ति द्वारा प्रेरित दिखाकर भक्ति मार्ग की सुगमता भी प्रतिपादित

की है।"[8] इस संदर्भ के सापेक्ष भागवत में भक्ति के चार प्रकार बताए गए हैं- (1) सात्विक भक्ति, (2) राजसी भक्ति, (3) तामसी और (4) निर्गुण भक्ति। 'नारद भक्ति-सूत्र' भक्ति का प्रसिद्ध ग्रंथ है, जिसमें प्रेमाभक्ति का विशद विवेचन करने के उपरांत उसकी ग्यारह आसक्तियों का उल्लेख किया गया है, जो क्रमशः गुण महात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, संख्यासक्ति, कांतासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और परमविरही आसक्ति है। भक्ति में प्रेम-तत्व को महत्व देते हुए बल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम-लक्षणा को 'दसवीं भक्ति' कहा गया है। इस सम्बन्ध में सूरदास जी का यह पद अधिक प्रासंगिक जान पड़ता है कि–

"श्रवण कीर्तन स्मरण पाद रत, अरचन वंदन दास।
सख्य और आत्म-निवेदन, प्रेम लक्षणा जास।।"[9]

सूरदास के काव्य में वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित कृष्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा स्वाभाविक रूप से हुई है। इनकी भक्ति में अंतःकरण की प्रेरणा तथा अंतर की अनुभूति की प्रधानता है। "दास्य भाव की भक्ति में सूर ने कृष्ण, राम और हरि को एक ही मानकर स्मरण किया है। वैसे निर्गुण ब्रह्म के इन सगुण नामों में कृष्ण नाम के प्रति उनका विशेष अनुराग छिपता नहीं है। लेकिन वात्सल्य, सख्य एवं कांत भाव की भक्ति में उनकी वैष्णव-भावना ऐकांतिक रूप से कृष्ण-प्रेम में केन्द्रित हो गई है।"[10]

सूरदास ने अपने गुरू बल्लभाचार्य से भक्तिमार्ग में भगवान का प्रेममय स्वरूप प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा पायी थी। परिणामस्वरूप इनके काव्य में भक्ति की लहरों को दो चरण में देखा जा सकता है, जिसमें पहला रूप वल्लभाचार्य से मिलने के पूर्व का है तथा दूसरा रूप वल्लभाचार्य से मिलने के बाद आरंभ होता है। प्रथम चरण में विनय, दैन्य, और आत्मनिवेदन है, जिसमें वे निवेदन के पद लिखा करते थे। विनय के इन पदों का अपना लौकिक संदर्भ है। इन पदों के भीतर दैन्य, आत्मग्लानि और पीड़ा की अभिव्यक्ति का मर्म मिलता है। सूरदास ने इन दैन्य और आत्मग्लानि से भरे पदों में उस युग के मनुष्य की पीड़ा को प्रकट करने का सफल प्रयास किया है। भक्ति का दूसरा चरण बल्लभाचार्य की गुरु दीक्षा से आरम्भ होता है, जिसका रूप सख्य भाव का है, जिसमें कृष्णलीला गान सर्वोपरि है। इसी का परिणाम है कि सूरदास ने श्रीमद्भागवत पुराण की कथा को गेय पदों में रचा। इनकी दास्य भाव की भक्ति को इन पदों में देखी जा सकता है-

"अँखियाँ हरि दरसन को भूखी।
कैसे रहैं रूपरसराची ये बतियाँ सुनि रूखी।।"[11]

सूरदास का निशि-वासर राधाकृष्णमयी हो गया था। इनकी भक्ति का प्रसाद इनका 'काव्य' ही था, जो हृदय में भक्ति रूपी सागर से उत्पन्न होता था। भगवान श्रीकृष्ण के बालरूप की नवनीत-प्रिय, माखनचोर, मुरलीधर, राधाबल्लभ, गोपीरमण आदि रूपों का अमित सौन्दर्य देखकर सूरदास का हृदय आनन्द से उमड़ पड़ता था और सौन्दर्य-वर्णन में आत्म-विभोर होकर गान करने लगते थे, कि–

"अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगै मीठे फलकौ रस, अंतरगत हीं भावै।।
परम स्वाद सब ही सु निरन्तर, अमित तोष उपजावै।
मन-बानीकौं अगम अगोचर, सो जानै जो पावै।।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगुति-बिनु, निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं, सूर सगुन-पद गावै।।"[12]

सूरदास राधाकृष्ण की मनोहर छवि को अनेक रूपों तथा रंगों में देखते हैं तथा इस अनुपम छवि का वर्णन अथक रूप से करते हैं। इनके काव्य पदों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके भक्ति रस एवं स्निग्ध निर्मल हृदय में नटवरलाल की छवि दिखायी देती है। "यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं का समावेश हो, पर जिस परिमित पुण्यभूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं।"[13]

सूरदास ने अपना सर्वस्व भगवान कृष्ण के चरणों में अर्पित कर पुष्टिमार्ग को अपनाया था। श्रीमद्भागवत के द्वितीय अध्याय के दशम स्कन्ध के अन्तर्गत 'पुष्टि' को परिभाषित किया गया है। इसमें बताया गया है कि 'पोषणं तदनुग्रहं' अर्थात् ईश्वर का अनुग्रह (कृपा) ही पोषण है। भगवत्कृपा से ही भक्त के हृदय में भगवान के प्रति प्रेमलक्षणा भक्ति जागृत होती है। कृष्ण समस्त गुणों से सम्पन्न, दिव्य और परब्रह्म हैं। कृष्ण स्वयं प्रेममय हैं और प्रेम के वशीभूत होकर ही अवतरित हुए हैं। सूरदास ने प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए भक्त की विकलता, अभिलाषा एवं विवशता का सुन्दर ढंग से चित्रण किया है। "कृष्णकाव्य के श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व अत्यन्त विलक्षण है। उन्हें तत्वतः साक्षात् परब्रह्म, अद्वैत, परमेश्वर मानकर अपने-अपने भाव के अनुसार कवियों ने वात्सल्य, सख्य और माधुर्य के आलम्बन-रूप में अपने उदात्तीकृत लौकिक जीवन का अभिन्न अंग बनाया है। विशेषतः सूरदास तथा साधारणतः अन्य कवियों ने नन्द, यशोदा, गोप, गोपी के भावों की प्रतिमा के रूप में कृष्ण का चित्रण करते हुए जहाँ भाव की पूर्ण तन्मयता

लाने के उद्देश्य से उनके ब्रह्मत्व का प्रतिवाद किया, वहीं उनके ब्रह्मत्व की गूढ़ व्यंजना हुई है।"[14]

सूरदास ने सख्य भाव की भक्ति को अपनाते हुए भी कृष्ण के प्रति नन्द-यशोदा के वात्सल्य भाव की तथा राधा एवं गोपियों के दाम्पत्य एवं माधुर्य भाव की सुन्दर व्यंजना की है। कृष्णलीला के अन्तर्गत कृष्ण एवं गोपियों के जिस प्रेम का चित्रण सूरदास ने किया है, उसमें उनकी भक्ति-भावना की पराकाष्ठा दिखायी पड़ती है। निःसंदेह सूरदास की भक्ति पद्धति का मेरूदण्ड पुष्टिमार्ग ही है। सूरदासजी कहते हैं कि प्रभु का अनुग्रह (कृपा) से भक्त का कल्याण संभव है-

"जापर दीनानाथ ढरै।
सोइ कुलीन, बड़ौ सुन्दर सोइ, जिहिं पर कृपा करै।।"[15]

भक्ति के दार्शनिक स्वरूप का ध्यान रखते हुए सूरदास ने बल्लभाचार्य के 'शुद्धाद्वैतवाद' की मान्यताओं को ग्रहण किया है। जीव को ब्रह्म का अंश मानते हुए वे अद्वैत सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। सूरदास का मानना है कि जीव की दुरावस्था माया के कारण होती है। यदि माया का प्रपंच न हो तो जीव शुद्ध एवं अविकारी है। गुरू बल्लभाचार्य की तरह सूरदास भी ब्रम्ह-जीव का सम्बन्ध अंश-अंशी भाव ही मानते हैं। यह भाव इनके काव्य में विशिष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। जैसे-

"सकल तत्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरूष श्री पति नारायण, सब है अंश गुपाल।।"[16]

सम्भवतः सूरदास, भक्ति की तात्विक विवेचना करने में नहीं उलझते हैं। राधकृष्ण की चित्र-वृत्तियों के जुगल रूप को ध्यान करके भक्ति में लीन हो जाते थे। पुष्टिमार्ग में भक्त का ईश्वर के साथ सुखद संपर्क दिखाई पड़ता है। इस प्रकार लीला वर्णन पुष्टिमार्ग भक्ति का साधन था और साध्य भी। प्रातःकाल से लेकर शयनपर्यन्त भगवान की सेवा विधि इनके काव्य में निहित है। इनकी भक्ति में नित्य सेवा विधि एवं वार्षिकोत्सव सेवा विधि का विशेष महत्व है। सूरदास की नित्य सेवा दिनभर के कार्यों से जुड़ी होती है एवं वार्षिक सेवा वर्ष के विभिन्न उत्सवों की सेवा से सम्बन्धित होती है। वार्षिकोत्सव विधि में इन्होंने भगवान श्रीकृष्ण के विभिन्न अवतारों का विस्तृत वर्णन किया है एवं नित्य सेवा आठों यामों में की जाती थी, जो क्रमशः मंगला (ईश्वर के जगने के समय के पद), श्रृंगार (श्रृंगार करने के समय के पद), ग्वाल (खेलते समय के पद), राजभोग (छाक के पद), उत्थापन (वन्य लीला के पद), भोग (गोपी लीला के पद), संध्या आरती (वन से आगमन के समय के पद) और शयन (शयन समय के पद) है।

सूरदास ने 'सूरसागर' के 'भ्रमरगीत' अंश में गोपियों का मनोहारी और मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। हिन्दी साहित्य में इतना सुन्दर उपालम्भ काव्य कहीं और नहीं मिलता। उद्धव तो अपने निर्गुण ब्रह्मज्ञान और योगकथा के द्वारा गोपियों को प्रेम से विरत् रखना चाहते हैं, लेकिन गोपियाँ उनसे भी कहीं ज्यादा ज्ञानी हैं। गोपियाँ उद्धव को अपनी विवशता के अनेक कारण बताते हुए हमेशा जिरह करती हैं कि-

"ऊधौ! तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ ?
जाय करौ उपचार आपनौ, हम जो कहति हैं जी की।
कछू कहत कछवै कहि डारत, धुन देखियत नहिं नीकी।।"[17]

इन्होंने अपने काव्य में मधुर भक्ति और वात्सल्य भक्ति का उत्कर्ष दिखाकर श्री कृष्ण की राधा और गोपियों के साथ क्रीड़ाओं में होने वाली लौकिक शृंगार की भावनाओं को उज्ज्वल रस में ढालकर उदात्त बनाया। सूरदास के कृष्ण सगुण हैं तथा भ्रमरगीत में इन्होंने श्रीकृष्ण की निराकारता का खण्डन किया है।

"निर्गुन कौन देस को वासी?
मधुकर! हँसि समुझाय, सौंह दे बूझति साँच न हाँसी।।"[18]

इस तरह सूरदास ने भक्ति में शुद्ध-भाव को ही अधिक महत्व दिया है। इनके सगुण ब्रह्म कृष्ण रस-रूप हैं। यह स्वभाविक भी था, क्योंकि पुष्टि भक्ति में योग, ज्ञान आदि साधन गौण हैं। निर्गुण ब्रह्म को भलि-भाँति जान लेने के बाद ही सूरदास जी उसके सगुण रूप को प्रकट करते हुए कहते हैं कि-

"वै अबिगत, अविनासी, पूरन, सब घट रहे समाइ।
तत्व ज्ञान बिनु मुक्ति नाहिं है, वेद-पुराननि गाइ।।
सगुन रूप तजि, निरगुन ध्यावहु, इक चित इक मन लाइ।
वह उपाइ करि बिरह तरौ तुम, मिलै ब्रह्म तब आइ।।"[19]

इनके काव्य में शुद्ध भक्ति को महत्व दिया गया है तथा उनकी दृष्टि से ध्यान और योग केवल गौण ही नहीं बल्कि अनुपयुक्त भी हैं। 'सूरसागर' का भ्रमरगीत अंश ज्ञान और योग की खिल्ली उड़ाता है और शुद्ध भक्ति की प्रतिष्ठा करता है। सूर की गोपी जोग-ज्ञान की गठरी लेकर ब्रज की गलियों में घूमने वाले उद्धव को उपालम्भ देकर कहती हैं कि-

"योग ठगौरी ब्रज न बिकै है।
यूरि के पातनि ने बदल को मुक्ताहल दै है।

दाख छाँहि कै कटुक निबौरी को अपने मुख खै हैं।
गुनकरि मौही सूर सावर, को निरगुन निरब है।" -भ्रमरगीत सार

बल्लभाचार्य की भगवत-भक्ति की साधना का अनुकरण करते हुए सूरदास आगे बढ़ते हैं, जिससे इनके काव्य में भक्ति की लहरों का यह प्रेम-तत्व सर्वत्र गहरे स्तर से अभिभूत होता है। इनके काव्य-सागर में भक्तिरूपी प्रेम की लहरें विविध रूपों में दिखायी पड़ती हैं, जैसे- भगवद्विषयक रति, वात्सल्य और दाम्पत्य रति। भगवद्विषयक रति के संदर्भ में उनका कहना है कि-

"जाति-पाँति कोउ पूछत नाहीं, श्रीपतिकै दरबार।
श्रीभागवत सुनै जो हित करि, तरै सु भव-जल पार।
सूर, सुमिरि सो रटि निसि-बासर, राम-नाम निज सार।"[20]

इस दृष्टि से इनके काव्यों में विनय के पद भगवद्विषयक रति में, बालरूप की लीलाएँ वात्सल्य के अन्तर्गत तथा भ्रमरगीत में गोपियों के प्रेम-सम्बन्धी पद दाम्पत्य-प्रेम के अधीन हैं। भ्रमरगीत की गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम है। जब उद्धव गोपियों को योग और ज्ञान का उपदेश देने लगते हैं तो वे स्पष्ट रूप से कह देती हैं कि श्रीकृष्ण और उनकी कथा ही हमारे लिए जीवन का सार है, इसके अलावा हमको इस संसार से और कुछ भी नहीं चाहिए। इस सम्बन्ध में उनका अभिमत है कि-

"हमको हरि की कथा सुनाव।
अपनी ज्ञानकथा ओ ऊधो! मथुरा ही ले जाव।
नागरि नारि भले बुझेंगी अपने वचन सुभाव।
पा लागो इन वातनि रे अलि! उनही जाय रिझाव।
सुनि, प्रियसखा श्यामसुन्दर के जो पै जिय सति भाव।
जो कोउ कोटि जतन करे मधुकर विरहिनि और सुहाव ?
सूरजदास मीन को जल बिनु नाहिन और उपाय।।"[21]

इनके काव्य में ज्ञान पर भक्ति और प्रेम की विजय की घोषणा की गयी है। गोपियाँ उस निर्गुण ब्रह्म का उपहास करती हैं, जिसमें सगुण की रसमयता और दिव्यता न हो। इन्होंने भक्ति तत्व को अनुपम ढंग से व्याख्यायित किया है। भ्रमरगीत के अन्तर्गत उद्धव ने संसार में व्याप्त ब्रह्म के जिस सगुण रूप को अपने सिद्धातों से सिद्ध करने की कोशिश की है, वहीं गोपियों ने उसका डटकर विरोध किया है-

"सुनिहै कथा कौन निर्गुन की, रचि पचि बात बनावत।
सगुन सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत।।"[22]

सूरदास के काव्य में भक्ति की मूल पहचान करने के लिए उस युग के सामाजिक संदर्भों की पड़ताल आवश्यक है। वे युग के उस निराशापूर्ण वातावरण को आशा में बदलने के लिए वात्सल्य और माधुर्य भाव से युक्त भक्तिकाव्य का प्रणयन करते हैं। इन्होंने मनुष्यता के सौन्दर्य एवं माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर मानव जीवन के प्रति अनुराग जगाकर भक्ति के सरल और स्वाभाविक मार्ग को आलोकित किया है-

"बड़ी है राम-नाम की ओट।
सरन गऐं प्रभु काढ़ि देत नहिं, करत कृपा कै कोट।।
बैठत सबै सभा हरिजू की, कौन बड़ौ को छोट।
सूरदास, पारस के परसै, मिटति लोह की खोट।।"[23]

सूरदास ने मुक्ति के साधनों में भारतीय दर्शन के ज्ञान, योग, और भक्तिमार्ग को साधन स्वरूप माना है। हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार- "जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञेय की एकता है, उसी प्रकार प्रेम-भाव की चरम सीमा आश्रय और आलम्बन की एकता है।"[24] इस प्रकार इनके काव्य में भक्ति का मूल आधार प्रेम ही है। इस प्रेम रूपी भक्ति को सूरदास इन पंक्तियों में रेखांकित करते हुए कहते हैं कि-

"प्रेम प्रेम से होय प्रेम से चारहि जैए।
प्रेम बँध्यौ संसार, प्रेम परमारथ पैए।।
एकै निहचै प्रेम को जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचौ निहचै प्रेम को, हो, जो मिलिहैं नँदलाल।।"[25]

निष्कर्षतः महाकवि सूरदास ने भक्ति के द्वारा समाज को बदलने या इस धूमिल छवि को साफ करने का पूर्ण प्रयास किया है। भक्तिकाल के उस दौर में सूरदास की कृष्णभक्ति समाज के अचार-विचार को बदलने एवं जागृत करने का सचमुच में अनूठा कार्य है। सूरदास की प्रसिद्धि भारतीय जनमानस में कृष्णभक्त के रूप में व्याप्त है। हिन्दी साहित्य में इन्हें 'वात्सल्य और शृंगार-रस सम्राट' के नाम से जाना जाता है। देखा जाय तो सूरदास के काव्य में भक्ति की लहरें कृष्ण और राधा के माध्यम से प्रेम को प्रकट करती हैं। इनका मानना था कि प्रेम के माध्यम से ही लोक में सद्भाव और समरसता लायी जा सकती है। प्रेम ही जीवन का अस्तित्व है और प्रेम ही ईश्वर है, यही प्रेमरूपी ईश्वर हर मनोकामना को सिद्ध करने वाला है, जो संपूर्ण जगत के कण-कण में व्याप्त है। "हरि त्रिलोकपति पूरनकामी। घट-घट व्यापक अन्तरजामी।।"[26] इनकी भगवत् विषयक भक्ति की मूल मंशा ईश्वरीय प्रेम से लौकिक प्रेम की ओर लाना था, जिसको तत्कालीन समय

में भक्ति के द्वारा ही लाया जा सकता था। सूरदास का समूचा काव्य लोक-कल्याणार्थ ही नहीं वरन् मानव-मन में जीने की चाह बढ़ा देने वाला है। संसार में इससे बढ़कर कोई कर्म है ही नहीं। आधुनिक परिवेश में घटते हुए मानव-मूल्य की परम्परा में सूरदास की भक्ति अधिक प्रासंगिक जान पड़ती है। निःसन्देह सूरदास का समूचा काव्य इसी भावात्मक आन्दोलन की एक कड़ी है। ''धर्म व सम्प्रदाय के माध्यम से वैष्णव आचार्यों व सूर जैसे कवियों ने अत्याचारियों, अत्याचार तथा कट्टर धर्मान्ध मुल्ला-पंडित वर्ग के विरूद्ध सहिष्णुता, शान्ति व प्रेम का एक आन्दोलन ही चलाया था, इस आन्दोलन से लोक-कल्याण की सबसे आवश्यक शर्त 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' स्थापित करने में ही मदद नहीं मिली अपितु स्वयं हिन्दी समाज में आपसी भेद-भाव भी कम हुए।''[27] 'सूरसागर' में भ्रमरगीत-प्रसंग केवल भक्ति का सागर ही नहीं, बल्कि महासागर है, जिसके प्रेम की लहरों में डूबकर मनुष्यत्व से ईश्वरत्व प्राप्त होता है। सचमुच में सूरदास जी धन्य हैं, जिन्होंने राधा-कृष्ण और गोपियों के माध्यम से लोकजीवन में प्रेम-मार्ग के द्वारा भक्ति-मार्ग का पथ प्रशस्त किया है। इस संसार में जीवन की सुन्दरतम, कोमलतम, मधुरतम, अनुभूतियों में प्रेम सर्वोपरि है। प्रेम-रूपी भक्ति की व्यापकता सम्पूर्ण सृष्टि को अपने में समेट लेती है। सूरदास ने प्रेममयी भक्ति के माध्यम से जनजीवन में एक नई शक्ति का संचार किया है, जो वैराग्य, निवृत्ति अथवा परलोक की चिंता नहीं करता बल्कि वह जीवन के प्रति असीम अनुराग, लोकजीवन के प्रति गहरी निष्ठा तथा सहज जीवन पर बल देता है। वात्सल्य सम्राट सूरदास के काव्य में भक्ति की लहरों का महत्त्वपूर्ण पक्ष सामाजिकता से जुड़ता है, जो समाज से जुड़कर एक नए अर्थ का निर्माण कर लोक कल्याण की भावना से अभिभूत है।

''किधौं सूरकौ सर लग्यौ, किधौं सूरकी पीर।
किधौं सूरकौ पद लग्यौ, बेध्यौ सकल शरीर।।''

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. 8853309388
Email-awadheshkkt@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. सूर की काव्य-चेतना, डॉ. बलराम तिवारी, अभिव्यक्ति प्रकाशन, बी-31, गोविन्दपुर, कॉलोनी, इलाहाबाद-211004, संस्करण 2001, पृ. 17

2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, विजय प्रकाशन मंदिर प्रा.लि., सी. के. 15/53, सुड़िया, वाराणसी, संस्करण 2014, पृ. 120
3. सूर ग्रंथावली (प्रथम खण्ड) : सूरसागर, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, 63/43, उत्तर बेनियाबाग, वाराणसी, प्रथम आवृति सन् 1974 ई. (संवत् 2031), भूमिका, पृ. 15
4. सूर ग्रंथावली (प्रथम खण्ड) : सूरसागर, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, 63/43, उत्तर बेनियाबाग, वाराणसी, प्रथम आवृति सन् 1974 ई. (संवत् 2031), भूमिका, पृ. 36
5. सूर ग्रंथावली (प्रथम खण्ड) : सूरसागर, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, 63/43, उत्तर बेनियाबाग, वाराणसी, प्रथम आवृति सन् 1974 ई. (संवत् 2031), मंगलाचरण प्रथम पद, पृ. 03
6. हिन्दी आलोचना की परिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, पहला संस्करण 2012, दूसरी आवृत्ति 2015, पृ. 133
7. हिन्दी आलोचना की परिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, पहला संस्करण 2012, दूसरी आवृत्ति 2015, पृ. 252-253
8. त्रिवेणी : रामचन्द्र शुक्ल, संपा. डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी-221001, संस्करण 2008, पृ. 48
9. श्रीमद्बल्लभाचार्यः उनका शुद्धाद्वैत एवं पुष्टिमार्ग, डॉ. लक्ष्मीशंकर निगम, सेन्ट्रल बुक हाउस, सदर बाजार, रायपुर, छत्तीसगढ़-492001, पृ. 85
10. सूर की काव्य-चेतना, डॉ. बलराम तिवारी, अभिव्यक्ति प्रकाशन, बी-31, गोविन्दपुर, कॉलोनी, इलाहाबाद-211004, संस्करण 2001, पृ. 55
11. सूरदास और भ्रमरगीत सार, डॉ. किशोरी लाल, अभिव्यक्ति प्रकाशन, 847-विश्वविद्यालय मार्ग, इलाहाबाद-211002, संस्करण 1993, पृ. 102
12. सूर ग्रंथावली (प्रथम खण्ड) : सूरसागर, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, 63/43, उत्तर बेनियाबाग, वाराणसी, प्रथम आवृति सन् 1974 ई. (संवत् 2031), पद 02, पृ. 04
13. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, विजय प्रकाशन मंदिर प्रा.लि., सी. के. 15/53, सुड़िया, वाराणसी, संस्करण 2014, पृ. 124-125
14. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1, संपादक धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, संतकबीर रोड, वाराण्सी, तृतीय संस्करण बसंत पंचमी 1985, पृ. 207
15. सूरसागर सार (सटीक), संपा. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, के. पी. कक्कड़ रोड, इलाहाबाद-211003, प्रथम संस्करण 1986, पृ. 22
16. सूरसारावली, सं. प्रेम नारायण टंडन, पद 1102, पृष्ठ, 99

17. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, विजय प्रकाशन मंदिर प्रा.लि., सी. के. 15/53, सुड़िया, वाराणसी, संस्करण 2014, पृ. 127
18. सूरदास और भ्रमरगीत सार, डॉ. किशोरी लाल, अभिव्यक्ति प्रकाशन, 847-विश्वविद्यालय मार्ग, इलाहाबाद-211002, संस्करण 1993, पृ. 23
19. सूर ग्रंथावली (चतुर्थ खण्ड) : सूरसागर, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, 63/43, उत्तर बेनियाबाग, वाराणसी, प्रथम आवृति सन् 1978 ई. (संवत् 2035), पृ. 1860
20. सूर ग्रंथावली (चतुर्थ खण्ड) : सूरसागर, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, 63/43, उत्तर बेनियाबाग, वाराणसी, प्रथम आवृति सन् 1978 ई. (संवत् 2035), पृ. 2433
21. भ्रमरगीत सार, संपादक माया अग्रवाल, अनीता प्रकाशन, 3696, चर्खेवालान, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण 1977, पृ. 44
22. सूरदास और भ्रमरगीत सार, डॉ. किशोरी लाल, अभिव्यक्ति प्रकाशन, 847-विश्वविद्यालय मार्ग, इलाहाबाद-211002, संस्करण 1993, पृ. 22
23. सूर ग्रंथावली (चतुर्थ खण्ड) : सूरसागर, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, 63/43, उत्तर बेनियाबाग, वाराणसी, प्रथम आवृति सन् 1978 ई. (संवत् 2035), पृ. 2433
24. भ्रमरगीत सार, संपादक : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, भूमिका, पृ. 09
25. सूरदास और भ्रमरगीत सार, डॉ. किशोरी लाल, अभिव्यक्ति प्रकाशन, 847-विश्वविद्यालय मार्ग, इलाहाबाद-211002, संस्करण 1993, पृ. 70-71
26. सूर ग्रंथावली (प्रथम खण्ड) : सूरसागर, अखिल भारतीय विक्रम परिषद, काशी, 63/43, उत्तर बेनियाबाग, वाराणसी, प्रथम आवृति सन् 1974 ई. (संवत् 2031), पद पृ. 254
27. भ्रमरगीत सार, संपादक माया अग्रवाल, अनीता प्रकाशन, 3696, चर्खेवालान, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण 1977, पृ. 65

कबीर : सामाजिक समरसता के क्रांतिकारी संत

डॉ. संजीव कुमार विश्वकर्मा

भक्तिकाल का महत्व हिन्दी साहित्य जगत् में उसी प्रकार है जिस प्रकार शरीर में आत्मा का होता है। भक्तिकालीन पूर्व साहित्य राजाओं के पराक्रम, राजकुमारियों के सौंदर्य चित्रण और युद्ध की अतिश्योक्ति का वर्णन ही करता है, इस प्रकार यह साहित्य जन सामान्य से प्रायः दूर ही रहा है किन्तु भक्तिकाल साहित्य सृजन जनसामान्य को प्रतिबिम्बित करने वाला रहा है। इस युग के कवि जनमानस के हृदय के अत्यंत निकट रहे। उन्होंने जनमानस को बाह्याडम्बरों से दूर रहकर साधारण जीवन बिताने का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने आम जनमानस की भावनाओं, कठिनाइयों, समस्याओं आकांक्षाओं को उजागर कर सफल अभिव्यक्ति का कार्य किया।

इस युग में भक्ति आंदोलन का स्वरूप धार्मिक-सांस्कृतिक था जिसके केन्द्र में मानवीय सत्य था, जिसका माध्यम भक्ति थी जिसका कार्य भावात्मक एकता स्थापित करना था। 'भक्ति का प्रवाह ऐसा विकसित और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में हिन्दू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों से भी न जाने कितने आ गए। प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्तकवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।'[1] भारतीय समाज से इतना व्यापक समर्थक भक्ति आन्दोलन को मिला उसका कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ हीं थी। क्योंकि यह आंदोलन उन मानवीय मूल्यों को लेकर चला था जिसके आधार पर समाज सभ्य होने का दावा करता है जिसके मूल मे थी मानवता। मानवता को अंधकार और पराधीनता की गुफा से निकालकर ज्ञान के प्रकाश की तरफ लाना था। जो कार्य भक्तिकालीन कवियों ने किया। उन्होंने समाज की सड़ी-गली परम्पराओं को जड़ से उखाड़ने का प्रयास भक्ति के माध्यम से किया। मानव-मानव के बीच पड़ी खाई को पाटकर विश्वास और प्रेम का सूत्रपात किया।

मध्यकाल में कबीर सबसे अधिक प्रखर तेजस्वी, क्रांतिकारी संत कवि हैं। जिनका भक्ति परम्परा में अपना अमूल्य, अद्वितीय स्थान है। उन्होंने भारतीय धर्म को अस्वीकार ही नहीं किया बल्कि उसको आधार बनाकर इस्लाम एकेश्वरवाद से समन्वय स्थापित कर निर्गुण राम की अभिधारणा प्रस्तुत करते हुए भक्ति के नए मार्गो की खोज की जिसमें भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वित रूप समाहित था। "धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति अपनी पूर्ण सजीवदशा में रहता है। किसी एक के भी अभाव से वह विकलांक रहता है। कर्म के बिना वह लूला लंगड़ा, ज्ञान के बिना अंधा और भक्ति के बिना हृदयविहीन क्या निष्प्राण रहता है। ज्ञान के अधिकारी तो सामान्य रूप से बहुत अधिक समुन्नत और विकसित बुद्धि के कुछ थोड़े से विशिष्ट व्यक्ति ही होते हैं। कर्म और भक्ति ही सारे जनसमुदाय की संपत्ति होती है।"[2] कबीर ने जनमानस की आहत चेतना को भक्ति रस से सराबोर कर दिया जो उनका मानवतावादी रूप था।

कबीर का उदय एक ऐसे युग में हुआ था जब समाज सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक दृष्टि से कटी हुई पतंग की भाँति पतनोन्मुख हो रहा था। ऐसे नाजुक दौर में कबीर ने अपने क्रांतिकारी विचारों द्वारा समाज के नवनिर्माण का स्तुत्य प्रस्तुत किया। राजनीति के क्षेत्र में सबसे ज्यादा विद्रूपताएँ व्याप्त थीं जिनका प्रभाव तत्कालीन समाज पर पड़ा और उसके प्रभाव से समाज, धर्म एवं आर्थिक स्थिति में असंतुलन व्याप्त हो गया। राजनीतिक और सामाजिक विसंगतियों के कारण ही समाज के अंदर सुधार भावना जागृत हुई जिसके केन्द्र में कबीर थे। उनके व्यक्तित्व निर्माण में तत्कालीन सांस्कृतिक धार्मिक सामाजिक शक्तियों का बड़ा योगदान रहा। इसलिए कबीर ने मानव समाज के आपसी प्रेम और सद्भाव के लिए मानव समाज को एक कुटम्ब के रूप में चित्रित किया। समाज में व्याप्त विसंगतियों को दूर करने के लिए कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों पर व्यंग्य किये–

"एक बूंद एकै मलमूतर, एक चाँम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उतपनाँ, कौन बाँम्हन कौन सूदा।।"[3]

कबीर मानवतावादी विचारधारा के थे, वे जातिवाद, धार्मिक कट्टरता तथा सम्प्रदायवाद के विरूद्ध थे। उन्होंने न केवल धर्म बल्कि राजनीति और समाज में भी जहाँ विसंगतियाँ दिखाई दी उसी पर करारा व्यंग्य किया जिसके परिणामस्वरूप यदि वह सुधरा नहीं तो आहत अवश्य हुआ। कबीर हिन्दी साहित्य जगत् के प्रथम व्यंग्यकार हैं, जो प्रत्येक विसंगति का सामना करते हैं जो कि कबीर का गुण है। धर्म को लेकर समाज में हिन्दू-मुस्लिम की जो खाई उत्पन्न हुई थी, उसे भी पाटने का कार्य किया। "कबीर पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों,

वर्णों को नकारकर ऐसे समाज की स्थापना का प्रयास किया जिसमें धर्म, सम्प्रदाय, ऊँच-नीच के भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं है। उनके समाज में न कोई हिन्दू है, न मुसलमान; सब मनुष्य हैं, कोई किसी से छोटा-बड़ा नहीं है। पीड़ित, शोषित, अपमानित, जनमानस के दुःख से जितना सरोकार कबीर का है, उतना भक्तिकाल के किसी अन्य कवि का नहीं, उनका गैर समझौतावादी व्यक्तित्व अलग से चमकता है।''[4]

कबीर मानव मात्र में अंतर नहीं मानते थे किन्तु उन्होंने समाज में देखा कि मनुष्य की पहचान वेदपाठी, मुनि, पीर, दिगम्बर, योगी, ब्राम्हण, सन्यायी, वैष्णव के रूप में ही शेष है अतः ऐसी विपरीत परिस्थितियों में मनुष्य को पहचान दिलाने के लिए धर्म, समाज राजनीति के दुरंगेपन पर गहरी चोट की। अपना साहस दिखाते हुए धर्म के नाम पर राजनीति करने वालों से डटकर मुकाबला किया जिसमें एक ओर हिन्दुओं की मूर्तिपूजा का विरोध किया तो वहीं दूसरी ओर मुसलमानों की मस्जिद नमाज की खिल्ली उड़ायी। ''कबीर स्वतंत्र प्रकृति के थे, उनके चारों ओर शारीरिक दासता का घेरा पड़ा हुआ था। वे इस बात का अनुभव करते थे कि शारीरिक स्वातंष्य के पहले विचार स्वतंष्य आवश्यक है। जिनके मन की दासता को बेड़ियों से जकड़ा हो, वह पाँवों की जंजीरें क्या तोड़ सकेगा। उन्होंने देखा था कि लोग नाना प्रकार के अंधविश्वासों में फँसकर हीन जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अतः लोगों को इससे मुक्त करने का प्रयत्न किया। मुसलमानों के रोजा, नमाज, हज, ताजिएदारी और हिन्दुओं के श्राद्ध, एकादशी, तीर्थव्रत, मंदिर सबका उन्होंने विरोध किया है।''[5] उन्होंने समाज एवं राजनीति की भ्रष्ट व्यवस्था पर केवल प्रहार ही नहीं किया वरन् उसे सही दिशा देने का प्रयास भी किया।

कबीर के व्यक्तित्व मे उनका समाजसुधारक रूप ही सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है, उसमें सामाजिक भावना का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप वर्णित है। जिसको बेहतर बनाने के लिए कबीर ने आजीवन संघर्ष किया। क्योंकि मध्ययुग दो संस्कृतियों के टकराव को रेखांकित करता है। जिसमें एक भारतीय मूल संस्कृति थी तो दूसरी तरफ आक्रमण कारी मुस्लिम विदेशी संस्कृति। ''देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उसके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जातीं थीं और पूज्य पुरूषों का अपमान होता था, और वे कुछ नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिन्दू जनसमूदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरूष

से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?''[6] परिणामस्वरूप भारतीय समाजव्यवस्था मे एक तरह का गतिरोध उत्पन्न हो गया।

कबीर ने समाज में व्याप्त रूढ़िवादी परम्पराओं, कुरूतियों, ब्राह्याडम्बरों, अंधविश्वासों, पाखण्ड और विद्रूपताओं को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। उनका पूरा प्रयत्न समाज को सुधारने और बेहतर से बेहतर मानव समाज का निर्माण करने में समर्थ सिद्ध हुआ। कबीर ने अपना संपूर्ण जीवन मानवतावादी सच्चे धर्म के वास्वविक रूप को प्रकट करने में लगा दिया, जिसमें समाज में व्याप्त निहित स्वार्थों को ध्वंस किया गया। कबीर वास्तव में अपने युगीन समाज के सच्चे अध्येयता थे। क्योंकि कबीरदास का युग सामाजिक दृष्टि से विषमता का युग था। सम्पूर्ण समाज दो वर्गो (उच्च एवं निम्न) में विभाजित था तथा समाज के संचालन का कार्य उच्चवर्गीय लोगों द्वारा किया जा रहा था। निम्नवर्ग केवल श्रम और उत्पादन के कार्यों तक ही सीमित था किन्तु उत्पादन पर भी उच्चवर्ग का अधिकार था जिसके विपक्ष में कबीर जैसे संतो की वाणी थी जो अच्छे मूल्यों की समर्थक तथा अनैतिक मूल्यों की विरोधी थी। कबीर को इसका डटकर मुकाबला करना पड़ा क्योंकि कबीर स्वयं निम्न जाति में जन्में थे। उनका पालन-पोषण जुलाहा जाति में हुआ था। ''कबीर ने डंके की चोट पर कहा है -''तू ब्राम्हन मैं कासी का जुलाहा।'' कितना चुनौती भरा स्वर है। आप ब्राम्हण हैं- उच्च वर्ण के मुकुटमणि तो मैं जुलाहा हूँ- निम्न जाति में कमीन। यहीं पर वर्ग-संघर्ष का स्वर मुखर हो उठता है जुलाहा कपड़े बुनने का व्यवसाय करते हैं और वर्ण व्यवस्था मे अत्यंत निम्नकोटि के माने जाते हैं। पर उनका कहना है - ''नीच कुल जुलाहरा भइयो गनी गँभीरा।'' जुलाहा नीच कुल का तो है पर गुनी गँभीरा है। मुझसे उलझना है तो समझ-बूझकर आओ मैं तुमसे उन्नीस नहीं, कुछ बीस ही हूँ।''[7] उन्हें उच्चवर्ग द्वारा आरोपित नियमों का शिकार होना पड़ा। तभी तो उच्चवर्ग के प्रति इतना आक्रोश उसकी वाणी से प्रकट होता है।

हिन्दू और मुसलमानों के बीच एकता स्थापित करने का प्रयास कबीर ने किया उन्होंने स्वयं देखा कि दोनों वर्गों के लोग धर्म के नाम पर प्रचलित रूढ़िवादी परम्परा में फँसे हुए हैं। जो आडम्बरों को ही धर्म मानकर चल रहे हैं जिसके कारण साम्प्रदायिकता ने जन्म लिया। कबीर पहले ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने दोनों के बीच फैली साम्प्रदायिकता को जड़ से उखाड़ने का प्रयास किया और इस प्रयास में वे सफल भी हुए क्योंकि वे धर्म के मूल स्वरूप से परिचित थे। ''जिस सत्य को कबीर धर्म मानते हैं, वह सब धर्मों में है। परंतु इस सत्य को सबने मिथ्या विश्वास और पाखण्ड से परिच्छिन्न कर दिया है। इस बाहरी आडम्बर को दूर कर देने से धर्म

भेद से समस्त झगड़े, बखेड़े दूर हो जाते हैं, क्योंकि उससे वास्तव में धर्म भेद नहीं रह जाता। फिर तो हिन्दू मुस्लिम ऐक्य का प्रश्न स्वयं ही हल हो जाता है।''[8] कबीर की वाणी कर्मकाण्डियों, प्रेमियों तथा अशिक्षित, आम जन के एक साथ भक्ति का अवसर प्रदान करती है तथा द्वैत और अद्वैत के स्थापित भेद को नकारते हुए पुरातन रूढ़िग्रस्त सामाजिक अवधारणा में परिवर्तन का विगुल बजाया।

धर्म के मूल रूप से जन सामान्य का जो पुनर्परिचित कराने का कार्य कबीर ने किया वह किसी अन्य कवि ने नहीं किया। कबीर ने धार्मिक अंधविश्वासों पर कड़े प्रहार कर अनाचार रूपी राक्षस का वध किया। उनके धर्म के संदेश मे एक ऐसे धर्म की परिकल्पना थी जिसमें आडम्बरों, रूढ़ियों और दिखावटीपन का नाम तक नहीं था। धर्म के इस सच्चे स्वरूप के लिए कबीर ने अपनी समस्त शक्ति लगा दी। उन्होंने सत्य का मार्ग अपनाया और असत्य का सहारा लेने वालों को दुत्कारा। मानवता की परिभाषा कबीर अच्छी तरह से जानते थे इसलिए मानव-मानव के बीच भेद उत्पन्न करने वाले धर्माडम्बरों, मजहबों, रूढ़ियों, परम्पराओं और अंधविश्वासों के प्रति जैसा कठोर रूख कबीर ने अपनाया वैसा आज तक किसी ने नहीं अपनाया।

कबीर का समाज सुधारक रूप अपने आप में विशिष्ट था। वे हिन्दू तथा मुस्लिम को समान भाव से देखते थे, उनका कहना था कि हिन्दू तथा मुस्लिम घरानों में जन्म लेने से कोई हिन्दू और मुस्लिम नहीं हो जाता। बल्कि जिस आदमी का ईमान बना रहता है साथ ही जिसने ब्रह्म सत्य की अनुभूति कर ली है वही हिन्दू और मुस्लिम कहलाने का अधिकारी है। इसलिए हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रयास जो कबीर ने किया वह सराहनीय है। उन्होंने दोनों मजहबों के लोगों को यथार्थ और ईश्वर के सत् स्वरूप का दर्शन कराया जिसके कारण ही कबीर वर्तमान में भी प्रासंगिक हैं। उनका संपूर्ण व्यक्तित्व भारतीय संस्कृति के गुणों से ओत-प्रोत है। कबीर हिन्दुओं के लिए वैष्णव भक्त, मुसलमानों के लिए पीर, सिक्खों के लिए भक्त कबीर और कबीर पंथियों के लिए गुरू की पदवी रखते थे। आधुनिक पतनशील समाज के लिए कबीर की वाणी तथा शिक्षाएँ अत्यंत मूल्यवान हैं। कबीर पुस्तकीय ज्ञान को महत्व नहीं देते। कबीर की वाणी में विचार शक्ति है। पुस्तकीय ज्ञान का खण्डन करते हुए कबीर कहते हैं:-

''पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोई।
ढाई आखिर पीव का, पढ़ै सुपंडित होई।।''[9]

समाज को विभक्त करने वालों का कबीर ने विरोध किया क्योंकि उनका एकमात्र लक्ष्य समाज सुधार था। समाज के सभी तत्वों तथा राजनीति आदि के सुधार से ही समाज सुधार संभव था। समाज में दिखावटीपन का प्रभाव इस सीमा

तक आ गया था कि लोग आवरण के पीछे के शाश्वत् सौंदर्य के दर्शन तक नहीं करना चाहते थे। रूढ़ियों के घने बादलों मे धर्म रूपी सूर्य का प्रखर प्रकाश जन सामान्य तक नहीं पहुँच रहा था। इसलिए कबीर ने धर्म, समाज, व्यक्ति की मानसिकता में व्याप्त दिखावटीपन पर करारी चोट की क्योंकि जनसामान्य सत्य से कोशों दूर अज्ञानता के अंधेरे में जीने लगा था या विवश था उसको सही दिशा देने के लिए ही कबीर ने आक्रामक रूख अपनाया, जिसके लिए उन्होंने वास्तविकता की तलवार और सत्य की ढाल का सहारा लिया जिससे उनके अंदर निर्भीकता थी जो उनके दुश्मनों को धूल चटाने में सहायक हुई।

धर्म और समाज के नाम पर जनता को मूर्ख बनाने की साजिश चल रही थी। व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त ढकोसलों का ही प्रचलन था। जनता के भोलेपन का फायदा उठाकर समाज में पंडित और मौलवी लोगों के भाग्य विधाता बन बैठे थे। कबीर ने इन्हीं बातों को लक्ष्य करके अपने व्यंग्य वाणों की वर्षा की उन्होंने मूर्तिपूजा का खण्डन किया साथ ही व्रत, रोजा, नमाज और तीर्थाटन का कड़ा विरोध किया। उन्होंने सम्पूर्ण आडम्बर क्षेत्र को अपना लक्ष्य बनाया। वे हिन्दुओं में व्याप्त मूर्तिपूजा, गंगा स्नान, तीर्थाटन, वेद मंत्रों का जाप आदि बातों से असंतुष्ट थे। उन्होंने मुण्डन की प्रक्रिया को व्यर्थ बताते हुए तार्किक ढंग से अपनी बातों को जनसामान्य तक पहुँचाया-

"मूँड मुँडावत दिन गए अजहूँ न मिलिया राम।
राम नाम कहु क्या करैं, जे मन के औरे काँम।।"[10]

कबीर ने केवल बाह्याडम्बरों का विरोध ही नहीं किया अपितु अपने मन्तव्य और विचार भी अपनी वाणी द्वारा व्यक्त किये हैं। भक्ति और सामाजिक क्षेत्र में आडम्बरों को कबीर ने कोई स्थान नहीं दिया। उन्होंने जप, तप, माला, तिलक, सिर मुड़ाने का विरोध कर मन को पवित्र बनाने पर बल दिया है। समस्त जातिभेद और कर्मकाण्डों का विरोध कर धीरे-धीरे समाज के सुधारक बन गये। साथ ही कबीर ने श्रेष्ठ व सफल व्यंग्यकार के रूप में अपनी सार्थक भूमिका का निर्वाह किया। उनका आग्रह सारतत्व ग्रहण करने के प्रति था जिसमें किसी प्रकार का कोई मायाजाल नहीं था, उन्होंने बुराइयों विसंगतियों से परे धर्म के सही रूप को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। उनका विचार दर्शन वैषम्यपूर्ण परिस्थितियों मे शांति, सहिष्णुता तथा समन्वय की सार्थक प्रेरणा प्रदान करता है।

कबीर ने समाज के पिछड़ेपन का एक कारण नारी के प्रति दृष्टिोण के बदलाव को भी बताया। नारी के प्रति अपने व्यवहार को मर्यादित कर समाज का उत्थान संभव है। भारतीय समाज में वैदिक युग से ही नारी का सम्मान होता आ

रहा है। वैदिक युग से लेकर आज तक नारी ने अपने त्याग, तपस्या और ममता के अनेक कीर्तिमान स्तंभ खड़े किए हैं। मनीषियों ने नारी का सम्मान बढ़ाते हुए कहा है-

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।" नारी की आराधना दुर्गा, काली, सरस्वती, लक्ष्मी, विद्या बुद्धि, शक्ति की धात्री के रूप में की गई है। नारी ही पुरूष को भौतिक तथा सूक्ष्म जगत के सृजन की प्रेरणा प्रदान करती है। नारी वस्तुतः त्याग और ममता की प्रतिमा होती है जयशंकर प्रसाद ने तो नारी को श्रद्धा स्वरूपा माना है-

"नारी! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत-नग पगतल में।
पीयूष स्त्रोत सी बहा करो जीवन के सुंदर समतल में।।"[11]

किन्तु समय के साथ नारी के कल्याणकारी स्वरूप का क्षरण होता गया और उस समय कबीर आदि संतो ने उसको समस्त पापों का मूल मानकर सर्वथा निंदनीय और त्याज्य कह दिया -

"नारि नसावैं तीनि सुख जा नर पासैं होइ।
भगति मुकति निज ग्यान मैं, पैसि न सकई कोई।"[12]

विश्वास करना कठिन हो जाता है कि कबीर जैसे संत ने ऐसा कहा होगा। यह युगीन विषमता का प्रभाव था जहाँ नारी दशा दयनीय थी ऐसे माहौल में भारतीय नारी का आदर्शवादी स्वरूप धुधला पड़ गया। कामुक वृत्तियों के कारण समाज में संड़ांध फैल गयी। कबीर के नारी के इस स्वरूप के वर्णन में उस युग की परिस्थितियों का वर्णन था। कबीर ने वास्तव में नारी के प्रति अपना कोई रोष या गलत धारणा व्यक्त नहीं की बल्कि सही मार्ग पर लाने के लिए ही सब कुछ कहा जिससे वे अपने सतीत्व की रक्षा कर सकें साथ ही भगवद् भक्ति की बात सोच सकें-

"हरि को सिमरन छाड़िकै अहोई राखे नारि।
गदही होइ कै औतरै भारू सहै मन चारि।।"[13]

कबीर ने नारी की भर्त्सना ही नहीं की वरन उसको सद्गुणी होने पर पुरूष के समान दर्जा भी दिया है-

"नर-नारी सब एक हैं, जब लग देह सकाम।"[14]

कबीर ने उच्चवर्ग के प्रति बड़ी तीव्रता मुक्त शब्दावली का प्रयोग किया है। उन्होंने वर्ग वैषम्य का विरोध करते हुए सभी को सामाजिक न्याय दिलाया साथ ही शास्त्रीय ज्ञान की उपेक्षा करते हुए जन सामान्य की आशाओं आकांक्षाओं को महत्व

दिया। "कबीर की भाषा संतभाषा है। संतों का सम्बन्ध सीधे जनता से था। वे निम्नवर्ग में उत्पन्न हुए थे, उनके साथ रहते थे, यात्राएँ करते थे, उपदेश देते थे। अतः वे बोलचाल की भाषा का व्यवहार करते थे। इसे हिमाचल के चंबा से लेकर महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, बंगाल तक समझा जाता था इसमें खड़ी बोली का गहरा पुट होता था। भोजपुरी, ब्रज और राजस्थानी का भी उस पर प्रभाव था। मुहावरे और लोकोक्तियों को उन्होंने सीधे लोक से लिया है- "देखे ठोंकि बजाय, लंबे पाँव पसारि, पाहू कुल्हाड़ा मारिया, कहू न आया हाथ, बहूरि न लागैं डारि' आदि। उनकी भाषा अनगढ़ है पर यथार्थ से जुड़ी होने के कारण अभिव्यक्ति क्षमता में बेमिसाल हैं।"[15] कबीर ने लौकिक ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हुए जाति भेद, धर्मकाण्ड का विरोध कर ऐसे विश्वधर्म की परिकल्पना की जिसमें सभी एक पंक्ति मे बैठने के अधिकारी थे। कबीर का दर्शन सामाजिक समरसता का समर्थक है, उन्होंने मानव-मानव के बीच किसी भी प्रकार की असमानता या विसंगति को नहीं आने दिया, प्रत्येक क्षेत्र, धर्म, जाति, वर्ग, वर्ण, राजनीति तथा समाज में कबीर ने समता का समर्थन किया और इस बात पर बल दिया कि मनुष्य होने के नाते सभी एक हैं। कबीर ने जनता के दुःख दर्द को समझा और सामाजिक संबंधों की पुनर्व्याख्या पर बल देते हुए जनमानस के दुःखों का निवारण अपनी वाणी के माध्यम से किया। वस्तुतः कबीर का काव्य जनमानस का काव्य है जिसमें उनका प्रयास, उनकी दिशा, उनकी सोच, उनका भाव उनका तेज सब कुछ सामान्य जन के लिए ही है।

अतिथि विद्वान (हिन्दी)
शास. महाविद्यालय पथरिया,
दमोह, मध्यप्रदेश
Email: skvishwakarma1785@gmail.com
Mob. No.-9993644691

संदर्भ ग्रंथ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रयाग पुस्तक सदन इलाहाबाद सं. 2012 पृ. 36
2. वही पृ. 35
3. कबीर ग्रंथावली, संपा. श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी 25वाँ संस्करण, पृ. 82
4. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्णन प्रकाशन दरियागंज दिल्ली, सं. 2012 पृ. 91
5. कबीर ग्रंथावली, संपा. श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, 25 वाँ संस्करण पृ. 34 (भूमिका से)

6. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रयाग पुस्तक सदन इलाहाबाद सं. 2012 पृ. 35
7. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास डॉ. बच्चनसिंह, राधाकृष्णन प्रकाशन दरियांगज नई दिल्ली संस्करण 2012 पृ. 85
8. कबीर ग्रंथावली, संपा. श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, 25 वाँ संस्करण पृ. 34 (भूमिका से)
9. वही पृ. 30
10. वही पृ. 36
11. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपर बैक्स नोएडा स. 2007 पृ. 38
12. कबीर ग्रंथावली, संपा. श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी, 25वाँ संस्करण पृ. 31
13. वही पृ. 199
14. वही पृ. 31
15. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्णन प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली सं. 2012 पृ. 91

जायसी के काव्य में लोक-जीवन एवं मानवीय मूल्य

डॉ. मंगलसिंह अहिरवार

मलिक मुहम्मद जायसी प्रेममार्गी निर्गुण धारा के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। जायसी जिस प्रेममार्गी निर्गुण धारा के कवि हैं उसकी विशेषता यह है कि उसमें सभी कवि मुसलमान जाति के हुए है, और सभी ने प्रेम प्रबंध लिखें हैं, सभी ने दोहा, चौपाई का प्रयोग भी किया है एवं सभी की भाषा भी लगभग अवधी ही दिखाई देती है। इसके साथ ही सभी कवियों ने शैली फारसी मसनवी ही अपनाई हैं। इन सभी मुस्लिम कवियों के काव्य की कथाएँ भारतीय हिन्दुओं के यहाँ से अवतरित हुई हैं। जायसी की विशेषता यह है कि उनकी 'पद्मावत' की कथा अन्य कवियों की भाँति कल्पनामात्र नहीं है। उन्होंने उसे इतिहास से जोड़ दिया है। इतिहासकारों के अनुसार पद्मावती की कथा ऐतिहासिक नहीं थी। उसका हेतु राजनीतिक ही था। पर अलाउद्दीन को लक्ष्य करके हिन्दी में जितने काव्य लिखे गए, उनमें रमणी सौन्दर्य ही आक्रमण का कारण बताया गया है। जायसी की पद्मावत में ही नहीं अपितु छिताईचरित, छिताईवार्ता में भी देवगिरी पर अलाउद्दीन के अभियान का कारण छिताई की रूप राशि ही कल्पित होती है। हिन्दी के रास काव्यों में भी आक्रमण का कारण नारी का कल्पित रूप ही चित्रित हुआ है। अतः काव्य की पारस्परिक रूढ़ि से ग्रसित काव्य, उस समय की मांग का काव्य था। जायसी का पद्मावत भी लगभग इन्हीं रूढ़िसिद्ध परम्परा युक्त प्रबंध काव्य एक सूफी प्रेम सम्पन्न रूप में लिखा गया।

"हिन्दी के अन्य सूफी कवियों की प्रेम गाथाएँ कल्पित हैं, पर मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत की प्रेमकथा को प्रख्यात रूप दिया है। उसका पूर्वार्द्ध तो बहुत कुछ कल्पित है, किन्तु उत्तरार्द्ध में ऐतिहासिक प्रख्यात रूप दिया है। वृत्त की योजना के साथ ही व्यक्तिपक्ष लोकपक्ष में परिणित हो गया है। इस कारण पद्मावत अन्य

प्रेमकाव्यों से पृथक ही नहीं, प्रबंध की दृष्टि से उत्कृष्ट भी हैं। अन्य सूफी प्रेमकाव्यों में अधिकतर प्रेम, करूणा, श्रृद्धा, भक्ति आदि कोमल भाव ही नियोजित है, किन्तु लोकदृष्टि से समन्वय के कारण पद्मावत को कुछ उग्र भाव, युद्ध, उत्साह, क्रोध खीझ आदि लाने पड़े है, यद्यपि इनकी अभिव्यक्ति कोमल भावों की सी गंभीर नहीं है।''[1]

जायसी की लोकप्रियता उनका यथार्थ सामाजिक चिंतन एवं उनकी स्पष्ट वाक् पटुता के साथ लोकभाषा मानी जाती है। दूसरा कारण यह भी है, कि मध्यकाल जैसे संक्रमण काल में मुगल सल्तनत के चलते उनकी काव्य वस्तु, विषय एवं भाषा उस सल्तनत के कब्जे से बाहर हिन्दुत्वादी थी। मध्यकाल के पूर्व एवं उसके पश्चात् मुस्लिम कवियों में ऐसी प्रसिद्धी केवल जायसी को ही प्राप्त हुई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी के सन्दर्भ में अपनी आलोचनात्मक दृष्टि से जो स्थान प्रदान किया है उसको यथानुसार देखा जा सकता है ''उन्होंने घटनाओं की गति, मानव-जीवन की पूर्णता और विविधता, घटनाओं की संबंध श्रृंखला, प्रसंगों की मार्मिकता, भावों की परिस्थितिगत अनुकूलता-प्रतिकूलता तथा काव्यान्विति की दृष्टि से प्रबंध काव्य की श्रेष्ठता निर्धारित करते हुए जायसी को प्रबंध रचना की दृष्टि से तुलसी के बाद दूसरा स्थान दिया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है, कि पद्मावत अन्योक्तिमूलक काव्य नहीं है। घटनाक्रम के बीच-बीच में प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत की व्यंजना के कारण इसे समासोक्तिमूलक काव्य कहा जा सकता है।''[2]

वाणी के डिक्टेटर, कबीर को हजारी प्रसाद द्विवेदी मानते हैं ठीक उसी प्रकार शुक्ल जी जायसी को अवधी भाषा के संदर्भ में डिक्टेटर ही मानते हैं। उनका मानना है कि काव्य परम्परा के मूल में भाषा ही मूल होती है, जायसी की भाषा व्याकारणिक दृष्टि से अवधी को समझने में सहायक सिद्ध होती है। साथ ही ब्रज और खड़ी बोली से भिन्नता लिए है इसलिए सरल और सहज मध्ययुगीन लोकभाषा के धनी जायसी, तुलसी काव्य परम्परा के समर्थ उत्तराधिकारी के रूप में सामने आते हैं। जायसी और कबीर की भाषा सही अर्थ में उल्लेखनीय कथन में देखी जा सकती है।

''कबीर और जायसी ग्राम समाज की चेतना से परिचालित हैं। दोनों ही लोकभाषा के कवि हैं और उनका मुहावरा ग्राम जीवन का है। कथ्य तथा शिल्प का आधार यहीं से उपजा है और भक्ति काव्य की जीवंत सार्थकता का यह महत्वपूर्ण आधार है। यहीं से सामान्यजन की संवेदनाएँ रची बसी हैं।''[3]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में मलिक मुहम्मद जायसी को प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा के अंतर्गत स्थान देकर उन्हें सूफी काव्य परम्परा से जोड़ दिया है क्योंकि इसी समय के (12वीं सदी) अंत तक ही सूफी लोग सिंध मार्ग से

भारतवर्ष में प्रवेश करते हैं। यहाँ आकर सूफी मत का विकृत रूप सामने आता है उनके मूल में भारतीय परिवेश, रीति-रिवाज, रहन-सहन एवं हिन्दु धर्म की बहुत कुछ संस्कृति, जाने या अनजाने में आत्मसात् हुई। सूफी संतों में जायसी के अतिरिक्त, शेख मोइनुद्दीन चिश्ती, कुतुबुद्दीन बख्तियार, निजामुद्दीन औलिया, नासिरूद्दीन महमूद आदि का नाम भी बड़े अदब के साथ भारतीयरत माना जाता है। इश्क हकीकी से इश्क मिजाजी एवं सच्चा सूफियाना प्रेम इन संतों की परम्परा से लिया गया है, इसी सूफी प्रेम परम्परा के भारतीय संस्कृतिरत प्रभाव को जायसी के काव्य चिंतन में पूरी सिद्धत के साथ देखा जा सकता है। इसी परम्परा को और पुष्ट करते हुए विजयदेव नारायण साही का उल्लेखनीय मत है कि "जायसी एक आत्मसजग, आत्मविश्वासी और अत्यंत संवेदनशील कवि थे। एक सशक्त किन्तु अलीक विचारक भी थे उनकी अनुभूति में बो गहरी तीव्रता थी जो सृजनशीलता को मनुष्य के प्राणतत्व से जोड़ती है, इसकी संभावना बहुत कम है कि वे साधु बाबा या सूफी फकीर रहे होंगे बल्कि जो भी संकेत मिलते है वे इस सम्भावना के विरूद्ध जाते है।"[4]

जायसी का जीवन संघर्ष साधु एवं फकीरों के साथ बीता एवं भारतीय मुसलमान होने के कारण हिन्दु संस्कृति भी उनके संस्कारों में समाहित रही हैं, और ऐसा कहा जाता है, कि जायसी मुसलमानों के बीच हमेशा तिरस्कृत रहे हैं। सामान्य मनुष्य जीवन के सच्चे धर्म अनुयायी के रूप में जायसी अपना जीवन व्यतीत करते रहे हैं।

ऊँच-नीच, जाति, धर्म जायसी के जीवन में उतना महत्वपूर्ण नहीं था, जितना कि उनके जीवन में मानवता थी। हिन्दु, तुर्क का भेद उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया था। जायसी की सोच सामाजिक व्यवस्था के स्वस्थ संबंध स्थापित करने की थी। उनका मानना है कि प्रत्येक धर्म एवं जाति के व्यक्ति का रक्त एक सा है और सभी मनुष्यों के जन्म का भी मार्ग वहीं है जो ईश्वर तुल्य मनुष्य का है तब इन सब में किस प्रकार का भेदभाव है-

"मातु के रकत पिता के बिंदु।
उपनै दुवौ तुरुक और हिन्दु।।"[5]

जायसी के काव्य चिंतन में भारतीय संस्कार, शास्त्रीय ज्ञान, बुद्धि जीवन ब्राह्मण अनुभव एवं राघव चेतन जैसी शैतानी संवेदना यथार्थ स्वरूप में दिखाई देती हैं। नागमती वियोग खण्ड में जायसी अच्छी संगति एवं विसंगति की स्थिति स्पष्ट करते हैं। उच्च वर्ग के प्रतीक, शोषक ब्राह्मणों के चाल-चलन को नकारते हुए कबीर की तरह बेबाक बात उस वर्ग को न्याय का रास्ता एवं सुकर्म के मार्ग स्पष्ट करते हैं-

"पंडित तुम्ह खंडित निरदोखा। पंडित हुतें परै नहिं धोखा।
पंडित केरि जीभ मुख सूधी। पंडित बात न कहै विरूध।
पंडित सुमति देइ पथ लावा। जो कुपंथि तेहि पंडित न भावा।"[6]

प्रेम, सूफी मत का प्राण होता है। साधना से जब मन पवित्र हो जाता है, तो उसमें ईश्वरीय प्रेम का आलोक पड़ता है। सूफीमत में ईश्वर की कल्पना स्त्री और आत्मा की पुरुष रूप में करते हैं। संसार वह स्थल है जहाँ प्रेम की साधना की जा सकती है। सूफी काव्य में लौकिक कथा के माध्यम से अलौकिक सत्ता के प्रति संकेत मिलते हैं। इस मत में गुरू का विशिष्ट स्थान होता है वही साधक को ब्रह्म से मिलाता है। ये लोग साधना के लिए हृदय की पवित्रता पर बहुत जोर देते है। सूफियों का ईश्वर अनंत सौन्दर्यमय ही नहीं, अगाध प्रेममय भी है, इसी से सूफी साधक के जीवन का चरम लक्ष्य है- सौन्दर्य के माध्यम से प्रेम की उपलब्धि।

जायसी ने पदमावत में पदमावती के सौन्दर्य का गुणगान भी इसी परम्परा के अनुसार ही किया है जिसका उल्लेख पद्मावत में स्पष्ट ही दिखाई पड़ता है।

"तन चितउर, मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा।।
गुरू सुआ जेई पंथ दिखावा।
बिन गुरू जगत को निरगुण पावा।"
"रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती।।
जहँ-जहँ विहसि सुभावहि हंसी।
तहँ-तहँ छिटकि जाति परगसी।।"[7]

पद्मावत में कई स्थानों, यात्राओं और युद्ध के वर्णन बड़े प्रभावशाली बन पड़े हैं। नख-शिख वर्णन के अतिरिक्त अन्य कई स्थलों पर भी पदमावती के रूप का चित्रण अभूतपूर्व है। षडऋतु वर्णन और बारह मासे में प्रकृति का वर्णन संयोग-वियोग की भावनाओं से प्रेरित होने पर भी प्रकृति की विशेषताओं का अच्छा परिचायक है।

जायसी का कर्मक्षेत्र अवध जनपद है और उन्होंने किसान जीवन जिया है। कृषि संस्कृति अवध की मूल संस्कृति मानी जाती है, और कृषक समुदाय ग्रामीण जीवन से संबंधित ही होता है, वहाँ की लिखित, मौलिक परम्परा जनश्रुति, लोक विश्वास, लोक उपादान आदि का उपयोग जायसी ने नितांत ग्रामीण चेतना और संवेदना के सहारे किया है, इसी कारण जायसी के काव्य में लोकतत्व की चर्चा वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस ढंग से की है, "गाँव में रहने वाली जनता का जो

धरातल है, उसके ज्ञान की जो उपकरण सामग्री है, उसके परिचय का जो क्षितिज है, उसी के भीतर हर्षित कवि के स्वर ने अपने गान का स्वर ऊँचा किया है।''[8]

जायसी का सम्पूर्ण काव्य लोक जीवन की आधारशिला पर निर्मित हुआ है। उनके यथार्थ जीवनोनुभव से प्राप्त सामग्री ही लोकोन्मुखता में दिखाई देती है। जायसी प्रकृति के विस्तृत रंगमंच पर घटनाओं को कई रूपों में घटित होते दिखाते है। बारहमासा के माध्यम से जिन दृश्यों की अभिव्यक्ति हुई है वह सब ग्रामीण जीवन की सच्ची अनुभूति है। बारहमासा में सम्पूर्ण ग्रामीण जीवन एवं संस्कृति की झलक आप कदम-कदम पर देख सकते हैं। यही कारण है कि जायसी ने नागमती वियोग के पीछे केवल एक राजरानी को आम नारी बनाकर वियोगिनी लोकजीवन से जोड़कर प्रस्तुत किया है, क्योंकि नागमती के वियोग में संस्कृति की छोटे-से-छोटे अनुभव स्पष्ट दिखाई देती हैं, जो जनसामान्य की अनुभूति से अलग नहीं, बल्कि सामान्य भूमि से ही अवतरित हुए हैं। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय मत से स्पष्ट भी होता है, ''जायसी ने बारहमासा का प्रारंभ आषाढ़ से किया है क्योंकि किसान वाला की तरह नागमती के सोचने के ढंग को भी, कवि उजागर करना चाहता है। नागमती चित्तौड़ के पथ को निरंतर देख रही है। उसका पति रत्नसेन परदेसी होकर किसी के वश में पढ़ गया है।''[9]

जायसी की रचनाएँ एक तरह सौन्दर्य की विराट अनुभूति एवं जनसामान्य लोकजीवन से ओतप्रोत हैं तो दूसरी ओर हिन्दु एवं मुस्लिम धर्म को सामंजस्य का पाठ पढ़ाती हैं। तुलसी की रचनात्मक परम्परा, एवं विराट समन्वय को धारण करती हुई लोक जीवन से सीधा साक्षात्कार जायसी में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कबीर की फटकार एवं व्यंग्य हिन्दु एवं मुस्लिम के बीच पुल का काम करने असमर्थ सिद्ध हुआ है वहाँ जायसी इस काम को अंजाम देने में काफी हद तक सफल हुए है। मुस्लिम फकीर जायसी ने अपनी रचनाओं में हिन्दु धर्म की पौराणिक कहानियों एवं उनके नायकों का चित्रण कर जो प्रसिद्धि प्राप्त की है वैसा कवि आज तक नहीं कर पायें। सच्चे 'प्रेम के पीर' जायसी ने अपनी सूफी प्रेम साधना को हिन्दुओं के बीच लाकर बहाया है। और प्रेम साधना में पूरी भारतीय संस्कृति का खूब स्नान किया, जबकि तुलसी की रचनाएँ इसके विपरीत ज्ञान, आध्यात्मिक, मर्यादा, राजसीय एवं हिन्दुत्व को ही अपना विषय स्वीकार कर सकीं।

पद्मावत की महत्वता एवं जायसी का अगाध सूफियाना प्रेम को देखकर शुक्ल ने जो अपना मत प्रकट किया है उससे जायसी का कवि होना फकीर होना, एवं प्रेमी होने आदि की सार्थकता स्पष्ट दिखाई देने लगती है ''पदमावत में प्रेमगाथा की परम्परा पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त मिलती है। यह उस परम्परा में सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसकी कहानियों में भी विशेषता है। इसमें इतिहास और कल्पना

का योग है। चित्तौड़ की रानी पद्मनी या पद्मावती का इतिहास हिन्दु हृदय के मर्म को स्पर्श करने वाला है। जायसी ने यद्यपि इतिहास प्रसिद्ध नायक, नायिका ली हैं पर उन्होंने अपनी कहानी का रूप वही रखा है जो कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में प्रतिष्ठित था। इस रूप में इस कहानी का पूर्वार्द्ध तो बिल्कुल कल्पित है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर।"[10]

जायसी ऐकान्तिक प्रेम की गूढ़ता और गंभीरता के बीच-बीच में जीवन के और-और अंगों के साथ भी उस प्रेम के संपर्क का स्वरूप कुछ दिखाते गए है, इससे उनकी प्रेमगाथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विच्छिन्न होने से बच गई है। उसमें भावात्मक और व्यवहारिक दोनों शैलियों का मेल है। पर है, वह प्रेमगाथा ही पूर्ण जीवन गाथा नहीं, दाम्पत्य प्रेम के अतिरिक्त मनुष्य की और वृत्तियाँ जिनका कुछ विस्तार के साथ समावेश है ये यात्रा, युद्ध, सपत्नी कलह, मातृस्नेह, स्वामिभक्ति, वीरता, कृतघता, छल और सतीत्व है पर इनके होते हुए भी 'पदमावत' को हम श्रृंगाररस प्रधान काव्य ही कह सकते है। श्रीरामचरितमानस के समान मनुष्य जीवन की अलग-अलग बहुत सी परिस्थितियाँ और संबंधों का इसमें समन्वय नहीं है। जायसी का पदमावत लोकविश्वास के आधार पर निर्मित हुआ है यदि इन्हें अलग कर दिया जाय तो यह प्राणहीन हो जायेगा। कवि ने इसके अंतर्गत दिशा विचार, तिथि-नक्षत्र एवं मुहुर्तों का सविस्तार उल्लेख किया है "नख-शिख वर्णन खण्ड में शुभ-सगुन का संकेत देते हुए कहा गया है कि सर्प के मुख में कमल है उसमें दो नेत्र रूपी खंजन पक्षी बैठे हुए है। इस रूप में किसी को दर्शन हो जाये तो छत्र, सिंहासन राज और धन की प्राप्ति होगी।"[11]

सामान्यतः लोग यह विचार करते हैं कि आध्यात्मिक जीवन के लिए लौकिक जीवन की परवाह की क्या आवश्यकता है, ऐसे में वे सब परमात्मा के स्वरूप से वंचित रह जाते हैं। वे इस बात को सर्वथा भूल जाते हैं कि यह जगत भी परमात्मा का ही स्वरूप है। उनकी आध्यात्मिक लगन भव्य है। परन्तु विद्वानों को शिकायत अक्सर इस बात की है उनकी विषय वस्तु के साथ आध्यात्मिक जगत का मेल ठीक नहीं बैठता है। इसी बात की पुष्टि हेतु उल्लेखनीय मत स्पष्ट है "अपने आध्यात्मवाद के लिए पद्मावत की कहानी चुनकर और पद्मावत की कहानी में आध्यात्मवाद का आरोप करने का प्रयत्न कर उन्होंने असंभव को संभव बनाने में हाथ लगाया है। इन दोनों का समन्वय हो नहीं सकता। पद्मावत की कहानी में ये दोनों प्रतिकूल प्रकृति वाले पड़ोसियों के समान हैं जो खरपट और हाथापाई में समय बिताकर एक दूसरे को लांछित करते हैं।"[12]

पद्मावत को पढ़ते-पढ़ते पाठक को दो-अर्थी विसंगति का बोध जरूर होता है एक तो यह कि जायसी उस मुगलकालीन संक्रमण के समय हिन्दुवादी कहानियों

को विषय बनाकर जो सूफ़ीज्म प्रेम की त्रिवेणी बहा रहे थे, उससे वो एकमात्र सच्चे मुसलमान होते हुए भी हिन्दु कवि के रूप में जाने गए, दूसरा अर्थ यह निकलता है कि जायसी ने जिन हिन्दु राजाओं एवं रानियों के चरित्र से रूबरू कराया वो किस हद तक इस दुनिया को आदर्शवादी सिद्ध होगा ये अलग है उस काल में बहु विवाह, बहु प्रेमत्व एवं हजार-हजार स्त्रीयों के बीच केवल एक कामी पुरुष ही श्रेष्ठ था, जायसी की पदमावत इस बात पर जोर देती है कि उस काल विशेष में मुस्लिम एवं हिन्दु धर्म के श्रेष्ठ अनुयायी अपने-अपने धर्म को किस प्रकार पाल रहे थे। क्योंकि पद्मावत के कुछ पदों से यह स्पष्ट होता है कि एक सुशील, कर्तव्यनिष्ठ राजा अपनी धर्मपत्नी (विवाहिता) को विरह में छोड़कर मात्र इसलिए चला जाता है कि एक पक्षी किसी अन्य स्त्री के सौन्दर्य का गुणगान कर देता है तब उस सौन्दर्यमयी महिमा को सुनकर राजा बेहोश, सब कुछ भूलकर मदहोश पड़ा रहता है।

"पदमावती राजा के वारी, पदुमगंध ससि विधि औतारी।
सुनि समुद्र या चरण किकिला, कंवलहिं चहीं भंवर कोई मिला।"[13]

जायसी द्वारा रचित पद्मावत के अतिरिक्त अनेक काव्य उपलब्ध है जिसमें प्रमुख रूप से 'अखरावट', 'आखरी कलाम', 'कहरानामा', 'मसलानामा', आदि उल्लेखनीय है। इन रचनाओं से भिन्न इनकी एक रचना 'चित्ररेखा' भी लघु रचना के रूप में प्रसिद्ध है जो एक प्रेमाख्यानक काव्य है। जबकि शेष रचनाएँ पद्मावत के अतिरिक्त अत्यंत छोटी रचनाएं हैं।

पद्मावत मूलतः रोमांचक शैली का कथा काव्य माना जाता है किन्तु कुछ आलोचक विद्वानों ने इसे आदर्शपरक महाकाव्यों की कसौटी पर कसने का प्रयास किया है, फलस्वरूप उन्हें निराशा का सामना करना पड़ा। कुछ विद्वानों ने कथा-काव्य और महाकाव्यों की मूल चेतना एवं पद्धति के सूक्ष्म को समझे बिना ही इसे महाकाव्य बनाने का प्रयास किया है। इसी बात को और भी अधिक पुष्ट करते हुए डॉ. नगेन्द्र 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में पद्मावत को कुछ इस प्रकार व्यक्त करते है "उन विद्वानों ने, जिनके लिए भारतीयता का आदर्श एक मात्र राम का एक पत्नीत्व एवं सीता का पतिव्रत्य है, इसकी प्रेम पद्धति को सर्वथा विदेशी एवं इसके प्रतिपाद्य को सूफीमत घोषित कर दिया है। यह आश्चर्य की बात है कि जिस काव्य का नायक हिन्दु है, जो नाथपंथी वेश में घर से निकलता है तथा जो शिव-पार्वती की सहायता से अपने लक्ष्य में सफल होता है, वह सूफीमत का संदेश किस प्रकार विज्ञापित कर सकता है।"[14]

किन्तु यदि जायसी के संकेतों को यथार्थ रूप में ग्रहण करते हुए उनका अनुगमन किया जाये तो 'पद्मावत' का समस्त रूपकत्व सर्वथा संगत एवं निर्दोष

सिद्ध होता है, किन्तु उस स्थिति में वह सूफी साधना का प्रतिपादक न होकर, भारतीय मोक्ष साधना का ही व्यंजक सिद्ध होता है। पद्मावत के रूपक तत्व का भारतीय साधना-पद्धति से कितना गहरा संबंध है, यह देखने के लिए कामायनी के रूपक से भी तुलना की जा सकती है। आप पायेंगे कि दोनों के पात्रों के प्रतीकार्थों में बहुत साम्य दिखाई देता है। इसी कारण कुछ विद्वान व आलोचक पद्मावत को रूपक काव्य भी घोषित करते हैं।

इस प्रकार जायसी के द्वारा रचित सभी रचनाएँ एक मूल चेतना से ओतप्रोत हैं। उनका सूफ़ीज्म, फक्कड़पन भले ही हिन्दू कहानियों के माध्यम से फलित हुआ है, किन्तु प्रेम की धारा, सूफी प्रेम साधना के द्वारा ही प्रभावित हुई है। सूफी कवियों की विशेषता यह है कि उन्होंने लौकिक प्रेम कथाओं को अपना विषय बनाया साथ ही उसमें आध्यात्मिकता का समावेश किया। तभी वे भक्ति के दायरे में आईं, इसकी दूसरी विशिष्टता यह है कि ये सभी कथाएँ लौकिक भाषा (अवधी) में दोहा, चौपाई आदि सरल छंदों में प्रस्तुत हैं। कथाओं का विभाजन सर्गों में न होकर, घटनाओं पर आधारित है। आरंभ में ईश्वर, पैगम्बर तथा 'शाहेवक्त' की प्रशंसा एवं गुरू का उल्लेख भी हुआ है। प्रमुख सूफी प्रेमाख्यानों का यदि हम जिक्र करें जिनमें ये सभी विशेषताएँ मौजूद है तो 'मृगावती' (कुतुबन) 'मधुमालती' (मंझन), 'चित्रावली' (उसमान), 'कनकावती' (जान), 'हंसजवाहिर' पद्मावत (जायसी) आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। सूफियों की प्रेमपरक, सौन्दर्यमय साधना को हिन्दु-प्रेम कहानियों में बांधने का सफल प्रयास इन सभी रचनाओं में किया गया है जिसके पीछे उनका एक विशेष कारण सामने आता है ''सूफी कभी परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखते हुए काल के नाना रूपों में उसी प्रियतम की छवि देखते हैं और कभी प्रकृति के सारे रूपों और व्यापारों में पुरुष के समागम हेतु प्रकृति का शृंगार, उसकी विरह व्याकुलता एवं भाव-विह्वलता का चित्रण करते हैं।''[15]

अतः यही सब प्रकृति के स्वरूपों को नाना रूपों में हिन्दी पौराणिक कथाओं के माध्यम से सूफी कवियों ने स्वीकारा, एवं ईश्वर को प्रियतम के रूप में प्रेम की पराकाष्ठा का स्वरूप चित्रित किया। हिन्दुत्ववादी दर्शन को सूफियाना अंदाज में इन सूफी कवियों ने भक्त और भक्ति की अलौकिक से लौकिक सत्ता के रूप में आसान किया है।

अतिथि विद्वान (हिन्दी)
शास. स्नातकोत्तर महाविद्यालय गढ़ाकोटा,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. No.- 7697054826

संदर्भ ग्रंथ :

1. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य का अतीत, प्रथम भाग आदिकाल, भक्तिकाल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.175
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संपादक, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, त्रिवेणी (भूमिका), विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ.09
3. डॉ. लक्ष्मीचंद, कबीर और जायसी ग्राम संस्कृति, (भूमिका) प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृ.03
4. विजयदेव नारायण साही, जायसी, पृ.40
5. अखरावट, पृ.1413
6. जायसी, पद्मावत (नागमती - सुआ संवाद खण्ड 613-7)
7. जायसी, पद्मावत (सिंघलदीप खण्ड पृ.114)
8. वासुदेवशरण अग्रवाल संपादक, पदमावत, पृ.14
9. कबीर जायसी ग्राम संस्कृति, पृ.123
10. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 8वां संस्करण 2012, पृ.67
11. जायसी, पदमावत (नख-शिव वर्णन 17)
12. डॉ. पीताम्बर दत्त, बडथ्वाल के श्रेष्ठ निबंध, संपा. डॉ. गोविन्द चातक, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.141
13. जायसी ग्रन्थावली, पृ. 40-42
14. डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.155
15. शिवकुमार मिश्र, हिन्दी साहित्य संक्षिप्त इतिवृत्त, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.47

अर्थ और संदर्भ : कबीर-सूर-तुलसी

रूबी पाण्डेय

मध्यकाल में भक्ति को एक नयी चेतना के साथ समानता के धरातल पर पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया, जिसे हम भक्ति-आन्दोलन के नाम से जानते हैं। भक्ति-आन्दोलन जन-जीवन की एक महान क्रान्ति का सूचक था। "इसमें कोटि-कोटि दलितों, पीड़ितों और शोषितों के मन में आत्म सम्मान पूर्वक जी सकने की आशा और विश्वास का संचार करने की शक्ति थी।"[1] "भक्त कवियों ने समाज की गतिविधियों, विसंगतियों और समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न खूब किया। वर्तमान की ऐसी विकृतियों पर हथौड़ा मार कर नये गतिशील मानव-मूल्यों की पुनर्सृष्टि ही उनका लक्ष्य रहा है। इसी सन्दर्भ में डॉ. हरिचंद्र मिश्र का कथन है, "इन संतों ने समाज का चित्र ही नहीं खींचा है, अपितु उसी जीवन के मार्फत युगीन अपेक्षाओं के सन्दर्भ में सामाजिक मूल्यों की भी अभिव्यंजना की है।"[2] इनको लोक जीवन से अटूट संबंध था। उन्होनें मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा करके समाज को नए सिरे से संशोधित करने का प्रयत्न किया। समाज की भलाई के लिए ही उन्होंने ऐसा किया। परम्परा ग्रस्त सामाजिक जीवन में कुछ नूतनता प्रदान करना भी उनका लक्ष्य था। वास्तव में भक्त कवियों के चिन्तन और मनन एक नवीन जीवन पद्धति के परिचायक है। यह भारतीय आत्मा का द्योतक है, क्योंकि इसमें अनुभूतियों की तीव्रता है, समस्याओं का समाधान है।

मध्यकालीन भक्त कवियों ने जिन अनुभूतियों और समस्याओं को देखा था, वे ही अनुभूतियाँ और समस्याएँ हमारे बीच अब भी है। भक्तिकालीन कवि हिन्दी काव्य जगत की वह महान विभूति हैं, जिन्होनें सर्वप्रथम मानव को केन्द्र में रखकर काव्य रचना की। मानव को मानव होने का अनुभव कराया तथा मानवीय अस्मिता की शिनाख्त की, जो तत्कालीन समाज में धर्म, वर्ण, जाति के अन्धकूप में पड़ कर

कहीं विलुप्त होती जा रही थी। वे मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने के पक्षधर थे। उनके लिए धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर भेद-भाव अर्थहीन था। वे ऐसे समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे, जिसमें मनुष्य प्रमुख हो। सभी को जीवित रहने तथा अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अधिकार प्राप्त हों।

वी. एन. फिलिप के अनुसार, "जो साहित्य रचना मानव जीवन की सनातन समस्याओं को जितनी गहराई और व्यक्ति के साथ सुलझाती है और मानव जीवन को उदात्त सांस्कृतिक दिशा देने की क्षमता रखती है, वह अपने युग में प्रासंगिक होती है ...युगों में भी कालजयी रचना के रूप में प्रासंगिक बन जाती है।"[3] कबीर, सूरदास तथा तुलसीदास कृत रचनाएँ इसी प्रकार की कालजयी रचनाएँ हैं, जिनकी प्रासंगिकता वर्तमान समय में भी बनी हुई है। इनमें हमें वर्तमान समय से जुड़ी प्रमुख समस्याएँ देखने को मिलती है। अतः आज के समय में इन कवियों के द्वारा अभिव्यक्त जागरूकता क्या महत्व रखती है? यह जानना आवश्यक है।

मध्यकाल में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक आदि सभी दृष्टियों से एक अव्यवस्थित समाज था। इसे सुव्यवस्थित करने के लिए सर्वप्रथम भक्तकवियों ने एक क्रान्तिकारी अभियान की शुरूआत की, जो आगे चलकर भक्ति आन्दोलन के रूप में विकसित हुआ। समाज की विषम स्थिति का वर्णन करते हुए तुलसी कहते हैं,

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग, सीद्यमान सोचबस,
कहै एक एकन सो कहां जाई, का करी?"[4]

सामान्य जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। वे इतने भी साधन सम्पन्न नहीं थे कि कोई स्वरोजगार कर सके। अतः आलथक विषमता के कारण इन साधनहीन गरीब जनता ने सामन्ती व्यवस्था की दासता को स्वीकार कर लिया था-

"द्वार धनी के पड़ि रहै, धका धनी का खाय।
कबहुँक धनी निवाजई, जो दर छाँड़ि न जाय।।"[5]

किन्तु तुलसी ने 'वेद धर्म दूर गये', 'भूमि चोर भूप भये' कहकर राजव्यवस्था के प्रति अपनी असहमति जताई है।

भक्तिकाल पूर्णतः मानव जीवन से जुड़ा होने के कारण उसकी समस्याओं व स्थितियों का अंकन भी सरलता पूर्वक कर सकता है। तुलसी तथा सूर ने मानव

के अधिकारों की माँग को अपने काव्य में विविध रूपों में व्यक्त किया है। कहीं वे बिल्कुल तटस्थ होकर स्थिति को दिखाकर, जनसामान्य के सामने रखकर उन्हें सोचने पर विवश कर देते हैं, तो कहीं स्पष्ट रूप से उनके अधिकार की माँग को विभिन्न प्रसंगों द्वारा उठाते हैं। सूर तथा तुलसी ने नारी-अस्मिता से जुडे विभिन्न संदर्भो को उठाया है, जिनमें लिंग-भेद, नारी अशिक्षा, विवाह में स्त्री-अनुमति, पारिवारिक जीवन में नारी सुरक्षा, अपहरण, मानव व्यापार, यौन-शोषण की समस्या को विशेष रूप से लिया जा सकता है। इस विषय में कुछ बहुत अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि कोई भी विचारशील एवं जागरूक व्यक्ति ये बता सकता है कि आधुनिक संदर्भो में भी आज नारी इन्हीं समस्याओं से जूझ रही हैं। तुलसी 'नारी शिक्षा' के लिए आवाज उठाते दिखाई देते हैं-

"जदपि जोशिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम वचन तुम्हारी।।
गूढउ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहं पावहिं।।"[6]

इसी के साथ मध्यकालीन परिस्थितियों के फलस्वरूप जन्मीं समस्या बहुपत्नी प्रथा से एक स्त्री के जीवन में क्या दुष्प्रभाव पडते हैं? उसको तुलसी ने पहचाना तथा 'श्रीरामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड में रामराज्य के सन्दर्भ में एक-पत्नी प्रथा को ही श्रेष्ठ माना।

सूर की दृष्टि भी मुख्यतः नारी अस्मिता पर केन्द्रित रही है। पुरूष प्रधान समाज में नारी को पग-पग पर अपमानित होना पड़ता है तथा अपने अधिकारों से वंचित रहना पड़ता है। इसी समस्या को केन्द्र में रखकर सूर नारी के स्वायत्तापूर्ण एवं गौरवपूर्ण जीवन के अधिकार को 'द्रौपदी चीरहरण प्रसंग' द्वारा उठाते हैं। इसी प्रकार पुरूष द्वारा नारी को मूल प्राकृतिक रूप में देखने की लालसा द्वारा नारी के मानसिक उत्पीड़न को कवि सूर 'गोपी चीरहरण लीला' में दिखाते हैं। पुरूष की भ्रमर वृत्ति द्वारा जो नारियों का भावनात्मक शोषण होता है, उसे 'भ्रमर गीत प्रसंग' में व्यंजित किया है। नारी के यौन शोषण को 'अहिल्या प्रसंग' द्वारा उठाया गया है।

"गौतम रूप धरि तहँ आयौ। मूर्च्छित भयौ अहिल्या पायौ।।"[7]

मध्यकालीन परिस्थितियों में नारी दशा का पता सती-प्रथा तथा जौहर-प्रथा के द्वारा किया जा सकता है। सूर ने अपने काव्य में कंस वध के पश्चात उसकी रानियों द्वारा जौहर में कूदने के लिए तैयार होने के प्रसंग की रचना की है, जिसमें उन्हें कृष्ण, बलराम द्वारा समझाकर शान्त करने का सुधारवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। तुलसी ने भी स्त्री पर अत्याचार करने वाले को दण्ड देना पाप नहीं समझते हैं-

"अनुज वधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी।।
इन्हहि दुदृष्टि विलोकइ जोई। ताहि वधे कछु पाप न होई।।"[8]

नारी अस्मिता के अतिरिक्त आज भी मध्यकाल की तरह बालश्रम, अस्पृश्यता, धार्मिक स्वतंत्रता की समस्या तथा राजनीतिक क्षेत्र में प्रजा के अधिकारों का हनन पूरी तरह विद्यमान है।

सूर ने अपने काव्य में यद्यपि भक्ति को ही प्रमुखता दी है, किन्तु फिर भी तत्कालीन परिस्थितियाँ तथा सन्दर्भ उनके काव्य में पूर्ण रूप से आए हैं। सामाजिक दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो उनके काव्य में जाति-पांति, वर्ण-कुल आदि सभी प्रकार के भेद-भाव, जो उस समय समाज में प्रचलित थे, अभिव्यक्त हुए हैं। तुलसी जाति-पाँति, धर्म आदि न मानकर केवल एक प्रेम (भक्ति) का ही संबंध मानते हैं-

"कह रघुपति सुनु शमिनी बाता। मानउँ एक भगति कर नाता।।
जाति-पांति, कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई।।
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा।।"[9]

कबीरदास के अनुसार भी-

"भक्ति करै सोई सूरमा जाति वरन कुल खोय।"[10]

तत्कालीन समाज में अस्पृश्यता की समस्या व्याप्त थी, जिसे इन कवियों ने अपने काव्य में उठाया है। कबीर ने स्पष्ट शब्दों में विरोध किया तथा तुलसी ने इसमें नये मार्ग की खोज की है। कबीर के शब्दों में-

"काहे को कीजै पांडे छोति विचारा।
छोतिहीं तें उपना सब संसारा।
हमारे कैसे लोहू, तुम्हारे कैसे दूध।
तुम्ह कैसे ब्रांह्मण पांडे, हम कैसे सूद।।"[11]

तुलसी ने भी 'केवट प्रसंग' तथा 'निषादराज प्रसंग' में अस्पृश्यता को उठाया है-

"पात भरी सहरी, सकल सुत वारे-वारे।
केवट की जाति, कुछ वेद न पढ़ाइहौं।।"[12]

निषादराज ने, अति दलित मानी जाने वाली जातियों में से एक होने के कारण, मुनि को देखकर अपना नाम बतलाकर, दूर से ही दण्डवत प्रणाम किया तथा अपना गाँव, जाति, नाम बताकर पृथ्वी पर माथा टेककर जोहार करते हैं-

"देखि दूरि ते कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसन्हि दंड प्रनामू।।"[13]

× × ×

"गाऊँ जाति गुहँ नाउ सुनाई। कीन्ह जोहारू माथ गहि लाई।।"[14]

तुलसी ने भरत के द्वारा 'निषाद राज को गले लगाना प्रसंग' से इसका विरोध किया है।

"लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा।।
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता।।"[15]

सूरदास ने भी कृष्ण के द्वारा अस्पृश्यता का विरोध दिखाया है -

"काहू के कुल तन न विचारत।

× × ×

कौन जाति अरू पांति विदुर की, ताही के पग धारत।
शेजन करत मांगि घर उनके, राज-मान मद टारत।।"[16]

कबीर के लिए न कोई ऊँचा है, न नीचा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैष्य, शूद्र आदि वर्ग-भेद उनके लिए निरर्थक है-

"एक ज्योति से सब उतपना, कौन ब्राह्मन कौन सूदा।"

तुलसी वर्ण व्यवस्था को समाप्त करके सभी वर्गो की समानता के पक्षधर हैं।

"राजघाट सब विधि सुन्दर बर। मज्जहि तहाँ बरन चारिउ नर।"[17]

सभी वर्ण समान हैं और उसी ईश्वर के अंश हैं-

"एकै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब शँड़े, एक ही सिरजनहारा।।"[18]

इन भक्तिकालीन कवियों ने विश्रृंखलित होते हुए जन साधारण को सत् मार्ग की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया। उन्हें मानवता का पाठ पढ़ाया। धर्म, वर्ण, जाति के आधार पर भेदभाव वादी दृष्टि का विरोध कर 'समतावाद' पर आधारित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। जैसे- ऐक्य में विश्वास, जाति-भेद का विरोध, परहित साधन, निष्काम सेवा तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता। इसे सूक्ष्मता से देखने और परखने के पश्चात ही उन्हें यह अनुभव हुआ कि एक स्वस्थ एवं समन्वयशील समाज की स्थापना तब तक नहीं हो सकती, जब तक प्रत्येक व्यक्ति में एकता का शव न हो और ऐक्य शव उनमें तब तक उत्पन्न नहीं किया जा सकता जब तक उन्हें सच्चाई का ज्ञान न हो जाय।

उनका अटूट विश्वास यह था कि भारत या विश्व के लोग एक-न-एक दिन एक हो जाऐगें। आज मनुष्य समुदाय की मौलिक एकता की आवाज सारे विश्व में गूँज रही है। उसके लिए जुलूस निकालते हैं, नारे लगाते हैं, नेता बयान करते हैं और राजनैतिक पार्टियों के बीच में चर्चा होती है। फल क्या है? केवल आपसी झगड़ा और बैर। भक्त कवियों ने कई सदियों के पहले ही समाज में प्रचलित इस आपसी विद्वेश भावना को मिटाना चाहा, उसके लिए अपने निजी सिद्धान्त को लोगों के सामने रखा, उसके अनुरूप आचरण किया और समाज के तदनुरूप चलाने का प्रोत्साहन भी दिया। उन्होनें निर्भीकता से अपना काम किया। आधुनिक भारतीय सामाजिक एकता के लिए भक्त कवियों का दर्शन अत्यन्त उपयोगी है। एकता की उस मशाल को ले जाने से हमारा सामूहिक जीवन अच्छा रहेगा, जिससे हमारे राष्ट्र की उन्नति उज्ज्वल हो सकती है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि साहित्य एवं काव्य मानव के मन का रंजन ही नहीं करते बल्कि उसकी विविध समस्याओं को स्थान देकर उसे इस ओर जागरूक भी बनाते हैं, क्योंकि काव्य का संबंध सीधे रूप में हृदय से है। यह मनुष्य के हृदय परिवर्तन में अत्यन्त सहायक हो सकता है। भक्ति काल मानव को संवेदनशील बना उसे उदार बनाने के लिए प्रयासरत रहा है। अतः यह कह सकते हैं कि भक्तिकालीन साहित्यकारों की वाणियाँ अब भी प्रासंगिक हैं, आधुनिक समाज को नई दिशा और चेतना दिलाने में उनकी वाणियाँ सफल रहीं हैं।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश

संदर्भ ग्रंथ :

1. अरूण कुमार पाण्डेय, सन्तों और सूफी कवियों की सांस्कृतिक चेतना, पृ. 6
2. डॉ. हरिचंद्र मिश्र, भक्तिकालीन संत साहित्य और मानव मूल्य, पृ. 104
3. डॉ. वी. एन. फिलिप, मध्यकालीन भक्ति साहित्य की प्रासंगिकता, पृ. 203
4. तुलसीदास, कवितावली, उत्तरकाण्ड, 97/1-4
5. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (सं.), कबीर रचनावली, पृ. 126
6. तुलसीदास, रामचरितमानस, बालकाण्ड, 110/1-2
7. सूरदास, सूरसागर, पद, 419/6
8. तुलसीदास, रामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड, 9/7-8
9. वही, अरण्यकाण्ड, 34/3-6
10. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (सं.), कबीर रचनावली, पृ. 102

11. आचार्य महन्त गंगाशरण शास्त्री (सं.), महाबीजक, पृ. 438
12. तुलसीदास, कवितावली, अयोध्याकाण्ड, पृ. 8/1-2
13. तुलसीदास, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ. 193/5
14. वही, 193/8
15. वही, 194/3-4
16. सूरदास, सूरसागर, पद, 12
17. तुलसीदास, रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, 29/3
18. डॉ. श्यामसुन्दर दास (सं.), कबीर ग्रन्थावली, पृ. 82

संत रविदास : चिन्तन एवं दलित मुक्ति की प्रासंगिकता

हरिश्चन्द्र यादव

मानव-समाज किसी न किसी व्यवस्था को अपनाकर ही चल सकता है। जब तक समाज में समानता नहीं हो जाती, तब तक मानव समाज सुख व शान्तिपूर्ण ढंग से नहीं रह सकता। समाज में समानता का खात्मा तभी से हो गया, जब कुछ स्वार्थी लोग अपने ऐश्वर्य के लिए समाज के अन्य लोगों के हिस्से की सामग्री का प्रयोग करने लगे और अधिक से अधिक प्राप्त करने के लिए कई तरह की तिकड़में लड़ानी शुरू की। इस प्रयास में सम्पत्ति व ज्ञान के तमाम स्त्रोंतो पर अपना वर्चस्व स्थापित करते शक्तिशाली बनते गए। लेकिन जिन लोगों के हिस्से में सिर्फ मेहनत करना आया और उसके फलों से उनकों यह कहकर वंचित कर दिया कि 'कर्म-करो, फल की इच्छा मत करो', उसके मन में ही समाज की बराबरी पाने की कसक रही, जो बार-बार दलित वर्ग से ताल्लुक रखने वाले लोगों में आए विद्वानों और चिन्तकों ने अपनी वाणी और लेखन के द्वारा समस्याओं को उठाने का प्रयास करने लगे। असल में ये केवल रविदास के ही नहीं, बल्कि उस पूरे वर्ग के विचार हैं, जिससे संत रविदास ताल्लुक रखते थे और जिसका वह प्रतिनिधित्व भी करते थे। संत रविदास को अपनी अप्रसन्नता की उतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी कि समस्य पीड़ितों-वंचितों की थी। परन्तु असली बात यह थी कि संत रविदास की प्रसन्नता तो सबकी प्रसन्नता में ही निहित है। राज्य से उनका अर्थ असल में मात्र शासन व्यवस्था से नहीं है, बल्कि समय से है, काल से है, व्यवस्था से है। भारतीय मानस इसी तरह अपनी आकांक्षा को अभिव्यक्ति करता है।

"रविदास एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं, जहाँ ऊँच-निच और दुःख-दर्द नहीं हो, पूरा न्याय हो और सब एक-दुसरे के मित्र हों। इसको वह बेगमपुरा का नाम देते हैं।"[1]

रविदास ने बेगमपुरा नगर की कल्पना करके अपनी समाज के प्रति सोच को उजागर किया है। बेगमपुरा की कल्पना असल में एक फैंटेसी की तरह है। ऐसा नगर शायद ही दुनिया में कहीं मौजूद हो, लेकिन संत रविदास के मन व चेतना में उसकी स्पष्ट छवि है।

"बेगमपुर सहर को नाउ।
दुखु अंदोहु नहीं तिहि ठाउ।
ता तसवीस खिराजु न मालु।
खउफु न खता न तरस जवालु।।
अब मोहि खूब वतन गह पाई।
ऊहां खैरि सदा मेरे भाई। (रहाउ)
काइमु दाइमु सदा पाति साही।
दोम न सेम एक सो आही।
आबादानु सदा मसहुर।
ऊहां गनी बसहि मामूर।।
तिउ तिउ सैल करहि जिउ भावै।
महरम महल न को अटकावै।
कहि रविदास खलास चमारा।
जो हम सहरी सु मीतु हमारा।।"[2]

संत रविदास ने जिस तरह के शहर की कल्पना की है, उस तरह से शायद ही किसी संत-भक्त या अन्य दार्शनिक ने की हो। वे मनुष्य को हर प्रकार के कष्ट से मुक्त देखना चाहते हैं। उसके दिमाग में एक न्यायपूर्ण समाज की कल्पना है, जिसमें कोई ताकतवर कमजोर को न सताए, अपने बल का प्रयोग करके उसका जीना दूभर न कर दे। ताकतवर और कमजोर एक दुसरे के साथ सह-अस्तित्व के साथ रह सके, न कि एक-दूसरे की कीमत पर। इस तरह से संत रविदास का समाज तो सही मायने में समाजवाद की ही कल्पना है।

काफी समय के बाद में जाकर इस विचार को मुकम्मल दर्शन का और इसे प्राप्त करने के तरीकों व शक्तियों का विचार कर पाए। संत रविदास ने समस्त समाज को सुखी रहने की स्वाभाविक वृत्ति को इसमें व्यक्त किया है, लेकिन समाज में स्वार्थी शक्तियां भेदभाव पैदा करके अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए इसे साकार नहीं होने देता है।

"हिन्दी साहित्य में मध्यकालीन संतों ने वाणी, शब्द साखी और पद तथा पदालियों का विश्लेषण आध्यात्मिक और धार्मिक दृष्टि से किया गया है। किन्तु

इनके द्वारा समाज के जीवन, सामाजिक मूल्य, उनकी आशाओं-दुराशाओं को प्रायः अनदेखा कर दिया गया है कुछ संतों ने समाज में परिव्याप्त आपसी कलह, विद्वेष और भेदभाव की भावना से दूर ऐसे देश, राज्य और समाज की कल्पना की है जो प्रेम और न्याय पर आधारित हो। यह देश एक प्रकार का यूटोपिया या काल्पनिक था, किन्तु आशाओं-दुराशाओं के परिचायक भी थे।"[3] दलित चिन्तक कंवल भारती ने आचार्य जी के मंतव्य पर सही टिप्पणी की है कि "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सरीखे आलोचक यह नहीं जानते कि इन्हीं दलित सन्तों के पद गुरु ग्रन्थ साहब में संकलित हैं, जो काव्य के अनेक अंगों और रागों में बद्ध हैं और उनकी संगीतात्मकता इतनी सरस है कि कुमार गंधर्व जैसे संगीतकारों ने उन्हें न केवल अपने गायन का अंग बनाया, वरन् उनके आधार पर कितनी ही मधुर संगीत रचनाओं का सृजन भी किया। संत कबीर और रैदास आदि के पदों की यह रसात्मक भाव धारा ही है, जो संगीतकारों को आकर्षित करती है और श्रोताओं को अलौकिक आनंद से सराबोर करती है। क्या उनके पदों की यह अंग रागबद्धता निर्धारित काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के बिना सम्भव हो सकती है।"[4] इसी तरह भारतीय चिन्तन परम्परा में भक्ति आन्दोलन के बारे में के. दामोदरन ने लिखा कि "भक्ति आन्दोलन ने देश के भिन्न-भिन्न भागों में, भिन्न मात्राओं में तीव्रता और वेग ग्रहण किया। यह आन्दोलन विभिन्न रूपों में प्रकट हुआ। किन्तु कुल मूलभूत सिद्धान्त ऐसे थे जो समग्र रूप में पूरे आन्दोलन पर लागू होते थे- पहले, धार्मिक विचारों के बावजूद जनता की एकता को स्वीकार करना, ईश्वर के सामने सबकी समानता, तीसरे जाति प्रथा का विरोध, चौथे, यह विश्वास कि मनुष्य और ईश्वर के बीचे तादात्मय प्रत्येक मनुष्य के सद्गुणों पर निर्भर करता है, न कि उसकी ऊँची जाति अथवा धन सम्पत्ति पर, पाचवें, इस विचार पर जोर कि भक्ति की आराधना का उच्चतम स्वरूप है, और अन्त में, कर्मकाण्डों, मूर्ति पूजा, तीर्थाटनों और अपने को दी जाने वाली यंत्रणाओं की निन्दा। भक्ति आन्दोलन मनुष्य की सत्ता को सर्वश्रेष्ठ मानता था और सभी वर्गगत एवं जातिगत भेदभावों तथा धर्म के नाम पर किये जाने वाले सामाजिक उत्पीड़न का विरोध करता था।"[5] इसी तरह से धर्मपाल मैनी ने रविदास की भक्ति के सार पर अपना विचार प्रस्तुत किये है। "रैदास की विचारधारा में मूल स्वर ब्रह्म का है, तो उसका स्वर एक छोर पर उनकी अपनी हीनता से जुड़ा हुआ है, जिसके केन्द्र में उनकी जाति है। वास्तव में रैदास की मूल समस्या ब्रह्म के साक्षात्कार की न थी, उनकी मूल समस्या तो अपनी हीनताओं से मुक्ति पाकर आत्म-उन्नयन की थी। इसलिए वे निरन्तर ब्रह्म की चर्चा के साथ अपनी जातिगत हीनता को जोड़ देते हैं। रैदास की दृष्टि में भगवद्भक्ति ही ऐसा एक मात्र साधन था, जिसके आधार पर वे अपने को समुन्नत अनुभव कर सकते थे। इसलिए रैदास आत्म-उद्धार

के लिए व्याकुल थे। इसलिए अपने प्रारम्भिक पदों में रैदास ईश्वर के सम्मुख आत्महीनता को स्वीकार करते हुए विनती करते है, इसके बाद वे ब्रह्मा की सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, उदारता, दीन- दलितों के प्रति सदाशयता का वर्णन करते हैं तथा अन्त में आकर वे इस बात से आत्म-उन्नयन को अनुभव करते हैं कि वेदज्ञ विप्र भी उन्हें दण्डवत करते हैं। इस व्यक्तिगत समस्या के सहारे ही उनकी आध्यात्मिक विचारधारा अंकुरित और पल्लवित हुई है। इस प्रकार जाने-अनजाने वे उस सामाजिक समस्या पर भी विचार कर गए हैं, जिसने जाति और वर्ण के नाम पर विशाल जनसंख्या का सामाजिक और मानसिक शोषण किया है। सामाजिक दुर्व्यवहार और राजनैतिक अव्यवस्था के संत्रास को सर्वाधिक उस समय की जातियां सह रही थी। इसलिए रैदास भगवान की भक्ति की ओर उन्मुख हुए। क्योंकि उनकी दृष्टि में भगवान नीचों को ऊंचा बनाने वाला अतएव वे रैदास की भी विपत्ति को हरने में समर्थ हैं। रैदास की भक्ति इसी साध्य को पाने का साधन है। साध्य के प्रति उनकी निष्ठा भक्ति की गम्भीरता और तल्लीनता से लक्षित है।''[6]

''तेरहवीं शताब्दी तक भारत में अफगान शासकों का अधिकार हो चुका था। ईरान, अफगानिस्तान, ईराक एवं अरब के अन्य क्षेत्रों से सैनिक, व्यापारी एवं जिज्ञासु विद्वान विभिन्न उद्देश्यों से भारत आया-जाया करते थे। अल-बरूनी सदृश विद्वानों ने भारतीय समाज और संस्कृति का विस्तृत अध्ययन भी किया था। इस काल में (दसवीं से तेरहवीं शताब्दियों की बीच) कई भारतीय दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं साहित्यिकार कृतियों का अनुवाद अरबी-फारसी में हो चुका था। प्रसिद्ध सूफी संत अब्दुल कलंदरी ने ग्यारहवीं शताब्दी में भारतीय दर्शन के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'योग-वाशिष्ठ' का फारसी में अनुवाद किया था। खलिफा हारून-अल-रशीद के समय में पंचतंत्र का अनुवाद अरबी एवं फारसी, दोनों भाषाओं मे हो चुका था। इन भाषाओं में इस पुस्तक का नाम 'कलीला-ओ दिमना' पड़ा। इसी कथाएं ईरान, ईराक एवं पश्चिमी एशिया के अन्य क्षेत्रों में अत्यन्त लोकप्रिय हुई। शेख फरीद्ददीन अत्तार के 'इलालीनामा' एवं मुसीबतनामा में पंचतंत्र एवं कथा सरित्सागर की कई कथाएं कुछ परिवर्तन के साथ मिलती है। मौलाना रूमी की 'मसनवी' में भी पंचतंत्र की कई कथाओं का समावेश मिलता है।''[7]

उपर्युक्त विवेचना के बाद मालूम होता है कि भक्तिकाल के संतों ने परम्परागत तौर पर प्रचलित संस्थागत हिन्दू धर्म और इस्लाम के रचनाओं के स्थान पर नई प्रणालियों को विकसित किया। वे दोनों धर्मों के धार्मिक आडम्बरों और पाखण्डों का विरोध करते थे। धर्म के दायरे में रहते हुई भी उसको नई तरह से व्याख्यायित करने की जद्दोजहद की अभिव्यक्ति संत साहित्य में होती है।

जिन निम्न जातियों के लोगों को मुख्य सड़कों पर चलने का अधिकार भी नहीं था, शिक्षा का अधिकार भी नहीं था और जिनको अपनी पहचान बताकर शहर में प्रवेश करना पड़ता था। उन वर्गों से संबंधित रचनाकार अब सरेआम वर्चस्वी वर्ग के लोगों को शास्त्रार्थ की चुनौती देते हैं, आखिर इस तरह के आत्मविश्वास का सामाजिक-सांस्कृतिक कारण व आधार तत्कालीन समाज में इनको हैसियत के अलावा और क्या हो सकता है? निम्न जातियों से इतने संतों का आना और रविदास जी का आत्मविश्वास दलित वर्गों का सामाजिक-आर्थिक स्थिति की ओर भी संकेत करता है।

परम्परागत तौर पर प्रचलित वर्चस्वी विचारों को चुनौती पेश करने वाली सामाजिक शक्तियां जो नए विचारों व परिवेश का स्पर्श पाकर विकसित हो उठी थी, उन्हीं की आकांक्षाओं को संतों की कविताएं प्रासंगिकता प्रदान करती है।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
E-mail:yadavharishchandra282@gmail.com
Mob. No: 9454169204

संदर्भ ग्रंथ :

1. सावित्री चन्द्र शोभा, हिन्दी भक्ति साहित्य में सामाजिक मूल्य एवं सहिष्णुतावाद, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2007, पृ. 11
2. संत रैदास, रैदास की वाणी, बेलवीडियर प्रिटिंग वर्क्स, इलाहाबाद, पृ. 10
3. सावित्री चन्द्र शोभा, हिन्दी भक्ति साहित्य में सामाजिक मूल्य एवं सहिष्णुतावाद, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2007, पृ. 9
4. कंवल भारती, संत रैदास : एक विश्लेषण, बोधिसत्त्व प्रकाशन, रामपुर (उ.प्र.) द्वितीय संस्करण 2005, पृ. 78
5. के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि., नई दिल्ली, चौथा संस्करण 2001, पृ. 330
6. धर्मपाल मैनी, रैदास, साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृ. 49
7. त्रिनाथ मिश्र, मौलाना जलालुद्दीन रूमी, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, प्रथम संस्करण 2007, पृ. 118

संत रैदास की वाणी एवं विचार

भारती कोरी एवं मनोज कुमार

संत रविदास भक्तिकाल की निर्गुणधारा के संत कवियों में से एक थे। रविदास प्रभुभक्त, साधक एवं मानवतावादी, सर्वधर्म समभाव के तपस्वी महापुरुष माने जाते हैं। रविदास का व्यक्तित्व भक्तियुग में बड़ा ही प्रभावशाली रहा है। संत रविदास बचपन से ही बड़े प्रतिभाशाली थे, उनका जीवनदर्शन सादगी से भरा हुआ था। संत रविदास कर्मकाण्ड एवं आडम्बरों को नहीं मानते थे, वह हमेशा ही जनकल्याण एवं समाजसुधार को केन्द्र में रखकर काव्य सृजन करते थे। वे भक्ति और प्रेम से अभिभूत होकर एवं धर्मप्रचार की भावना से ओतप्रोत होकर जो कुछ भी अपनी वाणी में गाते वही उनकी कविता बन जाती। संत रविदास ने सामाजिक अस्थिरता को कम करने का प्रयास बराबर किया। उनकी वाणी और साधना सामाजिक जीवन के अत्यंत निकट थी। रैदास की वाणी ने जो अलख समाज में जगाया वह हमारे टूटते-बिखरते जीवन के सापेक्ष बहुत ही मूल्यवान हैं।

संत रविदास की वाणी अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा उच्चस्तरीय थीं। परम्परागत अनेक संतों, कवियों व विद्वानों का उनकी वाणी से प्रभावित होना उनकी वाणी को महत्व प्रदान करने वाला है। संतकाव्य के मर्मज्ञ अध्येता डॉ. बी.पी. शर्मा ने कहा कि- "वास्तव में संत रैदास पाण्डुलीपियों की परतों में दबे रहे इस चमार को किसी ने देखा ही नहीं अन्यथा यह चमार विचित्र भक्त था।"[1]

संत रविदास ने अपनी वाणी एवं सदुपदेशों के बल पर समाज में नई चेतना का संचार किया। उन्होंने समाज में रहने वाले लोगों को पाखंड एवं अंधविश्वास को छोड़कर सच्चाई के पथ पर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। क्योंकि मध्ययुग तो रूढ़ियों, अंधविश्वासों और कुरीतियों की बेड़ियों का युग था। साहित्यिक, धार्मिक और राजनीतिक स्तर पर संत रविदास ने लकीर को ठुकराते हुए फकीर की भूमिका निभाई।

तत्कालीन समाज व्यवस्था में धार्मिक, रूढ़िवाद और दिखावा उस समय के हर व्यक्ति को जकड़े हुए था, इसलिए धार्मिक अंधविश्वास का प्रखरता के साथ विरोध किया गया। इस अंधविश्वास और रूढ़िवाद का कारण कहीं वेद, पुराण थे तो कहीं पारिवारिक मर्यादाऐं। इसीलिए संत रैदास ने इन कुरीतियों पर प्रहार किया और अपनी वाणी के माध्यम से उसे समाज से खत्म करने का बीणा उठाया। आचार्य कन्हैयालाल प्रभाकर ने लिखा - 'कि राष्ट्रीय और सामाजिक परिस्थितियों ने मानव समाज को छोटी-बड़ी जातियों में बाँट दिया, मानवों के एक बड़े समूह को उन अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया जो पशुओं को भी प्राप्त थे।' इस तरह संत रैदास ने सामाजिक विषमता के मूल का प्रतिकार करते हुए जन्म की अपेक्षा कर्म को विशेष महत्व दिया है। संत रैदास ने समाज में फैली अनेक कुरीतियों जैसे वर्णव्यवस्था, ब्राह्मणवाद का विरोध, हिंसा का प्रतिकार, रामरहीम की एकता, सामाजिक संस्कार, समरसता ऐसी अनेक प्रकार की बुराईयाँ थी, जो समाज में बहुत अधिक चरम पर थी। वह इन सब बुराईयों से बहुत दुःखी थे। समाज से इन कुरीतियों को दूर करने के लिए रैदास ने अपनी वाणी के द्वारा समाज को जागरूक किया और सब व्यक्तियों को ज्ञान का पाठ पढ़ाकर उन्हें सही मार्ग पर लाने का निरंतर प्रयास करते रहे। समाज में मेल-जोल और भाईचारे की भावना बढ़ाने के लिए कई निर्गुण संतों ने समय-समय पर महत्वपूर्ण योगदान दिऐ, ऐसे संतों में संत रविदास का नाम भी अग्रगण्य हैं। रैदास ने अपनी वाणी के माध्यम से समाज में लोकवाणी का अद्‌भुत प्रयोग किया, जिसका मानवधर्म और समाज पर अमिट प्रभाव पड़ा। "संत रविदास एक आध्यात्मिक, संतसाधक और भक्तिभाव में विशेष अग्रणी थे। वे कर्मकाण्ड, तीर्थयात्रा, जप-तप आदि बाह्यडम्बर पर विश्वास नहीं करते, उन्होंने समाज उत्थान में धर्म का सबसे उत्तम सहारा लिया। एक ओर तो परम्परावादी दलित अशिक्षित, सामाजिक जनता के समक्ष ईश्वर का विरोध नहीं किया, लेकिन ईश्वर को अनन्त, अजन्मा, निराकार बतलाकर अपनी वाणियों से कर्मकाण्डी पूर्ण सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया।"[2] समाज में इन बुराईयों के रहते भारतीय समाज के अंतर्गत वर्ण व्यवस्था एक ऐसी समस्या है जिसके कारण समाज चार समुदायों या वर्गों में विभाजित हो गया था। समाज में फैली इस वर्ण व्यवस्था में संपूर्ण मानव समुदाय फँसता चला जा रहा था। क्योंकि इस व्यवस्था के नियम ऊँचे लोगों द्वारा तय किये गऐ थे इसीलिए इसके नियम बहुत कठोर थे। संत रैदास ने जातिवाद को मनुष्यता को समाप्त करने वाला रोग बताया है। रैदास ने समाज को खोखला और विकास में बाधक जाति के रोग को समाप्त करने का आह्‌वान किया। उन्होंने कहा कि जब तक जातिप्रथा समाप्त नहीं होगी तब तक

मनुष्य, मनुष्य से प्रेम नहीं कर सकता अर्थात् जाति ही मनुष्य को एक-दूसरे से दूर कर समाज एवं व्यक्ति को कमजोर बनाने का कार्य करती हैं-

"जात-पाँत में जात है, ज्यों केलन के पात।
रैदास-न मानुष जुड़ सके, ज्यों जौं जात न जात।।"[3]

भारतीय समाज के अंतर्गत अस्पृश्यता एक गंभीर समस्या है जिसका हजारों साल का वृहद् इतिहास है। वैदिक काल की आरंभिक व्यवस्था से लेकर वर्तमान समाज तक यह विभिन्न रूपों में प्रचलित रही है। प्रारंभ में इसका प्रभाव वर्ण व्यवस्था के तहत् रहा और अब इसे जाति व्यवस्था के रूप में देखा जा सकता है। इसीलिए संत रैदास ने जातिप्रथा का विरोध किया और रैदास जी जाति पूँछने से मना करते हैं। उनका मानना है कि समस्त मानव ईश्वर के पुत्र हैं। अतः कोई नीची जाति का कैसे हो सकता है-

"जन्म जात न पूछिए, का जात और पाँत।
रैदास पूत सम प्रभ के कोइ नाहिं जात कुजात।।"[4]

इस तरह संत रैदास ने वर्ण व्यवस्था और उसके अंतर्गत जाति व्यवस्था के सख्त विरोधी थे। सामाजिक भेदभाव जनित परिस्थितियाँ समाज में सर्वाधिक हिंदू धर्म के अंदर ही दिखाई देती हैं। संसार का सबसे रोगग्रस्त और विकारपूर्ण धर्म यहीं है। संत रैदास ने सामाजिक अस्थिरता को कम करने का बराबर प्रयास किया। उनकी वाणी साधना सामाजिक जीवन के अधिक निकट हैं। संत रैदास ने सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में अपनी वाणी की शीतलता, करूणा और मैत्रीभाव से समाज से सभी बुराईयों का अंत करके उसे नई दिशा की ओर अग्रसर करना चाहते थे। इस तरह संत रैदास ने जाति-पांति का विरोध ही नहीं किया अपितु निम्न जाति का होते हुए भी श्रेष्ठ जाति के मिथ्याचारियों से अधिक सम्मान पाकर यह सिद्ध कर दिया कि सदाचार, ईमानदारी के द्वारा भी कोई व्यक्ति महान् बन सकता हैं।

संत रैदास ने बाह्यडम्बरों का भी डटकर विरोध किया है। उन्होंने धर्म के नाम पर होने वाले दिखावे जैसे तिलक लगाना, मालाफेरना, जनेऊ धारण करना एवं विचित्र प्रकार की वेशभूषा धारण करके पुजारियों पर अपनी वाणी द्वारा तीखा प्रहार किया है। उनका कहना है कि जो लोग इस तरह के कार्य करते हैं वो भगवान के नाम पर अपनी जेब भरते हैं एवं साधारण व्यक्ति को अपना शिकार बनाकर उन्हें ठगते हैं। रैदास जी ने इस प्रकार आडम्बरों का विरोध किया। इसी संदर्भ में धर्मपाल मैनी लिखते हैं- "आडम्बर परायण पुजारियों की सारी पूजा ही व्यर्थ हैं, क्योंकि वह पवित्र चेतना से अभिमण्डित नहीं है। इस पूजा में जिस दूध का यह प्रयोग करते

हैं उसे थन चूँसते हुए बछड़ा ही जूठा कर चुका है। फूल को भौंरे ने उछिष्ट कर दिया है। पानी को मछली ने बिगाड़ दिया है। अब किसी पवित्र सामग्री के अभाव में भगवान की पूजा कैसे की जाये। संत रैदास ने पूजा की औपचारिकता का कितना सहज और स्वाभाविक विरोध कर पुजारी को सचेत किया। कि औपचारिकताओं का नहीं, मूलभाव का महत्व है- जैसे भगवान पवित्र हैं। वैसे ही पवित्र हृदय ही भक्ति को वह बिना किसी औपचारिकता के भी स्वीकार कर लेता है। अतः जन समाज को इस आडम्बर में भरमाने की आवश्यकता नहीं है।''[5] इस तरह संत रविदास ने समाज में फैली कुरीतियों, कर्मकांडों, ऊँच-नीच की भावना एवं पाखंडों का विरोध किया। संत रैदास ने समाज को अपनी वाणी से ज्ञान, भक्ति, प्रेम जैसे नैतिक मूल्य स्थापित करना चाहते थे। ये समस्त मिथ्याचारों तथा आडम्बरों का संत रैदास ने डटकर विरोध किया। संत रैदास मानते थे कि 'मन चंगा तो कटौती में गंगा'। क्योंकि मन की शुद्धता ही समस्त बुराईयों का नाश करती है। इसी तरह संत रैदास ने हिंदू तथा मुसलमानों द्वारा जीव हत्या का विरोध किया है। वह कहते हैं कि किसी भी जीव को मारकर कभी भी खुदा की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिस गाय और बकरी को ईश्वर ने पोषण के लिए बनाया है, भला उसे मारकर ईश्वर की प्राप्ति कैसे हो सकती है-

''रैदास जीव कूँ मारकर, कैसों मिलहि खुदाय।
पीर पैगम्बर औलिया, कोउ न कहइ समुझाय।।
रैदास जनु पोषण हेत गनु बकरी नित खाय।
पढ़ई नमाज रात-दिन, तबहु भिस्त न पाय।।'[6]

इसी संदर्भ में डॉ. बृजमोहन शर्मा कहते हैं- ''छुआछूत एवं ऊँच-नीच को ही नहीं बल्कि गुरुजी ने मांसाहार, अनैतिकता के अतिरिक्त धनलिप्सा, दुराचरण जैसे तत्वों को असामाजिक बतलाकर एक लंबी क्रांति का सूत्रपात किया।''[7] इस तरह धार्मिक संकीर्णताओं, भेदभावों को भी उन्होंने सर्वथा त्याज्य बतलाया है, क्योंकि यह भेदभाव ही वसुधैव कुटुम्बकम् का विरोधी है। इसी ने तो आदमी को आदमी से दूर किया है। मानवीयता के लोकोपकारी सिद्धांतों के प्रसार एवं प्रचार से मंदिर मस्जिद, गिरजाघर आदि पूजा स्थानों तथा काबा, काशी, मक्का, मथुरा आदि तीर्थस्थानों का भी कोई विशेष महत्व नहीं है। यह सब बाह्य आडम्बर हैं इन आडम्बरों से प्रभु की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि ईश्वर तो मनुष्य के हृदय में बास करता है-

''का मथुरा का द्वारिका, का कासी हरिद्वार।
रैदास खोजा दिल, अपना तऊ मिलिया दिलदार।।'[8]

चूंकि संत रैदास निर्गुण काव्य धारा के कवि थे। वह अपने राम को अजन्मा, मानते हैं, उसका न जन्म हुआ है न कोई आकार और न ही कोई रंग है। वह तो निर्गुण निराकार ब्रह्म के भक्त थे। इसीलिए संत रैदास ने समाज में अपनी वाणी द्वारा लोगों को बताया कि इन आडम्बरों में कुछ नहीं रखा है। सबका ईश्वर एक है और सभी का सृजनहारा भी एक है। उन्होंने अपनी वाणी द्वारा निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना करने को कहा है, क्योंकि ईश्वर को प्रेम से भी प्राप्त किया जा सकता है। वह किसी दिखावे का मोहताज नहीं है। ईश्वर तो मनुष्य के हृदय में रहता है। संत रैदास के ब्रह्मचिन्तन के बारे में डॉ. गुरुचरनसिंह लिखते हैं- "रविदासजी निर्गुण, निराकार ब्रह्म के उपासक थें। इन्होंने ब्रह्म के अव्यक्त और व्यक्त दोनों रूपों को व्याख्यित किया है इनमें अव्यक्त रूप इन्हें अधिक प्रिय हैं। निर्गुण अव्यक्त ब्रह्म की भावना में आकर अनेक गुणों से संबोधित किया गया है। उनके साथ अनेक संबंध भी स्थापित किये गये हैं। वह दयालु है, स्वामी है, सर्वशक्तिमान है, सर्वव्यापी है। वह हमेशा भक्त वात्सल्य रहता है उसे पतितपावन कहा गया है। सगुणवाद और इस्लाम को अनेक नामों से पुकारा गया है। इन नामों में 'राम' नाम सर्वाधिक प्रिय है। राम उस निर्गुण ब्रह्म का प्रतीक है, वह सत्य स्वरूप है। घर-घर में रमण करता है, वह हमेशा एक रहता है। अंत में रैदास अपने राम के स्वरूप को वग्रित करने के पश्चात् यही कहते हैं कि वह अकथनीय है वह अपने जैसा आप ही है उसे किसी की उपमा नहीं दी जा सकती।"[9] धार्मिक मान्यताओं एवं विश्वास की आड़ में शोषण का एक विशाल जाल फैलता जा रहा है। रूढ़ियों और तंत्रमंत्र से जकड़ा समाज आज सत्य को जानने में असमर्थ है। संत रैदास ने सामाजिक आदर्शों में किसी भी प्रकार की असमानता एवं असंतुलन को नहीं स्वीकारा, तथा सभी धर्मों को समान समझा एवं समाज को एकता का उपदेश देकर भेदभाव को मिटाने का प्रयास किया। इस तरह संत रैदास ने सत्य को ईश्वर का प्रतिरूप मानते हुए सत्य को सर्वशक्तिमान कहा है–

"सत्त ईश कहुँ रूप हैं सत्त सक्ति अत्त अपार।
रैदास सत्त के धारणा देइहिं पाप निवार।।
सत्त सक्ति सौं होत हैं सभ पावन कर नास।
बधिरा सत्त सौ बोध लेइ सत्त भाषै रैदास।।"[10]

संत रैदास ने समाज में रहकर सामाजिक दुर्गुणों का निषेध किया और समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वाणी तथा उपदेशों से यह संदेश दिया कि व्यक्ति को काम, क्रोध, मद, लोभ से कोसों दूर रहना चाहिए। क्योंकि जो व्यक्ति इन पाँच विकारों से जुड़ा रहेगा वह मनुष्य नहीं होता एवं जो व्यक्ति इन विकारों का त्याग

करके रहता है वह देवतुल्य माना जाता है। क्योंकि धन की तृष्णा अनेकानेक सामाजिक बुराईयों को जन्म देती हैं। अतः रैदास ने धनसंचय करने वालों को भी सचेत किया है। संत रैदास कहते हैं कि मनुष्य को उतना ही धन रखना चाहिए जितनी की उसे आवश्यकता हो। इसीलिए रैदास कहते हैं।

"धन संचे दुख देत है, धनमति तिआगे सुख होइ।
रविदास सीख गुरूदेव की, धन मति जोरै कोई।।
सच्चा सुख सति धरम महिं, धन सच सुख नाहिं।
धन संचे दुख रवान है, रविदास समुझि मन माहिं।।"[11]

संत रविदास ने मानव जीवन को सामाजिक दृष्टि से ऊँचा उठाने के लिए अपनी वाणी के द्वारा कई उपदेश दिए हैं। उन्होंने कहा है कि काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, अहंकार ये मानसिक विकार हैं। इन माँच विकारों ने मिलकर मनुष्य को लूट लिया है। जिसके रहते मनुष्य, ईष्या, ज्ञानी, शूरवीर, दाता एवं अपने आप को क्या-क्या समझने लगता है, और वह मिथ्यामानी हो जाता है। इसीलिए इन पंच विकारों का त्याग करके ही मनुष्य अपने आपको सुखी रख सकता है-

"काम, क्रोध, माया मद मतसर, इन पंचनहु मिति लूटे।
हम बड़ कवि कुलन हम पंडित, हम जोगी सन्यासी।
ज्ञानी-गुनी सूर हम दाटे, इह बुद्धि कबहु न नासी।।"[12]

संत रविदास जी ने जीवन का आधार सदाचार को माना है। उन्होंने सत्य और संतोष के अतिरिक्त धैर्य, क्षमा, उदारता, संयम आदि को विशेष महत्व दिया है। मानव, मानव की एकता में वे अधिक विश्वास करते हैं, उनकी यहीं सहजता उन्हें महान बना देती है। रैदास ने जिन मूल्यों को जीवन में उतारा उससे केवल उनकी वाणी में ही नहीं बल्कि उनके व्यावहारिक जीवन में भी उन्हें और अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है इसी संदर्भ में डॉ. पद्मगुरु चरणसिंह "रविदास जी ने सहजधर्म के लिए सदाचरण को बहुत महत्व प्रदान किया है। इनके विचारानुसार सदाचरण से मनुष्य प्रभु को प्राप्त करता है। सदाचरण के दो रूप हैं। पहला नैतिक आचरण इसमें संतोष, संयम, धैर्य, दया, क्षमा, परोपकार, निर्भयता, उदारता, सहनशीलता, समदर्शिता और सदाचरण। दूसरा रूप निसिद्ध आचरण के त्याग में दिखाई देता है इनमें काम, मोह, छल, कपट, इच्छा आदि का निषेध माना गया है।"[13] संत रविदास ने अपनी वाणी में सदाचार को विशेष महत्व दिया है। दुष्कर्म तथा दुर्गुण यह मानव जीवन के सुख में बाधा उत्पन्न करने वाले है। अतः संत रैदास ने मनुष्य को सदाचार को अपनाने पर बल दिया है।

संत रैदास ने सामाजिक बुराईयों के रहते राम-रहीम की एकता पर बल दिया है। क्योंकि भारत में हिंदू-मुस्लिमों का झगड़ा राष्ट्र व समाज में शांति एवं सौहार्द्र

के लिए राम-रहीम की एकता का होना बहुत ही आवश्यक है। संत रैदास मानवता के महान् प्रतिनिधि थें वे हिंदू और मुसलमान दोनों को मानवमात्र के रूप में देखते है। जिस तरह शरीर के अंग एक-दूसरे से पृथक नहीं है, उसी प्रकार हिंदू एवं मुसलमान भी समाज की एक इकाई के सदृश हैं-

"जब सभ करि दो हाथ पत्र, दोऊ नैन दोऊ कान।
रैदास पृथक कैसे भये हिंदू-मुसलमान।"[14]

इस तरह संत रैदास ने ईश्वर और अल्लाह के भेद को अस्वीकार करते हुए काबा और काशी को समान माना है। उन्होंने कहा कि हिंदू मुसलमान दोनों एक हैं। दोनों का एक ही सृष्टा है। क्योंकि सभी मनुष्य एक ही ज्योति से उत्पन्न हुए हैं। अतः जाति, धर्म एवं समस्त प्रकार की विषमता एवं वैमनस्य का त्याग करते हुए सभी मनुष्यों को एक ही दृष्टि से देखना चाहिए। इसी संदर्भ में श्रीमति डॉ. रेणुका सिंह ने लिखा कि "रैदास जगत को मनुष्य मानते हैं। उनका कहना है कि एक ही ब्रह्म ने अपने को विस्तार करके संसार का रूप धारण किया है।"[15]

अतः संत रैदास के अनुसार सभी मनुष्य इस धरती पर एक समान है। यह सभी धर्म तो मनुष्य द्वारा रचे हुऐ हैं। इसीलिए न कोई हिंदू है और न ही मुस्लिम। अतः रैदास जी कहते हैं कि-

"रैदास उपजर सभ इक नूर ते ब्राह्मण मुल्ला सेख।
सभ की करता एक है सभ कूँ एक ही पेख।।"[16]

इस तरह संत रैदास ने मनुष्य कृत प्रत्येक ईश्वरीय भेद को अस्वीकार किया। उनके अनुसार धर्म बाँटने या तोड़ने की नहीं बल्कि आपसी प्रेम और भाईचारे के मार्ग को प्रदर्शित करने वाला होना चाहिए। उन्होंने राम और रहीम दोनों को ही समान रूप में देखा। इसीलिए संत रैदास कहते हैं कि उन्हें मंदिर, मस्जिद, से कोई लेना देना नहीं बल्कि जहाँ-जहाँ ईश्वर विद्यमान है वही अपना सिर झुकाते है। इस तरह संत रैदास सभी को एक समान रहने का उपदेश देते हैं-

"रैदास न पूजइ देहरा, अरू न मसजिद जाय।
जह ईस का वास है तंह, तंह सीस नवाय।।"[17]

संत रैदास ने सदाचार के शाश्वत सिद्धांतों का भी प्रचार किया, लेकिन इन्हें भारतीय समाज के लोगों की पराधीनता के प्रति भी अपनी वाणी से प्रहार किया। रैदासजी ने परतंत्रता को पाप माना है। उनका कहना है कि परतंत्रता या पराधीनता व्यक्ति को समाज में सब लोग ही हीन समझते हैं एवं उसे अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। पराधीन व्यक्ति से कोई भी इंसान प्रीत या मोह नहीं रखता क्योंकि पराधीन

व्यक्ति का अपना कोई धर्म नहीं होता। इसीलिए संत रैदास ने अपनी वाणी द्वारा समाज के लोगों को जाति, धर्म और अनेक प्रकार के मतभेदों को छोड़कर इस परतंत्रता से मुक्त होने का संदेश दिया है-

"पराधीनता पाप है, जान लेहू रे मीत।
रैदास दास प्राधीन सों, कौन करै है प्रीत।।
पराधीनता को दीन क्या पराधीन बेदीन।
रैदास दास प्रधीन कौ, सबहिं समझै हीन।।"[18]

क्योंकि संत रैदास एक ऐसे समाज एवं स्वराज्य की कल्पना करते हैं, जहाँ पर हर व्यक्ति को अन्न, रोटी, कपड़ा और मकान मिले। और सभी लोग आपस में मिलकर रहें एवं मनुष्य किसी को भी छोटा-बड़ा न समझे। वह उस समाज में न ऊँच-नीच हो और न ही किसी भी प्रकार का द्वेष सभी लोग प्रसन्न रहे। अतः संत रैदास एक आदर्श राज्य स्थापित करना चाहते थे-

"ऐसा चाहौं राज, जहाँ मिले सबन को अन्न।
छोट बड़ो सभ सम बसैं, रैदास रहैं प्रसन्न।।"[19]

संत रैदास ने माया की भी निंदा की है। उन्होंने माया को साधना मार्ग में आने वाली बाधा माना है। संत रैदास ने माया से बचने का भी उपदेश दिया है। क्योंकि इस माया ने समस्त संसार को दुखी ही नहीं अपितु इस माया के प्रभाव से संसार में कोई नहीं बच पाया। चाहे वह बालक हो, बृद्ध, स्त्री, पुरुष या फिर साधु हो या सन्यासी। रैदास की दृष्टि में यह माया इतनी हानिकारक और प्रभावशाली है कि इससे मुक्ति कभी भी नहीं मिल सकती-

"बरजि हो बरजि बीहुले माया जग खाया।
महाप्रबल सब ही बसि की ये, सुर नर मुनि मरमाया।
बाल बिरथ तरुन अति सुन्दरि, नाना भेष बणाया।
जोगी जती, तपी सन्यासी पण्डित रहया न पाया।।"[20]

संत रैदास ने माया के कई रूपों का वर्णन किया है। वह उसे भक्ति के मार्ग में आने वाली सबसे बड़ी बाधा मानते हैं। उनका कहना है कि जो प्राणी एक बार इसमें फँस जाता है वह दिन पर दिन इसमें उलझता ही जाता है। संत रैदास कहते हैं कि जिस प्रकार स्वान की पूँछ कभी सीधी नहीं हो सकती, उसी प्रकार माया से ग्रसित मनुष्य को कभी भी प्रभु की प्राप्ति नहीं हो सकती-

"माया महि हिल मिलि रहियौ, फोकट सारे जनम गंवावो।
कहि रैदास कछु चेत बावरे, रामनाम बिन नहिं उबिराने।।"[21]

इस प्रकार संत रविदास ने समाज में व्याप्त समस्त प्रकार की बुराईयों को खत्म किया और प्रेम सभ्यता एवं सदाचार पर बल देकर संत रविदास ने अपनी वाणी के प्रचार और प्रसार का आज के युग में विशेष महत्व है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि संत रैदास मध्ययुग के महान कवि थे। उनकी काव्य का लक्ष्य कविता करना न होकर समाज में व्याप्त विसंगतियों को दूर कर मानव जीवन में समरसता की स्थापना का था। संत रैदास ने हिंदू धर्म में व्याप्त समस्त आडम्बर और मिथ्याचारों का विरोध तो किया, साथ ही इस्लाम धर्म की बुराईयों की ओर जन समुदाय का ध्यान आकर्षित करके समाज को सच्चाई, ईमानदारी के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया।

यद्यपि संत रैदास का संपूर्ण जीवन संघर्ष में ही व्यतीत हुआ। वह जीवन पर्यन्त एक ऐसे आदर्श समाज का सपना देखते रहे जहाँ घृणा, भेदभाव एवं वैमनस्यता लेशमात्र भी न हो। संत रैदास ने वर्गभेद जाति जो समाज को घुन की तरह अंदर ही अंदर खांए जा रही थी। अपनी वाणी के माध्यम से उसे जड़ से समाप्त करने का प्रयास किया। क्योंकि उनका उद्देश्य केवल संपूर्ण मानवता को एक सूत्र में बाँधने का था। उन्होंने समाज में समता और एकता का तो संदेश दिया। इसके अतिरिक्त जीवन में कथनी और करनी के महत्व को भी स्थापित किया। अतः अंत में यही कहा जा सकता है कि संत रैदास जहां पर भी गए उन्हें तत्कालीन समाज में फैली सभी बुराईयों का प्रतिकार किया। उनका यह अदम्य साहस ही उन्हें अपने आध्यात्मिक मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता रहा। इस तरह उनकी वाणी का कोई एक विषय न होकर अनेक विषयों को स्पर्श करती है। इस प्रकार संत रैदास की वाणी संपूर्ण मानवता का संदेश जन-जन तक पहुँचाने में समर्थ साबित हुई।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. No. 09179498309
Email: manojgautam050485@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. गुरु रविदास : वाणी एवं महत्व, सं. मीरा गौतम, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2003, पृ. 385
2. संत रविदास जीवन और दर्शन, डॉ. रामकुमार अहिरवार, गौतमबुक सेन्टर दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृ. 83

3. संत कवि रैदास : मूल्यांकन एवं प्रदेय, डॉ. एन. सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015, पृ. 23
4. वही, पृ. 33
5. रैदास, डॉ. धर्मपाल मैनी, साहित्य अकादमी, स्वाती मंदिर मार्ग, नई दिल्ली, 1994, पृ. 39
6. संतकवि रैदास : मूल्यांकन एवं प्रदेय, डॉ. एन. सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015, पृ. 216-217
7. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में गुरु रविदास के जीवनमूल्यों की उपयोगिता (लेख) डॉ. बृजमोहन शर्मा, सप्तसिंधु मासिक, चण्डीगढ़, जनवरी 1978, पृ. 63
8. संतकवि रैदास : मूल्यांकन एवं प्रदेय, डॉ. एन. सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015, सारवी सं. 109, पृ. 30
9. संत रविदास : विचारक और कवि, डॉ. पद्मगुरुचरनसिंह, नवचिन्तन प्रकाशन, जालन्धर 1977, पृ. 117
10. सन्त शिरोमणि रैदास वाणी और विचार, डॉ. एन. सिंह, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2013, पद 64, पृ. 131
11. संतकवि रैदास : मूल्यांकन एवं प्रदेय, डॉ. एन. सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015, पृ. 141
12. हिंदी साहित्य कोश भाग-2, वाराणसी ज्ञानमण्डल, 2020 वि. पद 14, 15, पृ. 74-75
13. संत रविदास : विचारक और कवि, डॉ. गुरुचरनसिंह, नवचिन्तन प्रकाशन, जालन्धर 1977, पृ. 129
14. संतशिरोमणि रैदास : वाणी और विचार, डॉ. एन. सिंह
15. सन्तसाहित्य का दार्शनिक अध्ययन, रेणुकासिंह, वाराणसी, प्रथम संस्करण 1971, पृ. 257
16. संत शिरोमणि रैदास वाणी और विचार, डॉ. एन. सिंह, वाणी प्रकाशन, संस्करण प्रथम 2013, पद 182, पृ. 182
17. वही, पद 105, पृ. 134
18. संत कवि रैदास : मूल्यांकन एवं प्रदेय, डॉ. एन. सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015, साखी संख्या 226-27, पृ. 38
19. वही, साखी संख्या 228, पृ. 38
20. संत गुरु रविदास वाणी, डॉ. बी.पी. शर्मा, सूर्य प्रकाशन, दिल्ली, संवत् 2035, पद संख्या 55, पृ. 92
21. वही, पृ. 130

नाम स्मरण की महत्ता और संत साहित्य

अनुज कुमार शुक्ल

कलियुग में भगवान नाम का जप ही भगवत कृपा प्राप्ति का साधन माना गया है। विष्णु पुराण में कहा गया है कि-

"ध्यायन कृते यजन यज्ञेत्रेतायां द्वापरेऽर्चयन
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्।।"[1]

अर्थात् सतयुग में ध्यान से, त्रेता में यज्ञ करने से, द्वापर युग में पूजा करने से जो फल प्राप्त होता है वही फल कलियुग में केवल श्री केशव के कीर्तन से मनुष्य प्राप्त कर लेता है।

नाम स्मरण या कीर्तन सबसे सरल उपाय है। जिसके माध्यम से मनुष्य इस भव सागर को पार कर सकता है। यह सबके लिए उपयोगी है। सब इस जप को अपना सकते हैं। चाहे वह साधक हो या साधारण मनुष्य या मूर्ख भी नाम-जप करके अपना उद्धार कर सकते हैं। नारद पुराण में तो स्पष्ट कहा गया है-दुष्ट राक्षसों को भी नाम कीर्तन सुनकर अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है-

"नाम श्रवण मात्रेण राक्षसा अपि भो वयम।
परां शान्ति समापन्ना महिम्ना हयच्युतस्य वै।।"[2]

हम लोग महान दुष्ट राक्षस हैं तो भी भगवान के परम पावन एवं शुभ नामों के कीर्तन का श्रवण करने पर इस समय हमको परम शान्ति प्राप्त हो रही है।

इसलिए तो कहा जाता है कि कलियुग में भगवान का नाम ही परम कल्याणकारी है। मोक्ष प्राप्त करने का इससे सरल उपाय कोई और नहीं है। नारद पुराण में भी कहा गया है-

"हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नाम
कलौ नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।।"[3]

अर्थात् हरि के नाम के अतिरिक्त कलियुग में मनुष्य का कोई सहारा नहीं है। ऋषि-मुनि महात्माओं ने नाम स्मरण को भक्ति का सर्वोच्च साधन मानते हैं। देश के सभी सन्तों ने नाम स्मरण की महत्ता बतायी है। चाहे वह सन्त दक्षिण के हो या उत्तर भारत के हों।

डॉ. राधाकृष्णमूर्ति के अनुसार, "दक्षिणी भारत के सब सन्तों ने नाम की महिमा गायी है और अपने-अपने संप्रदाय में प्रचलित विशेष नाम-जप की महत्ता का निरूपण किया है।"[4] इस परम्परा में 'नाम जप' को अद्वितीय प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। सांसारिकता में डूबे हुए मनुष्य के लिए भगवान का नाम ही औषधि के समान है। सन्तों ने तो ईश्वर के नाम को ईश्वर से भी बढ़कर माना है। सन्तों को पूरा विश्वास था कि भगवन नाम जप सभी प्रकार के विकार को दूर करता है। यह साधना पद्धति अत्यंत सरल होते हुए भी मोक्ष प्रदायिनी भी है।

महाराष्ट्र के सन्तों में नाम स्मरण को बहुत महत्व प्रदान किया है। इन सन्तों ने भक्ति का सबसे सरल व सहज माध्यम नाम-स्मरण ही बताया है। सहज होने के कारण सन्तों के जिह्वा से यह 'नाम' हटता नहीं है, वे नाम कीर्तन से थकते नहीं हैं। संत नामदेव अपने पदों में 'नाम-जप' की महत्ता को स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि नाम-जप ही भक्ति का सरल व सहज मार्ग है। प्रभु का नाम संसार के सभी पदार्थों की मधुरता से भी मधुर है। जिसके जपने से सभी बाधाएँ दूर हो जाती है। संसार के सभी मनुष्य 'नाम-जप' के द्वारा परम पद प्राप्त कर सकते हैं।

महाराष्ट्र के पंढ़रपुर में नामदेव नामक सन्त हुए। इनके समय में महाराष्ट्र में भक्ति युग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण समय रहा। उस एक ही समय में महाराष्ट्र में एक साथ अनेक संत भक्त सक्रिय थे।

सन्त नामदेव ने अपनी कविता में ईश्वर प्राप्ति का जो उपाय बताया है वह-नाम स्मरण के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति।

नाम साधना ही ईश्वर प्राप्ति का सीधा, सरल और सच्चा मार्ग हैं।

नामदेव कहते है-

"देवा पाहन तारीअले
राम कहत जन कस न तरे
तारीले गनिका बिनु रूप कुबिजा
विआधि अजामलु तरीअले
चरन बधिक जन तेऊ मुकति भए
हउ वलि वलि जिन राम कहे

दासी सुत जन विदरू सुदामा उग्रसेन कउ राज दीए
जप हीन तय हीन कुल हीन क्रम हीन नामे केसुआमी तेउ तो"[5]

अर्थात् राम की कृपा दृष्टि से पत्थर भी पानी में तैरने लगते हैं। तो राम नाम का स्मरण करने पर कोई क्यों नहीं तरेगा। अर्थात् अवश्य ही जो राम नाम का जप करेगा वह भव सागर रूपी संसार से तर जायेगा।

राम! आपने गणिका का उद्धार किया, कुरूप कुब्जा की कुरूपता दूर करके उसे सुन्दर रूप प्रदान किया, अजामिल जैसे दुराचारी व्यक्ति तथा शिकारी (जिसने श्रीकृष्ण जी के पैर में तीर मारने का पाप किया) तथा उन जैसे अनेक प्राणियों को मुक्ति प्रदान किया।

हे राम! आपने दासी पुत्र बीदर को सम्मान दिया, सुदामा का दारिद्रय दूर किया एवं (आप की कृपा से) उग्रसेन को पुनः राज्य की प्राप्ति हुई।

नामदेव कहते हैं कि असंख्य लोग, जो जप-तप-कुल, कर्महीन थे, अर्थात जिन्होंने कोई जप नहीं किया, तप नहीं साधा, जिन्होंने ऊंचे कुल में जन्म नहीं लिया और उनके कर्म भी अच्छे नहीं थे। वे भी नामदेव के स्वामी अर्थात् ईश्वर की शरण में आकर मुक्त हो गये।

ईश्वर के नाम स्मरण के फलस्वरूप नीच प्रवृत्ति के लोग भी पद प्राप्त कर संसार से मुक्ति पा जाते हैं।

आगे नामदेव कहते हैं-

"मनु मेरो गजु जिहबा मेरी काती।
मपि मपि काटउ जम की फाँसी।।
कहा करउ जाती कह करउ पाती।
राम को नामु जपउदिन राती।।
रांगनि रांगउ सीवनि सीवउ।
राम नाम बिनु घरीआ न जीवउ।
भगति करउ हरि के गुन गावउ।
आठ पहर अपना खसमु धिआवउ।।
सुइने की सुई रूपे का धागा।
नामे का चितु हरि सउ लागा।।"[6]

अर्थात् मेरा मन नापने का गज बन गया है और जिह्वा कैंची, जिनसे मैं नाप जोख कर यम के भय के बंधन काट रहा हूँ। मैं अपनी जाति-पाँति कुल का क्या करूं। बस राम नाम दिन रात जप रहा हूँ। मैं कपड़े को रंगने व सिलाई का काम करता हूँ। परन्तु मैं राम नाम स्मरण के बिना एक पल भी जीवित नहीं रह सकता।

मैं दिन के आठों पहर हरि का गुणगान कर रहा हूँ। अर्थात् मेरा मन राम नाम में मस्त हो गया है। मानों मुझे अत्यंत कीमती वस्तु, सोने की सुई और चांदी का धागा मिल गया हो, इससे मेरा चित हरि-सुमिरन में रम गया है।

अन्य पद में नामदेव कहते है-

"नाम के सुआमी लाहि ले झगरा।
राम रसाइन पीओ रे दगरा।।"[7]

नामदेव कहते हैं कि मेरे मालिक प्रभु ने पांखड और ठगी का झगड़ा ही खत्म कर दिया है। हे कठोर चिंत मनुष्य परमात्मा के नाम का अमृत पीकर अपना जीवन सफल बना।

कबीरदास जी कहते हैं कि राम नाम की चर्चा तो सब करते हैं, उसका गुणगान तो सभी करते हैं। लेकिन उसका मर्म (रहस्य) कोई नहीं जानता है। जो लोग सिर्फ ऊपर ही ऊपर बात करते हैं, उनकी बात मुझे अच्छी नहीं लगती। जो उसको जान लेता है, अनुभव कर लेता है, उसको वही जान पाता है।

संत उस परमात्मा के लिए कई शब्द तथा प्रतीक ग्रहण करते हैं, कभी उसे राम कहते हैं तो कभी रहीम, ब्रह्म, हरि, खुदा, परवरदिगार, आदि कहते हैं। नाम स्मरण संतों की साधना का सर्वप्रमुख सोपान है। उनका लक्ष्य उस परमतत्व की अनुभूति है। संत सदा उस परमतत्त्व की उपस्थिति अपने अन्दर महसूस करना चाहते हैं। वह सामाजिक कार्यों में लगे होते हुए भी प्रभु का ध्यान किये रहते हैं। लेकिन हमेशा यह सम्भव नहीं होता। क्योंकि व्यावहारिक जीवन और आध्यात्मिक अनुभूति में असंतुलन हो जाया करता है, इसलिए संत सांसारिक जीवन से विरक्त हो जाते हैं।

संतों की नाम स्मरण की विधि भी अलग प्रकार है। वह सामान्य मनुष्य की तरह माला नहीं फेरता है। उंगलियाँ चलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। परमात्मा की स्मृति तो उसके हृदय में हमेशा रहती है। उस सत् की अनुभूति होती रहती है। परमतत्त्व 'सुरत' के रूप में स्वयं स्थित है। जब संत 'सुरत' को नाम स्मरण के साथ जोड़ देता है तो उस 'सत्' की अनुभूति होने लगती है। उस 'सत' में लीन हो कर तादात्म्य स्थापित कर लेता है। संतों की साधना 'नामस्मरण' स्वयमेव होते रहने के कारण 'अजपा जाप' के नाम से जानी जाती है।

तुकाराम वारकरी सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। तुकाराम ने सब जगह भगवान के नाम की महत्ता बतायी है। तुकाराम अपने अभंग में कई जगह 'नाम जप' की महिमा गायी है। तुकाराम मानते हैं कि 'नाम-जप' अमृत के समान है। जिसका पान करके 'प्राणी' अमर हो जाते हैं।

तुकाराम कहते हैं -

"मेरे राम को नाम ज्यों लेवें बार-बार।
ल्याके पाऊं मेरे तनके पैज्यार।।"[8]

और

"राम कहो जीवना फल सो ही
हरी भजनसुं बीलंब न पाई।।"[9]

संत एकनाथ जो बारकरी सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण संत हैं। नाम कीर्तन पर बहुत बल देते हैं। नाम-जप को भी भक्ति का सार बताया है।

"दील को हमने पछाना बे
काय कु सोंग बताना बे।
जीदर उदर देखो भरीयो सब घटा
अल्ला अल्ला कर कर खावन मांगे मीठा
एक जनार्दन, पग धरत है कहो वीठल वीठल अल्ला।"[10]

अर्थात् हमने दिल को पहचान लिया, परमात्मा यहाँ-वहाँ सर्वत्र घट-घट में समाया हुआ है। विट्ठल-विट्ठल और अल्ला-अल्ला कहने में ही सार है और ढ़ोंग करने से क्या लाभ?

अर्थात् एकनाथ कहते हैं, साधक को नाम कीर्तन के द्वारा ब्रह्म की सर्वव्यापकता का अनुभव प्राप्त करना चाहिए। यही साधना का चरम लक्ष्य है।

दूसरे पद में कहते हैं कि-

"दिलमो याद करो रे
जनम को सारथक करो रे
एका जनार्दन नाम पुकारे
करो हरी नाम बात।"[11]

एकनाथ बार-बार मन में (दिल) स्मरण करने की बात करते हैं। जिसके द्वारा ही जन्म को सार्थक सफल किया जा सकता है। वह केवल हरि नाम की बात करने को कहते हैं।

संत साहित्य का मूल आधार नाम स्मरण की महत्ता है। सन्त कवियों ने नाम जप के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति बतलाया है। "भक्ति का मूल तत्त्व है-निर्गुण-सगुण से परे अनादि अनंत, अनाम, अज्ञात ब्रह्म का नाम-जप। संतों ने नाम जप को साधना का आधार माना है। नाम समस्त संशयों और बंधनों को विच्छिन्न कर देता है। नाम ही भक्ति और मुक्ति का दाता है।"[12] संतों ने ईश्वर की प्राप्ति का जो

मार्ग बतलाया है। वह नाम-जप ही है नाम स्मरण के द्वारा मनुष्य परम पद को प्राप्त कर लेता है। यही नाम रास्ते के सारे विघ्न बंधन को हरता है, दूर करता है अर्थात् यह साधना का मूल आधार है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "निस्संदेह कबीरदास ने आत्म-विचार को बहुमान दिया है, पर जो लोग उसके अधिकारी नहीं है। उनके लिए 'निर्गुण राम' के जपने का उपदेश भी दिया है। निर्गुण राम के जप के अर्थ वही है जो महत्माओं के चिंतन का अर्थ है।"[13]

कबीरदास जी कहते हैं-

"रसनां राम गुन रमि रस पीजे
गुन अतीत निरमोलिक लीजै
निरगुन ब्रह्म कथौरे भाई। जा सुमिरत सुधि-सुधि मति पाई।
विष तजि राम न जपसि भागे। का बूड़े लालच के लाये।
ते सब तिरे राम रसस्वादी। कहे कबीर बूड़े बकवाड़ी।।"[14]

अर्थात् राम नाम नामक रस पीजिए। जो इस 'राम' नाम का स्मरण करता है वही मति व बुद्धि को प्राप्त करता है।

जो अभागा विषय वासना का त्याग न करके लालच में पड़ा रहता है वही डूबता है। इस भवसागर रूपी संसार से वही मनुष्य 'तरता' जो राम नाम का स्वाद चखता है बाकी सभी बकवादी डूब मरते हैं।

इस मार्ग में अनेक बाधाएं हैं। विषय वासनाएँ साथ-साथ चलती है। इसलिए पहले तू इच्छाओं को त्याग और नाम जप, वही तुझे भयमुक्त करेगा। इसलिए तू कबीर कोरी की यह बात गाँठ बाँध ले।

"परिहरि काम राम कहि वौरे सुनि सिख बंधू मोरी
हरि कौ नांव अभैयदक्षता कहै कबीरा कोरी।"[15]

करीब दास ब्राह्म आडम्बर, तिलक, पूजा, माला आदि का विरोध करते है। इसलिए वह जनता को उपदेश देते हैं- हे भाई, निर्गुण राम का जप करो।

वेद और पुरान, स्मृति और व्याकरण, शेष, गरूड़ और कमला भी जिसे नहीं जान सके। (उसे जानने की चेष्टा करना साहस का कार्य है) इसलिए कबीरदास जी कहते हैं कि हे जीव तू ऐसे ईश्वर की छांव में बैठो जिसका कोई भेद नहीं है।

"निर्गुण राम जपहु रे भाई। अविगति की गति लखी न जाई।।
कहै कबीर जाकै भेदै नाहीं। निज जन बैठे हरि की छांही।।"[16]

कबीरदास जी आगे पद में कहते हैं कि-

"मन रे हरि भजि हरि भजि हरिभज भाई।
जा दिन तेरो कोई नाँही, ता दिन राम सहाई।
वेद न जानूँ, भेद न जानू, जानू एकहि रामां
पंडित दिसि पछिवारा कीन्हाँ, मुख कीन्हों जितनामा
राज अवंरीक के कारणि, चक्र सुदरसन जारैं।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसौं, भगत की सरन उबारै।"[17]

कबीरदास जी मन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे मन हरि का भजन कर। जिस दिन तेरा कोई नहीं होगा उस दिन तुम्हारी सहायता राम करेगें। अर्थात यही 'राम नाम' ही अन्त समय में सहायता करेगा।

और तू वेद व भेद से दूर रह। सिर्फ एक राम ही है जो तेरा बेणा पार लगायेगें कबीरदास कहते हैं कि मेरा राम ही ऐसा ठाकुर है जो भक्त की शरणागत होने पर रक्षा करता है। कबीरदास जी राम नाम जपने पर विशेष बल देते हैं और कहते हैं जो व्यक्ति अंधा होकर राम नाम नहीं जपता उसके गले में यमराज का फंदा पड़ जाता है और यह खोखली हाड़-मांस की शरीर साथ नहीं देती है। इसलिए राम-नाम जपो यह अंत समय का रक्षक है।

कबीदरास एक रमैनी में कहते हैं- "ऐ मेरे मन तू अविनाशी हरि का भजन कर। उन्हें छोड़कर और कहीं न जा। अगर तू विषय-रूप दीप के पास फिर रहा है तो विश्वास मान कि तू पतिंगा होकर जल जाएगा। जिस प्रकार भ्रमरी के ध्यान में मगन कीट खुद भी भ्रमरी बन जाता है, उसी प्रकार तू राम-नाम में ऐसी लौ लगा कि स्वयं राममय हो जा।"[18]

कबीरदास ने राम नाम की महिमा का बखान करते हुए उदाहरणों के द्वारा बताया कि अजामिल, गज, गणिका जैसे पापी व अज्ञानी, मूर्ख भी राम नाम लेकर भवसागर पार हो गये।

"अजामिल गज गनिका, पतित करम कीन्हां
तेऊ उतरि पारि गये, राम नाम लीन्हां।"[19]

संत रैदास भी नाम जप की महत्ता का बखान करते है तथा उसकी उपयोगिता बताते हैं-

"हम अपराधी नीच घर जनमे,
कुटुम्ब लोक करै हँसी रे
कह रैदास राम जप रसना
कटै जनम की फाँसी रे।।"[20]

अर्थात रैदास जी कहते हैं मैं तो अपराधी हूँ। नीच घर में पैदा होने के कारण लोक मुझ पर हँसता है। इसलिए रैदास कहते हैं कि एक ही रास्ता है, वह है राम नाम जपना, इस जप के माध्यम से जन्म जन्मान्तर की फाँसी कट जायेगी।

कबीर व नामदेव की भाँति रैदास भी अपने विभिन्न पदों में राम नाम स्मरण की महत्ता पर बल दिया है तथा यह भी प्रतिपादित किया है कि एक बार राम नाम की रट लग जाने पर वह छूटती नहीं है।

''अब कैसे छूटे नाम रट लागी
प्रमुजी तुम चंदन हम पानी
जाकी अंग-अंग बास समानी
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा
ऐसी भक्ति करै रैदासा।''[21]

अर्थात् ईश्वर की चंदन रूपी सुगंध मेरे अंग में समा गयी है और ईश्वर ही हमारा स्वामी, मालिक है, ऐसी भक्ति रैदास करते हैं।

नाम महिमा शीर्षक के अन्तर्गत दादू दयाल भी अनेक पदों में यही भाव व्यक्त कर रहे हैं।

''दादू नीका नॉव है, तीन लोक तत सार।
राति दिवस रटिवो करी, रे मन इहै विचार
राम तुम्हारे नाँव बिन, जे मुख निकसे और
तौ इस अपराधी जीव कौं, तीन लोक कत ठौर।''[22]

अर्थात् दादू दयाल कह रहे हैं (राम) नाम ही अच्छा है जो तीन लोक का सार है। रे (जीव) रात-दिन इसी राम नाम को रट। इसी राम नाम पर विचार कर। अगर राम नाम के अलावा तेरे मुख से कुछ अन्य निकला तो इस अपराधी जीव को तीनों लोक में कही भी जगह नहीं मिलेगी।

नाम स्मरण की महत्ता के विषय में सभी संतों ने अपना एकमत व्यक्त किया है। चाहे वह तुकाराम हो या स्वामी समर्थदास। ज्ञानदेव हो या नामदेव।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. 9452694190

संदर्भ ग्रंथ :

1. दक्षिणी भारत की संत परम्परा में उद्घृत, विष्णु पुराण से, कर्नाटका महिला, हिन्दी सेवा समिति, पृष्ठ-442
2. नारद पुराण सम्पादक श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान,ख्वाजाकुतुब, वेद नगर, बरेली उत्तरप्रदेश, पृष्ठ-188
3. दक्षिण भारत की संत परम्परा में उद्घृत, नारद पुराण से, कर्नाटका महिला, हिन्दी सेवा समिति, पृष्ठ.442
4. वही, पृष्ठ-442
5. विनय मोहन शर्मा, हिन्दी को मराठी संतों की देन में संकलित, नामदेव के हिन्दी पद, राष्ट्रभाषा परिषद पटना, बिहार, पृष्ठ-241
6. वही, पृष्ठ-242
7. वही, पृष्ठ-242
8. विनय मोहन शर्मा, हिन्दी को मराठी संतों की देन में संकलित, नामदेव के हिन्दी पद, राष्ट्रभाषा परिषद पटना, बिहार।
9. वही,
10. वही,
11. वही,
12. डॉ. नगेन्द, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृष्ठ-115
13. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-94
14. कबीर ग्रन्थावली, संपा. श्यामसुन्दर दास, लोकभारती, इलाहाबाद, पृष्ठ-208
15. वही, पृष्ठ-202
16. वही, पृष्ठ-129
17. वही, पृष्ठ-145
18. कबीर ग्रन्थावली, संपा. श्यामसुन्दर दास, लोकभारती, इलाहाबाद, पृष्ठ-242
19. वही, पृष्ठ-195
20. संत रैदास संपा, योगेन्द सिंह, लोकभारती, इलाहाबाद, पृष्ठ-168
21. रैदास की वाणी, वेलबीडियर प्रेस, प्रिटिंग वर्क्स, पृष्ठ-41
22. दादू दयाल की वाणी, वेलबीडियर प्रेस, प्रिटिंग वर्क्स, पृष्ठ-17

महामति प्राणनाथ के काव्य की प्रासंगिकता

शिवराम मौर्य

हिन्दी साहित्य में भक्ति काल के अंतर्गत अनेक सम्प्रदाय एवं भक्ति धाराएँ प्रचलित हुईं। जिसमें सगुण निर्गुण धारा के ही समानान्तर भक्ति के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय भी हुए यथा- रामानुज का श्री सम्प्रदाय निम्बार्क का सनक सम्प्रदाय, रामानन्द का रामावत सम्प्रदाय, श्रीचन्द्र का उदासी सम्प्रदाय के अतिरिक्त देवचन्द जी द्वारा नैतिकता, सहिष्णुता, कल्याण एवं मानवतावादी प्रेम के आधार पर जिस सम्प्रदाय की स्थापना हुई कालान्तर में प्रणामी सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हुआ, जिसको निजानन्द सम्प्रदाय, परनामी सम्प्रदाय आदि नामों से भी जाना जाता है।

महामति प्राणनाथ का जन्म गुजरात के जामनगर में 6 सितम्बर 1618 को हुआ था, इनके बचपन का नाम मेहराज ठाकुर था। वे लोहणा जाति के लव वंशी क्षत्रिय परिवार के थे। महामति के पिता केशवराय जामनगर के दीवान के पद पर नियुक्त थे प्राणनाथ गुरू देवचन्द जी से शिक्षा प्राप्त की।

महामति प्राणनाथ का युग राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से विघटन का काल था। इस समय भारत पर कट्टरता के प्रतिरूप औरंगजेब का शासन था, जो अपनी धार्मिक कट्टरता और हिन्दुओं पर अत्याचार करने के लिए प्रसिद्ध है।

जिस ढंग से वह अपने पिता शाहजहाँ को कैद खाने में डालकर अपने भाई दारा को खदेड़ कर मारा डाला इससे यह स्पष्ट हो गया था कि वह दुष्ट क्रूर, निर्दयी, निडर एवं निर्लज्ज व्यक्ति है।

सभी मुगल शासकों में औरंगजेब के ही समय हिन्दुओं को सबसे अधिक अत्याचारों एवं अनाचारों को मूक रहकर सहन करना पड़ा। औरंगजेब ने धर्मान्धता के चश्में से ही कुरान के नियमों को देखा और मानने लगा। अतः हिन्दुओं के लिए हिन्दुत्व एक गुनाह बन गया।

इसके साथ ही सत्रहवीं शताब्दी की धर्मपरायणता, धर्मान्धता में परिणित हो गयी। धर्म में बढ़ता हुआ बाह्याचार पाखंड का रूप लेता जा रहा था। समाज में ऊँच-नीच की भावना जोरों पर थी। समाज का नैतिक पतन हो रहा था।

ऐसे समय में महामति प्राणनाथ ने अध्यात्म की गहराई में उतरकर उसे मानव सुलभ बनाने की चेष्ठा की। महामति ने अपनी वाणी तथा व्यवहार द्वारा धार्मिक वैमनस्य, अलगाववादी विचारधारा, साम्प्रदायिक धर्मान्धता तथा सामाजिक भेदभाव का विरोध किया।

महामति ने समाज की कुत्सित मानसिकता का परिष्कार करके एक आदर्श समाज के निर्माण के लिए, अहितकर विचारों तथा परम्पराओं का खण्डन कर नये तथा क्रान्तिकारी विचारों द्वारा समाज को श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी बनाने का प्रयास किया।

महामति के समय में समाज में धार्मिक वैमनस्य अपने चरम पर था, धर्म जो जोड़नी वाली शक्ति है, वह विघटन और विनाश का कारण भी है। इतिहास इस बात का गवाह है, कि सम्पूर्ण मानव जाति के इतिहास में जितना रक्त धर्म के नाम पर बहाया गया, उतना किसी अन्य प्रश्न पर नहीं। धर्म जितना शोषक, हिंसक, रक्तपात करने वाला और साम्प्रदायिक दंगों का कारण रहा है, उतना अन्य कोई वस्तु नहीं।

महामति के समय साम्प्रदायिक दंगे भेदभाव अस्पृश्यता आदि की प्रधानता थी। उस समय हिन्दू, मुसलमान, सिख-इसाई, जैन, बौद्ध आदि नाना सम्प्रदाय थे, केवल हिन्दू धर्म में ही सगुण-निर्गुण, ब्रह्मवादी, कृष्णनन्दी, रामानन्दी, शाक्त, गाणपत्य आदि विभिन्न सम्प्रदाय थे, देश में औरंगजेब का शासन था औरंगजेब कट्टर सुन्नी था। अन्य सभी को वह काफिर समझता था। यही कारण है कि उस काल में जहाँ हिन्दुओं की सैकड़ों मन्दिर मूर्तियाँ तोड़ी गई, वहीं शिया लोगों के मुहर्रम आदि मनाने पर रोक लगा दी गयी। इन बातों से महामति के संवेदनशील हृदय पर गहरी चोट पहुँची। उन्होने पाया कि नातों हिन्दू धर्म का मर्म समझ रहे हैं और न मुसलमान ही। दोनों ही केवल अहंकार अंधविश्वास हठधर्मिता सतही मतों को लेकर झगड़ रहे हैं।

महामति ने कहा-

"जो कछू कह्या कतेबने, सोई कह्या वेद।
दोऊ बंदे एक साहब के पर लड़त बिना पाए भेद।।"[1]

वेदों में पहले से वही बातें कही गयी हैं। हिन्दू और मुस्लिम दोनों एक ही परमात्मा के सेवक वन्दे हैं, परन्तु इस बात को न समझ पाने के कारण लड़ते हैं।

"वाकी तो वेद कतेब, दोऊ देत हैं साख।
अंदर दोऊ के गलफत लड़त वास्ते भाख।।"[2]

अन्यथा वेद और कतेब दोनों एक ही परमात्मा की बात कर रहे हैं। किन्तु उन दोनों को मानने वाले हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के अन्दर अज्ञान रूपी अंधकार भरा हुआ है, जिसके कारण इनको सच्चाई का ज्ञान नहीं होता, दोनों ही भाषा भेद के कारण लड़ रहे हैं। दोनों में एक ही बातों को कहा गया है।

महामति जी कहते हैं संसार में जो धार्मिक बातों को लेकर जो मतभेद व्याप्त है, उस मतभेद के पीछे जो मुख्य समस्या है, वह है- भाषा एवं रीति-रिवाज की समस्या जिसके कारण एक धर्मावलम्बी दूसरे धर्म में कही गयी बातों को नहीं समझ पाता और अपने ही धर्म की बातों को श्रेष्ठ मानता है। इन सब लोगों ने ईश्वर के नाम भी अलग-अलग रख लिए हैं। कोई अल्लाह, खुदा कहता है तो कोई शिव, गणेश, राम, हनुमान, विष्णु, ईशा, ईशा, मूसा को अपना ईश्वर मानता है। लेकिन वास्तव में तो ईश्वर एक ही है। महामति जी इस समस्या से लोगों को मुक्त करने के लिए प्रबोध देते हैं-

"बोली जुदी सबन की और सबका जुदा चलन।
सब उरझे नाम जुदे धर, पर मेरे तो कहना सबन।।"[3]

महामति जी हिन्दू एवं मुसलमान की धार्मिक विभेदता को समाप्त कर सबको एक ही परबाह्मा परमात्मा के प्रति समर्पित करना उनका लक्ष्य था। हिन्दू और मुसलमान के हृदय में जो ईश्वर के प्रति विचारों को लेकर जो विभेदता व्याप्त है, उसको समाप्त करना तथा विभेदता को समाप्त करके, सभी को एक रस करना था। उनको यह बात पता थी, जब तक समाज में धर्म एवं आचार-विचार एवं बाह्य आडम्बरों के कारण विभेदता व्याप्त है, तब तक समाज में एकता स्थापित नहीं हो सकती।

इसलिए वे हिन्दू एवं मुसलमान सभी को एक रस करना चाहते थे-

"करना सारा एक रस हिन्दू मुसलमान।
धोखा सबका भान के सबका कहूँगी ग्यान।।"[4]

समाज में जो धार्मिक वैमनस्य व्याप्त है। उसका मुख्य कारण अहं की भावना है इस भावना के आ जाने के कारण व्यक्ति अपने धर्म तथा अपने धर्म ग्रन्थों को श्रेष्ठ मानता है। बाकी अन्य धर्म ग्रन्थों के प्रति उसके हृदय में सम्मान नहीं रहता। एक धर्मावलंबी दूसरे धर्म के अनुयायी को पिछड़ा मानने लगता है और एक-दूसरे के धर्मग्रान्थों एवं धर्म की निन्दा करते हैं। उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं होता सभी धर्मग्रन्थ एक ही परमात्मा की ओर संकेत करते हैं।

धर्म के नाम पर घमंड व्यक्तियों में व्याप्त है, उस घमंड की कोई सत्ता नहीं है-

"ब्राह्मण कहे हम उत्तम, मुसलमान कहे हम पाक।
दोऊ मुठ्ठी एक ठोर की, एक राख दूजी खाक।"[5]

महामति सम्पूर्ण संसार को खुशी एवं शान्ति दिलाना चाहते थे। उनका आविर्भाव ही संसार में फैले, विभिन्न प्रकार के वैमनस्य, झगड़ों, भेद-भाव, को समाप्त कर समरस संसार की स्थापना करना।

"साहेब आए इन जिमी, कारज करने तीन।
सबका झगरा मेटके या दुनिया या दीन।।"[6]

भारतीय समाज की दूसरी जो सबसे बड़ी समस्या वह थी जाति प्रथा भारतीय समाज चार वर्गो में बँटा हुआ था ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ब्राह्मण समाज का सबसे उच्च वर्ण था। समाज में सबसे अधिक सम्मान इसी वर्ग का था यह वर्ग धार्मिक कार्यों का सम्पादन करवाता था, क्षत्रिय युद्ध एवं वैश्य व्यापार का कार्य करते थे। समाज का अन्तिम वर्ण शूद्र था, जिसकी दशा अत्यन्त दयनीय थी। उच्च वर्ग के लोगों द्वारा इन पर तरह-तरह के अत्याचार किये जाते थे और समाज में इन्हें अस्पृश्य समझा जाता था। समय-समय पर भारतीय समाज के संतों ने इस घृणित जाति व्यवस्था पर खुलकर प्रहार किया। भक्तिकाल (मध्यकाल) के संतों में विशेषकर, कबीर, नानक, दादू, आदि ने जाति व्यवस्था पर प्रहार किये गुरू नानक ने कहा-

"जाणहु जाति न पूछहूँ जाती, आणै जाति नेह।"

महामति भारतीय समाज में प्रचलित जाति व्यवस्था से बहुत दुःखी थे। महामति व्यक्ति की उच्चता उसके कर्म से मानते, जन्म से नहीं। उन्होने जाति व्यवस्था का डटकर विरोध किया। महामति जी ने सामाजिक समानता के सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया। समाज में व्याप्त कुरीतियाँ, कर्मकांड, जातिपाँति, रूढ़िवादी परम्परा का विरोध किया महामति ने द्विजेतर वर्णों के साथ-साथ अछूतों, मुस्लिमों को भी तारतम मंत्र की दीक्षा देकर भेदभाव एवं वर्ग विहीन समाज की स्थापना की।

महामति इस बात को अच्छी तरह से समझ लिया था धर्म एवं समाज की एकता से ही मानव जाति का कल्याण हो सकता है।

"जात एक खसम की, और न कोई जात।
एक खसम एक दुनियां और उड़ गई दूजी बात।।"[7]

महामति ने जाति प्रथा को तोड़ने के लिए अपने गुरू, पुत्र बिहारी जो कि रूढ़िवादी विचार धारा के व्यक्ति थे, वे अपने विचारों में परिवर्तन नहीं करना चाहते थे, इसलिए महामति ने उनसे संबंध विच्छेद कर लिया और बिहारी जी क्रोधित होकर धारा भाई जो नीची जाति का व्यक्ति था, निजानंद सम्प्रदाय से हटा दिया। उसे महामति ने पुनः समाज में शामिल कर लिया, महामति ने तब यह घोषणा की जो भी लूँला-लँगड़ा या असहाय सुंदर साथ होगा, उसे इन्द्रावती की आत्मा, इस मायावी जगत में निराश्रित नहीं छोड़ सकती सभी को सहारा देकर परम धाम ले जायेगी।

"तब श्री जी साहब ने कह्या जो कोई लूला लंगला साथ।
इन्द्रावती न छोड़े तिनको, पहुँचावे पकड़ हाथ।।"[8]

महामति हिन्दू जाति व्यवस्था में चंडाल जाति में उत्पन्न एक उत्तम शुद्ध हृदय प्रभुप्रेमी चंडाल की अहंकारी ब्राह्मण से तुलना करते हुए, वे चंडाल को ब्राह्मण से उत्तम मानते बताते हैं।

इस संसार में एक व्यक्ति ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने मात्र से उत्तम वेश धारण करता है और दूसरा निम्न जाति में जन्म लेने के कारण चंडाल कहलाता है। जिस चंडाल को छूने मात्र से छूत लगता, हो तो उसकी संगति से क्या होगा इसकी मात्र कल्पना की जा सकती है।

चंडाल के हृदय में घमंड नहीं होने के कारण उसका हृदय पवित्र है, वह शुद्ध हृदय से भगवान की भक्ति में लीन रहता है, जो किसी को दिखाने के लिए किसी भी प्रकार का आचरण नहीं करता, और अन्दर ही अन्दर नाम स्मरण करता है। वह अपने इष्ट देव से पलभर का भी वियोग नहीं झेल पाता। वह ईश्वर से सच्चा स्नेह करता है, वह किसी प्राणी में विभेद नहीं मानता-

"एक भेष जो विप्र का दूजा भेष चंडाल
जाके छुये छूत लागे, ताके संग कौन हवाल
चंडाल हिरदे निरमल, खेले संग भगवान
देखलावे नाहीं कछू को गोप राखे नाम
अंताराव नाहीं खिन की, सनेह साँचे रंग
अहिनिश दृष्ट आत्म की, नहीं देह सो संग।"[9]

इधर ब्राह्मणों की दृष्टि बाह्य जगत से जुड़ी है, वे वेदानुसार शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ करना कराना, दक्षिणा लेना आदि कर्मों में ही लगी रहती है। उन्हें परमात्मा की याद सपने में भी नहीं आती, वे परमात्मा के बारे में कैसे

जानेंगे। वे अपने कुटुम्ब के और अपनी उदर पूर्ति के लिए ही शारीरिक ढोंग रचाते हैं अन्दर से कलुषित रहते हैं। व्याकरण के वाद विवाद में पड़ कर एक-एक शब्द के अनेक अर्थ निकालकर उसी में मस्त रहते हैं, ईश्वर से उनका कोई सरोकार नहीं रहता, ईश्वर को माध्यम बनाकर, वे सिर्फ उदर पूर्ति करते हैं।

"विप्र भेष बाहेर दृष्टि, शट करम पाले वेद।[10]
स्याम खिन सपुने नहीं जाने नहीं ब्रह्म भेद।।

उदर कुटुम्ब कारने, उतमाई देखावे अंग।
व्याकरन वाद विवाद के अरथ करे कै रंग।।"[11]

महामति कहते हैं आप कहिए कि किसके स्पर्श से छूत लगती है, ब्राह्मण का शरीर स्वच्छ तो हैं, किन्तु उसकी प्रकृति नीच है, तो वह अधम है। यदि चंडाल के हृदय में परमात्मा का निवास है, तो वह उत्तम है।

"अब कहो काके छुए अंग लागे छोत।
अधमतम विप्र अंगे चंडाल उद्योत।।"[12]

प्रणामी सम्प्रदाय के प्रचार कार्य को आगे बढ़ाने के सम्बन्ध में महामति और गुरू पुत्र बिहारी में मतभेद था, महामति जातिपाँति का विचार न करके समस्त मानव जाति को जागृत करने के पक्ष में थे।

लेकिन बिहारी जी के विचार रूढ़िवादी थे बिहारी जी ने महामति से तीन बाते कही कि किसी नीच जाति के व्यक्ति विधवा स्त्री को तरतम न दिये जाय, और तीसरे हमारे तुम्हारे अतिरिक्त किसी को यह अधिकार न दिये जायें कि वह दूसरों को तारतम दीक्षा दे।

"एक तो नीची जाति को सुनाइयों नहीं तारतम।
दूसरे रांड स्त्री को, तीते कहे हम तुम।।"[13]

उन्होंने बिहारी के पत्र के उत्तर में लिखा हम आप के तीनों प्रतिबंधों का उत्तर हम आपकी सेवा में भेज रहे हैं। उन पर विचार करें, यह राह देवचन्द्र जी ने चलाई उससे हमें हटना नहीं है। उन्होंने जाति को न स्वीकार कर भेदभाव को समाप्त किया। जिस व्यक्ति में ब्रह्मसृष्टि की पवित्र आत्मा देखी उसको तारतम प्रदान किया। प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में देखें, तो खोजी बाई मुसलमान विधवा थी, उसके अंदर रईबाई की आत्मा देखकर तारतम प्रदान किया। आपने स्वयं विचार किया होगा कि देवचन्द्र जी का ध्यान जातिगत भेद में नहीं था, जिसके अन्तर में परम धाम के अंकुर दिखाई दिये, उसमें ऊँच-नीच का भेद नहीं किया।

"जबाब तीन बात का हम तुम्हें लिखे बनाए
ताको विचार कीजिए श्री देवचन्द्र जी ए राह चलाये
उन्होने जाति भेष को ज्ञान डराया सीस
देखे जित अंकूर को तित करी बखसीस
सो देखे तुम जाहिर खोजी बाई मुसलमान
वह स्त्री रांड थी बखस्यों रई बाई वासना जान
सो ए तुम देखी है उनकी दृष्टि जात भेष नाहिं
जित देख्या अंकुर धाम का गिना ऊँच नीच ना ताहि।"[14]

महामति को यह विश्वास था कि संसार के सभी लोग अपने अभिमान को त्यागकर एक रूप हो जायेंगे। सबकी जाति पाति, वर्ण, वर्ग, मतमतान्तर, रीति-रिवाज, आचार-विचार, खान-पान, सब समान हो जायेगे, साथ ही सब एक ही परमात्मा के गुणगान गाएँगे।

"छोड़ गुमान सब मिलसी, ए जो देखत हो जहान।
जात पांत न भांत कोई, एक खान-पान एक गान।।"[15]

प्रणामी सम्प्रदाय के अनुयायी भारत वर्ष के विभिन्न धर्मों एवं क्षेत्रों के होने पर भी उनमें जातिगत तथा धर्मगत कोई बंधन नहीं है। वे सब धार्मिक सभाओं में आते हैं और भोजन भी साथ ग्रहण करते हैं। ऐसी व्यवस्था मध्यकालीन भारत के अन्य किसी धर्म एवं सम्प्रदाय में नहीं देखने को मिली यह अपने आप में एक सराहनीय उदाहरण है।

महामति जी जिस प्रकार के समाज निर्माण के लिए प्रत्यन किया था आज उसी दिशा में आगे बढ़ते हुए-"रूसी अरबपति इगोर अशर बेयली ने अंतरिक्ष में जिस नये देश को बसाने की तैयारी कर रहें वहां न कोई धर्म होगा, न जाति होगी। मैक्गिल यूनिवर्सिटी के रैम राखू ने कहा एस्गार्डिया में सभी देशों के लोगों के लिए जगह होगी। यह ऐसा देश होगा जहां शांति और मानवता सर्वोपरि होगी।"[16]

स्त्रियों के संबंध में भी महामति के विचार मध्यकालीन अन्य संतों की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील थे, जहाँ मध्यकाल में अधिकांश संत हिन्दू समाज की स्त्रियों को पुरूष के समान दर्जा देने के विरूद्ध थे। लेकिन महामति ने स्त्री एवं पुरूष दोनों को समान दर्जा देकर उनका सम्मान बढ़ाया। महामति जी साधारण स्त्रियों के साथ-साथ विधवाओं को भी तारतम मंत्र दिया।

जहाँ एक ओर मध्यकालीन संतों ने पारिवारिक जीवन की निन्दा की वहीं महामति प्राणनाथ ने स्वयं विवाह किया और अपनी पत्नी के साथ कंधे से कंधा

मिलाकर धार्मिक अभियान में साथ चले। प्रणामी सम्प्रदाय के अनुयायी विवाह को नीची निगाह से नहीं देखते।

प्रणामी सम्प्रदाय के धर्म प्रचार में गृहस्थों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। पूर्ववर्ती नारी विरोधी संतों के विचार के परिणाम स्वरूप जो परिवार विघटित हो रहे थे। इस सम्प्रदाय में ऐसा नहीं हुआ, नारी को उचित स्थान मिला उसके विकास की राह खुली, वह व्यक्ति समाज एवं परिवार के विकास में सहयात्री बनी।

महामति ने जिस प्रकार धर्म की एकता जाति की एकता को स्थापित किया उसी प्रकार भाषा की एकता के लिए भी अनुकरणीय प्रयास किये।

भाषा भावों एवं विचारों के आदान-प्रदान का प्रमुख साधन है, भाषा के माध्यम से हम एक दूसरे की आवश्यकताओं, संवेदनाओं को समझ सकते हैं और अपने भावों एवं विचारों से दूसरों को अवगत करा सकते हैं। ये तभी संभव है, जब समाज में भाषागत एकता व्याप्त हो।

महामति भाषागत एकता के पक्षधर थे, महामति की मातृभाषा गुजराती थी वे सिन्धी, हिन्दी, राजस्थानी, अरबी, फारसी, संस्कृत आदि भाषाओं के जानकार थे। उनकी वाणी का शुभारम्भ गुजराती में हुआ, लेकिन जब उनके सामने सारे भारत वर्ष को संबोधित करने का प्रश्न आया, तो उन्होंने भारत वर्ष की सभी भाषाओं, बोलियों को हिन्दी या (हिन्दुस्तानी) में समाहित करने का प्रयास किया, अपने संदेश को हिन्दुस्तानी भाषा में दिया, वे कहते हैं, सारे संसार में अनगिनत भाषाएँ है। इन सभी भाषाओं में मैं हिन्दुस्तानी भाषा को सबसे सहज सरल और सुगम जानकर उसी भाषा में अपनी बात कहूँगी, यह एक महान भाषा है और सबको समझ में आने के कारण भली है, सब इसे जानते हैं।

सबको आंतरिक एवं बाह्य रूप से पवित्र करने के लिए यह भाषा ही सर्वोत्तम माध्यम है।

"बिना हिसाबे बोलियां मिने सकल जहान।
सबसे सुगम जानके कहूँगी हिन्दुस्तान।।"[17]

"बड़ी भाषा एही भली, जो सब में जाहेर।
करने पाक सबन को अंदर महें बहेर।।"[18]

महामति की मातृभाषा गुजराती होते हुए भी उन्होंने संपर्क भाषा के लिए हिन्दी, (हिन्दुस्तानी) का सर्मथन किया जो आज भी अनुकरणीय है।

डॉ. रणजीत साहा का मानना है "महामति प्राणनाथ ने तत्कालीन समाज में व्याप्त धर्म, वर्ण, भाषा आदि मतभेदों तथा उससे उत्पन्न कटुता को समूल नष्ट करने का स्तुत्य और सफल प्रयास किया। समाजिक चेतना की दृष्टि में नाथ, सिद्धों

नानक, कबीर, दादू की परम्परा की विकसित कड़ी हैं, अंतर यह है कि पूर्वयुगीन संत साधकों ने जहाँ केवल सामाजिक विषमताओं, कुरीतियों का उद्‌घाटन करके उनके प्रति अपनी तीखी प्रतिक्रिया दी थी, वहीं महामति ने सभी धर्मों के मूल तत्वों का संयोजन करते हुए सामाजिक ऐक्य स्थापित किया। महामति केवल सच्चे धर्मोपदेशक ही नहीं थे, बल्कि उनका सामाजिक दृष्टिकोण भी अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील व्यापक और व्यावहारिक था।''[19]

महामति प्राणनाथ भारतीय समाज को एक आदर्श समाज में परिणित करने के लिए जो चिंतन आज के 350 वर्ष पहले किया था, उस चिंतन की आवश्यकता आज भी भारतीय समाज को है।

आज हम चाँद पर तो पहुँच गये, लेकिन उसकी निर्मलता एवं शीतलता को हम अपने हृदय में नहीं उतार पाये। आज भी लोगों के हृदय में जातिवादी एवं धार्मिक विभेद की कलुशता व्याप्त है। समाज में जाति एवं धर्म के नाम पर अत्याचार किया जा रहा है। मनुष्य मंगल ग्रह पर अपनी यांत्रिक उपस्थिति दर्ज कर शारीरिक उपस्थिति के लिए संघर्षरत् है, लेकिन समाज में आये दिन अमंगल के दर्शन होते हैं। कभी जातिगत संघर्ष सामने आते हैं, तो कभी धर्मगत संघर्ष की बाते सामने आती हैं। समाज में भाई चारा सामाजिक, तथा धार्मिक एकता की कमी दिखाई पड़ रही है। मनुष्य की संवेदनाएँ मरती जा रही हैं।

कहने के लिए तो विश्व (ग्लोबलग्राम) बन रहा हैं, जहाँ एक ओर हम विश्वग्राम की कल्पना कर रहे हैं। वहीं आंतरिक दृष्टि से हम दिन प्रतिदिन संकुचित एवं स्वार्थी होते जा रहे हैं।

महामति जिस आदर्श समाज की स्थापना अपने चिंतन के द्वारा की है, वहाँ न जातिगत विभेद है, न धर्मगत, न कोई उच्च है, न कोई निम्न मनुष्य का मनुष्य होने के नाते सम्मान है।

आज भी भारतीय समाज में जाति, धर्म, ऊँच-नीच, छुआछूत की जो भावना व्याप्त है, महामति के चिंतन को अंगीकार करके उस चिंतन से लोगों को अवगत कराके एक आदर्श भारतीय समाज की स्थापना के स्वप्न को साकार किया जा सकता है, महामति के धेय वाक्य -

''सुख शीतल करूं संसार
को तभी पूरा किया जा सकता है।''

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. No.- 9589892482

संदर्भ ग्रंथ :

1. खुलाश प्र. 12/42 पृ. 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
2. खुलाश प्र. 12/55, पृ. 134,131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
3. सानंघ प्र. 1/14, पृ. 5 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा,मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
4. सानंघ प्र. 3/3, पृ. 8 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
5. सानंघ प्र. 40/42, पृ. 324 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
6. खुलासा प्र. 13/89, पृ. 151 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
7. सानंघ प्र. 36/17, पृ. 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
8. लालदास जीतक प्र. 31 चौ. 21 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
9. श्री कलश प्र. 16/15, 16, 17, पृ. 81-82 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
10. श्री कलश प्र. 16/18, पृ. 82 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
11. श्री कलश प्र. 16/19, पृ. 82 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
12. श्री कलश प्र. 16/20, पृ. 83 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
13. श्रीलादास बीतक प्र. 31/5 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
14. श्रीलादास बीतक प्र. 31/52-5 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
15. सानंघ प्र. 27/24 पृ. 193 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
16. दैनिक भास्कर दिनांक 15.06.2017, पृ. 14
17. सानंघ प्र. 1/15, पृ. 5 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
18. सानंघ प्र. 1/16, पृ. 5 131 (प्रकाशक श्री दनवतनपुरी धाम खीजड़ा, मन्दिर ट्रस्ट, 2006)
19. डॉ. रणजीत साहा (महामति प्राणनाथ की सामाजिक चेतना जागनी, 1978, पृ. 30)

भारतीय संस्कृति और कबीर

रामाश्रय पटेल

संस्कृति से तात्पर्य उस सामाजिक परम्परा से है, जिस में पूर्वजों से प्राप्त विचार, आदर्श, कला-कौशल और मान्यताएँ समाविष्ट होती हैं। भारतीय संस्कृति का इतिहास तो मानव सभ्यता का इतिहास है; इसी कारण से हमारी सभ्यतायें, हमारी संस्कृति सम्पूर्ण विश्व में बहुत सम्माननीय और पूजनीय मानी जाती है। कबीर भी हमारी प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं, आदर्शों के प्रति सजग थे। उन्होंने वैराग्य से बेहतर अपने सांसारिक धर्म को निभाते हुए ईश्वर भाक्ति पर बल दिया था। मनुष्य अपने सामाजिक जीवन में कुछ आदर्शों, जीवन-मूल्यों को अपने आचरण में उतारता है, जिससे सुंदर, सुसंस्कृत समाज का ढ़ांचा तैयार हो सके।

किसी भी देश, समाज व परिवार के संस्कार, रीति-रिवाज, दैनिक जीवन-चर्या, उनका आपसी व्यवहार, उसकी विचारधारा, उसकी सोच, उसकी समझ, उसके आदर्श, खान-पान, रहन-सहन, ये सब संस्कृति के अंग होते हैं। भारत अपने सांस्कृतिक छवि में सबसे भिन्न और अलग माना जाता है। यूँ तो सभी देशों की अपनी भिन्न-भिन्न संस्कृति होती है, लेकिन भारत भूमि तो देव भूमि है, इसलिए इसका स्थान सबसे अलग है। यहाँ हर युग में, हर काल में महापुरूषों ने अवतार लियें हैं, और इस भूमि को अपने संस्कारों और अमृत वाणियों से सींचा है। वह अमृत वाणियाँ लोक और साहित्य के माध्यम से आज भी संस्कार में जीवित हैं, और हमाने जीवन में घुल-मिल गयी हैं, और हमारी जीवन का अभिन्न अंग बने हुए हैं। हमारे संस्कारों में सबसे अहम संस्कार है- 'सत्य'। सदा सत्य बोलना, यह मानव की निर्मिति होनी चाहिए, लेकिन झूठ बोलना हमारी कुर्मितियों में से एक है।

कबीर जानते थे कि इस संसार में बहुत कम लोग सत्य के प्रति सहिष्णु होते हैं, क्योंकि सत्य का कड़वाहट का विष तो हर किसी के कंठ के नीचे नहीं उतर पाता। इन तत्त्वों के कबीर स्वयं भुक्त-भोगी थे। सच को प्रकट करते हुए वह अपने साखियों में कहते हैं-

"लेखा देणाँ सोहरा, जे दिल साँचा होई।
उस चंगे दीवाँन मैं, पला न पकड़े कोई।।"[1]

इस भौतिक संसार में सच बोलने वालों की कमी होती जा रही है, सच हर जगह दबाया, मारा, कुचला जा रहा है, झूठ का बाजार गर्म है, झूठ उस गर्म पकौड़े की तरह है जो पल भर के लिए अत्यन्त स्वादिष्ट होता है। आज के युग में दोहरी जिंदगी जीने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है, जो दिखाने के लिए आदर्श आचरण करते हैं, लेकिन वास्तविकता कुछ और ही होती है, और यह संसार बाहरी चमक-धमक में इतना प्रभावित हो जाता हैं कि उसके पीछे की कुरूपता उसे दिखाई नहीं देती-

"साँच न कोई पतीजई, झूठे जग पतियाय।
गली-गली गोरस फिरे, मदिरा बैठि बिकाय।।"[2]

'सत्य' तो मानस मोती है, उसे छोड़कर मनुष्य 'झूठ' का जो काँच है, उसके पीछे भाग रहा है, केवल इसलिए कि पल भर के लिए आकर्षण है। सत्य का ही आकर्षण है कि कबीर ने जाति धर्म का चश्मा छोड़कर मानवीय दृष्टि से देखते हुए, उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम दोनों को फटकार लगायी। भारतीय संस्कृति में अतिथि-सत्कार का बहुत बड़ा महत्व है। हमारी संस्कृति में अतिथि की महत्ता कई स्थलों पर वर्णित है। माता-पिता और गुरू के पश्चात् अतिथि देवता माना जाता है। अतिथि या याचक का खाली हाथ निराश होकर लौटना अपमानजनक माना जाता है। कबीर ने ईश्वर से इतना ही माँगा है कि कोई या याचक द्वार से भूखा न लौटे-

"साँईं इतना दीजिए, जामै कुटुंब समाय।
ता मैं भूखा न रहूँ, साधु न भुखा जाय।।"[3]

जो व्यक्ति अतिथि को देखकर हर्षित नहीं होता, और उसे जाते हुए देखकर दुःख का अनुभव नहीं करता, उस व्यक्ति की मुक्ति कभी नहीं होती-

"आवत साधू न हरशिया, जात न दीया रोय।
कहै कबीर ता दास की, मुक्ति न कबहूँ होय।।"[4]

मानव आज मशीनी युग में प्रवेश कर चुका है, उसके पास अतिथि-सत्कार के लिए समय ही नहीं है। इक्कीसवीं सदी तो 'स्मार्टफोन' का युग है, इस चका-चौंध भरी जिंदगी में अतिथि के आने की भी तिथि निर्धारित हो जाती है। कबीर ने तो अपरिचित साधु तक को अतिथि मानकर यथासम्भव उसकी सेवा करने का संदेश दिया है। आज व्यक्ति अपनी छोटी सी दुनियाँ में इतना खो जाता है कि कोई भी बाहरी व्यक्ति या सगा-संबंधी उसे बाधा-सा प्रतित होता है। अतिथि के आने पर ही यह अनुमान लगाया जाता है कि यह कब तक रहेगा, जल्दी जायेगा या नहीं।

महँगाई के इस युग में मेहमान के आते ही घर का बजट डॉवाडोल होने की आशंका घर वालों को सताने लगती है। जबकि कबीर ने कहा है कि-

"जा घर साधु न सोवियहि, हरि की सेवा नाहिं।
वे घर मरघट सारखे, भूत बसहिं दिन माहिं।।"[5]

अर्थात् जिस घर साधु का विश्राम, सत्कार और भगवान की भक्ति नहीं होती, वह घर श्मशान के समान है और उसमें रहने वाले लोग प्रेतात्मा के समान। आज भारतीय संस्कृति से अतिथि सत्कार समाप्त होती जा रही है। अपनी प्राचीन परम्परा को बचाये रखने के लिए व्यक्ति के अंदर उसी भावना को फिर से पैदा करने की जरूरत है। मानवीय व्यवहार भी भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। मीठी वाणी सभी को प्रभावित करती है, यदि शत्रु भी मीठी वाणी से क्षमा माँगता है तो, हम उसे क्षमा कर देते हैं, यह है मीठी वाणी की ताकत। कबीर ने तो सत्य को बह्म कहा है, तो स्वाभाविक ही है कि उन्होंने शब्द की मधुरता, सत्यता को महत्त्व दिया है। कटु शब्द तो ऐसे तीर हैं, जो लगते तो तन को हैं, पर घायल मन को कर देते हैं। इसलिए उन्होंने सोच-समझकर बोलने पर बल दिया है-

"बोली एक अबोल है, जो कोई जाने बोलि।
हिये तराजू तोलि के, तब मुख बाहर खोलि।।"[6]

अर्थात् बिना सोचे-समझे नहीं, बल्कि यह सोचकर कि हम जो कहने जा रहे हैं, उसके सम्मुख व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ सकता है। तब अपना मुख खोलना चाहिए। इसी प्रकार सत्संगति के महत्त्व और कुसंग के दुष्प्रभाव से हम सभी परिचित हैं। हमने बहुत सारी किवदंतियां सुनी है कि पारस के स्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है और एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है। कबीर कहते है कि मथुरा, द्वारिका, जगन्नाथ जाने से भाक्ति पूर्ण नहीं होती-

"मथुरा जावै द्वारिका भावैं, जावै जगनाथ।
साध संगति हरि भगति बिन, कछु न आवै हाथ।।"[7]

अर्थात् मथुरा जायें या द्वारिका पसंद ही आये यह बात मायने नहीं रखतीं। हरि की भक्ति तो अच्छी संगति से ही फलती-फूलती है।

भारतीय संस्कृति की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता है 'संतोष' अर्थात् जो अपना है, जितना है, उसी में संतुष्ट रहना और अधिक की कामना नहीं करना, यही संतोष है। संतोषी व्यक्ति अपने जीवन में कभी दुःखी नहीं रह सकता, वह केवल ईर्ष्या, निन्दा, द्वेश जैसे अनेक विकारों से दूर रहता है। इसलिए कबीर ने संतोष धन को सब प्रकार के सांसारिक ऐश्वर्यों से मूल्यवान बताया है-

"गोधन, गज-धन, बजि-धन और रतन धन खानि।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूरि समानि।।"[8]

आज मनुष्य के पास हर सुविधा होते भी सुख नहीं है, क्योंकि उसमें संतोष नहीं है। यही कारण है कि वह हर समय परेशान दिखायी देता है, और नयी-नयी मानसिक बीमारियों का शिकार बन जाता है। आज के उपभोक्तावादी संस्कृति मनुष्य के आचरण से अधिक दिखावे और चमक-दमक पर जोर देती है। आज असंतोष के कारण ही छोटी-सी-छोटी और बड़ी-से-बड़ी पद प्रतिष्ठा सम्पन्न व्यक्ति भ्रष्टाचार की चपेट में है। यह हम प्रत्यक्ष देख ही रहें हैं कि सरकार का एकमात्र उद्देश्य विकास नहीं, भ्रष्टाचार ही है। असंतोष और लोभ के कारण ही विवाह जैसा पवित्र सामाजिक संस्कार अब व्यापार बन चुकी है। फिर हम क्यों न माने कि कबीर आज भी 'विचारों की लुकारि' हाथ में लेकर भटके हुए इंसान को राह दिखा रहें है।

इसी तरह नारी को भारतीय संस्कृति में देवी का दर्जा देकर उसे पूजनीय और वंदनीय बताया गया है, जिससे नारी का समाज में सम्मान हो। प्रत्येक व्यक्ति की प्रथम गुरू उसकी माँ ही होती है। बच्चे को संस्कारित करने का दायित्व भी माँ की होती है। कबीर ने देखा कि धन-सम्पन्न वर्ग सुरा-सुन्दरियों की हाथों की कठपुतली बना हुआ है, और जो इसके जाल में फँस जाता है, वह न देश के लिए कुछ कर पाता है और न समाज के लिए। इसलिए कबीर ने नारी की संगति क्या, छाया तक से दूर रहने की चेतावनी दे डाली। नारी की तो छाया मात्र से तो सर्प भी दृष्टिहीन हो जाता है, तो फिर उसका संग पुरूष को किस मार्ग पर ले जायेगा। उन्होंने नारी की स्वतंत्रता की बात भी की, भले ही वह केवल ईश्वर की भक्ति के लिए हो। कबीर ऐसी सती की खोज में थे, जो अपने पति के अतिरिक्त और किसी की न सोचे। वह ऐसी नारी के पूजक थे, जो सतीत्व के लिए जौहर करे, अपने को उसी में सुमिरे और उसी में रमें-

"नारी नसावै तीनि सुख, जो नर पासै होई।
भगति, मुक्ति, निज ज्ञान मैं, पैसि न सकई कोई।।"[9]

नर को अपने पास में जकड़कर स्त्री भक्ति, ज्ञान, मुक्ति के सुख से वंचित कर देती है। क्या कारण है कि किसी समय पूज्या समझी जाने वाली नारी एक भोग्या बन कर रह गयी है, उसका उपभोग किया गया है? क्या कारण है कि अपना सब कुछ समर्पित कर देने के बाद भी उसकी झोली खाली है? वास्तव में कबीर नारी के निन्दक नहीं थे, जैसा कि उन्हें प्रचारित किया गया है। अपने अहंकार का नाश और कर्म करने के पश्चात् सब कुछ ईश्वर के हाथों में छोड़ देने की परम्परा सदैव से भारतीय संस्कृति के मूल में रही है। अहंकारी व्यक्ति अपने से बड़ा किसी

को नहीं समझता है, किन्तु भक्ति तो समर्पण का दूसरा नाम है। इसलिए कबीर ने 'मैं' के नाश पर जोर दिया था-

"जब मै था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
सब अधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माहिं।।"[10]

कबीर ने अपनी साखियों में अपनी जाति जुलाहा बतायी है, जो बुनकरी का कार्य करते हैं। बुरकरी भी भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। तभी तो वह 'तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा' कहकर मानों यह साबित करने की कोशिश की थी कि काशी का जुलाहा भी आम ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होता है। खैर यह बात अलग है, हम बात कर रहें हैं कबीर की तरह बुनकरी समाज की, किस तरह बुनकरी भारतीय संस्कृति से जुड़ा हुआ है। इस पर कबीर का एक पद बहुत ही प्रसिद्ध है-

"झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहै कै ताना, काहै कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।।"[11]

कबीर भारतीय संस्कृति में आज भी प्रासंगिक है, उनके एक-एक पद और दोहे पर लेख लिखे जा सकते हैं। कबीर भारतीय सभ्यता और संस्कृति से काफी प्रभावित थे। आज भी उनको पढ़कर हम उन्हें अपनी भारतीय संस्कृति में ही पाते हैं।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. No.-9144298776
E-mail: ramashrayapatel@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. कबीर ग्रन्थावली, संपा. डा. श्यामसुन्दर दास, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ. 33
2. कबीर ग्रन्थावली समग्र, संपा. युगेश्वर, पृ. 444
3. वही, पृ. 463
4. वही, पृ. 453
5. वही, पृ. 517
6. वही, पृ. 467
7. कबीर ग्रन्थावली, संपा. डा. श्यामसुन्दर दास, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ. 38
8. कबीर ग्रन्थावली समग्र, संपा. युगेश्वर, पृ. 441
9. वही, पृ. 285
10. वही, पृ. 245
11. कबीर ग्रन्थावली (प्रस्तावना), संपा. डा. श्यामसुन्दर दास, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ. 35

मानवमूल्य और तुलसी का 'श्रीरामचरितमानस'

आशीष कुमार सिंह

किसी समाज में जिन आदर्शों को महत्व दिया जाता है और जिनसे उस समाज के व्यक्तियों का व्यवहार निर्देशित एवं नियंत्रित होता है, उन्हें उस समाज के 'मूल्य' कहते हैं। वैसे तो मूल्य का शाब्दिक अर्थ है- उपयोगिता, वांछनीयता, महत्व। परन्तु शास्त्रीय एवं साहित्यिक अनुशासनों में मूल्य को भिन्न-भिन्न रूपों में परिभाषित किया गया है।

दर्शनशास्त्र में मनुष्य के जीवन के प्रति दृष्टिकोण को मूल्य की संज्ञा दी जाती है। वेदमूलक दर्शनों के अनुसार मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है और चार्वाक तथा आजीवक दर्शनों के अनुसार भौतिक सुख-भोग। भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि में मोक्ष और भोग दो भिन्न मूल्य हैं। तभी तो मोक्ष में विश्वास रखने वालों का व्यवहार परमार्थ केन्द्रित होता है और भोग में विश्वास रखने वालों का स्वार्थ केन्द्रित।

धर्मशास्त्र में नैतिक नियमों को मूल्य माना जाता है। हम जानते हैं कि प्रत्येक धर्म के कुछ नैतिक नियम होते है और मनुष्य को उनका पालन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में करना होता है। उदाहरण के लिए जैन धर्म को ले लीजिए। जैन धर्म में अहिंसा को सर्वप्रमुख नैतिक नियम माना गया है। जैन धर्म के अनुयायियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे कर्म के सभी क्षेत्रों में इस नियम का पालन करें, इसलिए अहिंसा उनके लिए सर्वप्रमुख मूल्य है।

मानवशास्त्री मूल्य को सांस्कृतिक लक्षण के रूप में स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में संस्कृति और मूल्य अभिन्न होते हैं; प्रत्येक संस्कृति अपने मूल्यों से ही पहचानी जाती है। उदाहरण के लिए हिन्दू संस्कृति को ले लीजिए। हिन्दू संस्कृति चार मानवमूल्यों तथा पाँच महाव्रतों की बात करती है- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष एवं सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। सामान्यतः इन्हीं के आधार पर हिन्दू समाज के व्यक्तियों का व्यवहार निर्देशित होता है, अतः ये ही हिन्दू समाज के मानवमूल्य हैं।

वर्तमान युग में मानवमूल्य पर सबसे अधिक चिन्तन मनोवैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों ने किया है। मनोवैज्ञानिकों ने मूल्यों को मनुष्य की रुचियों, अभिवृत्तियों और पसन्दों के रूप में लिया है। लिंक महोदय के अनुसार, ''मूल्य मानक रूपी मानदण्ड हैं, जिनके आधार पर मनुष्य अपने सामने उपस्थित क्रिया विकल्पों में से चयन करने में प्रभावित होते हैं।''[1]

समाजशास्त्री मूल्यों का सम्बन्ध समाज के विश्वास, आदर्श, सिद्धांत और सामाजिक मानदण्डों से जोड़ते हैं। उनकी दृष्टि में किसी समाज के विश्वास, आदर्श, सिद्धांत और व्यवहार मानदण्ड ही समाज के मूल्य होते हैं। भारतीय समाजशास्त्री डॉ. राधाकमल मुकर्जी ने मूल्य को 'लक्ष्य' के रूप में ही परिभाषित किया है। उनके शब्दों में - ''मूल्य समाज द्वारा स्वीकृत उन इच्छाओं और लक्ष्यों के रूप में परिभाषित किए जा सकते हैं जिन्हें अनुबन्धन, अधिगम या सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा आभ्यान्तरीकृत किया जाता है और जो आत्मनिष्ठ अधिमान, मान तथा आकांक्षाओं का रूप धारण कर लेते हैं।''[2] मुकर्जी की इस परिभाषा में मूल्यों की प्रकृति के बारे में चार तथ्य उजागर होते हैं- पहला यह कि ये समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं, दूसरा यह कि ये अनुबन्धन, अधिगम तथा सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखे जाते हैं, तीसरा यह कि ये मनुष्य द्वारा अपने अन्तःकरण में धारण किये जाते हैं और चौथा यह कि प्रत्येक व्यक्ति इन्हें अपनी इच्छानुसार महत्व देता है।

मूल्य एक सापेक्ष सृजन है, सापेक्ष इस सन्दर्भ में कि मूल्य का एक सामाजिक पहलू होता है और इसके माध्यम से मूल्य जन्म लेते हैं। मूल्य की रचना प्रक्रिया के लिए, व्यक्ति तथा समाज दोनों जिम्मेदार हैं- ''मूल्य वस्तुतः समष्टिपरक होता है। इतिहास के हर कालखण्ड में अलग-अलग माध्यमों से इनकी अभिव्यक्ति हुई है- काव्य, नाटक, चित्रकला, मूर्तिकला आदि से।''[3] मूल्य चेतना अपनी प्रारंभिक यात्रा से कई प्रकार की क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ देखती-सुनती है, और अवचेतन में उन्हें संगृहीत भी करती जाती है, जिसे हम मूल्य निर्माण की प्रारंभिक अवस्था कह सकते हैं। जैसे- प्लेटो ने सत्, श्रेयस् एवं सौन्दर्य के समवेत स्वरूप को मूल्य स्वीकार किया तथा उसने यह भी माना कि इनका स्वरूप सामाजिक तथा सांस्कृतिक संदर्भों में ही तलाशा जा सकता है। अरस्तु ने इसे स्वीकारते हुए सत्, श्रेयस् व सौन्दर्य को अलग-अलग मूल्य स्वीकार किया तथा मूल्य संबंधी यूनानी अवधारणा को आगे बढ़ाया।

भारतीय मूल्यचिन्तन परम्परा प्रायः ईश्वरवादी रही है, लेकिन कर्मकाण्डपरक होने के कारण उसमें ज्ञान तथा कर्म-प्रधान मूल्य स्वीकार किये गये। इन मूल्यों को लोक में स्वीकार करवाने के लिए कुछ भाववादी मूल्य भी जोड़ दिये गये, उदाहरण के लिए श्रद्धा, विश्वास आदि। इसका परिणाम यह हुआ कि एक समय में ये ही

जनता के लिए प्रधान मूल्य बन गये- ''उपनिषद् मूल्य चिन्तन में मनुष्य अनपुस्थित है क्योंकि आत्मा-परमात्मा पर विचार करना मूल्य निर्माताओं को अधिक उचित लगा और इसी मूल्य सम्बन्धी चिन्तन को शंकराचार्य ने आगे बढ़ाया।''[4]

अतः मूल्य के सन्दर्भ में दार्शनिकों, धर्मशास्त्रियों, मनोवैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोण पर समग्र रूप से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने समय के हर समाज की अपनी एक संस्कृति होती है, उसके कुछ विश्वास, आदर्श, सिद्धांत, नैतिक नियम और व्यवहार मानदण्ड होते हैं किन्तु किसी समाज के विश्वास, आदर्श, सिद्धांत, नैतिक नियम और व्यवहार मानदण्ड अपने में मूल्य नहीं होते अपितु जब उन्हें समाज के व्यक्तियों के द्वारा महत्व प्राप्त होता है और उनसे व्यक्तियों का व्यवहार निर्देशित एवं नियंत्रित होने लगे तब यह समझ लेना चाहिए कि ये उस समाज के मूल्य हैं।

मूल्य चिंतन की दृष्टि से गोस्वामी तुलसीदास कृत 'श्रीरामचरितमानस' अपने रचनाकाल (मध्यकाल) से लेकर आज तक प्रासंगिक बना हुआ है। इस बात को हम तुलसी के 'मानस' में निहित उन तमाम मानवीय मूल्यों के अनुशीलन से समझ सकते हैं। चूँकि हम इतिहास के आलोक में ही अपनी सौन्दर्य-चेतना का सच्चा स्वरूप समझ सकते हैं, अपने जीवन की कलात्मकता के दर्शन कर सकते हैं, और अपने भविष्य का निर्माण कर सकते हैं। इसलिए अतीत का समुचित आकलन परमावश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य भी है। भविष्य का शिशु अतीत के क्रोड़ में विकास पाता है- यही अब तक के सम्पूर्ण मानव-इतिहास का चिरन्तन सत्य और परम रहस्य भी है।

भक्तिकाल में सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों पर भक्ति का व्यापक प्रभाव था। सम्पूर्ण मानवीय चेतना ही भक्ति से जुड़ी हुयी थी। इस युग की रचनाएँ एक ओर भक्ति का प्रचार करती थीं तो दूसरी ओर तत्कालीन समाज में व्याप्त पाखंड, अनाचार, दुरव्यवस्था को उद्घाटित करती हुई लोक कल्याण और समाज सुधार की उदात्त और क्रांतिदर्शी चेतना की भी अभिव्यक्ति करती थीं। दोनों प्रवृत्तियों को मिलाकर भक्तिकाल में जिन मानवीय मूल्यों का रूपायन हुआ और जिस मानवीय समझ तथा चेतना का विस्तार हुआ उससे तुलसी जैसे संवेदनशील और सजग रचनाकार का अछूता रह पाना असम्भव ही था।

तुलसीदास हिन्दी के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं। उनकी लोकप्रियता का कारण यह है कि उन्होंने अपनी कविता में अपने देखे हुए जीवन का बहुत गहरा और व्यापक चित्रण किया है। तुलसीदास ने अपनी कविता के विषय में लिखा है कि इसका सबसे बड़ा गुण है- राम का गुणगान। रामोन्मुखता तुलसी का सबसे बड़ा मानव मूल्य है, ''जरि जाउ सो जीवन जानकीनाथ! जियइ जग में तुम्हरो बिनु हैं।''[5]

तुलसी के राम सामाजिक कल्याण के लिए मनुज अवतार लेते हैं- "विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।"[6] इसलिए तुलसी मानते हैं कि मनुष्य के रूप में जन्म लेना अत्यंत सौभाग्य की बात है- "बड़े भाग मानुस तनु पावा।"[7] यहाँ मानव तुलसी के चिन्तन में सर्वोपरि और केन्द्र में आ जाता है।

तुलसी के राम जिस लोक में प्रतिष्ठित किए गए हैं, वह सोलहवीं-सत्रहवीं शती का भारत है, जो बहुतेरे प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त है। इन समस्याओं का चित्रण तुलसी ने कलियुग के माध्यम से किया है। 'श्रीरामचरितमानस' में 'विवेक' और 'मंगल' शब्द इतनी बार प्रयुक्त हुए हैं कि ये दो शब्द तुलसी की जीवन-दृष्टि के आधार ज्ञात होते हैं। राम और राम नाम की महिमा को कई प्रकार से गाया जा सकता है लेकिन तुलसी की विशेषता है कि उन्होंने राम को समाज के सम्मुख मानवमूल्यों के आदर्शों का जीवन्त प्रतीक बना दिया है।

तुलसी के राम ब्रह्म हैं, सर्वशक्तिमान हैं किन्तु उनका चित्रण सर्वत्र मानव रूप में ही हुआ है। ईश्वर में पूरी आस्था और मनुष्य का पूरा सम्मान ये दोनों दृष्टियाँ तुलसी में एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं-

"सियाराम मय सब जग जानी,
करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी।"[8]

जैसी पक्तियाँ इस गहरे विश्वास पर ही लिखी जा सकती हैं। जहाँ ईश्वर और मनुष्य दोनों की एक साथ प्रतिष्ठा हो। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं- "भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो।"[9] तुलसीदास इस महान समन्वय का आधार रामचरित को चुनते हैं और अपने परमब्रह्म राम को लोकजीवन की भावभूमि पर मानवीय रूप में चित्रित करते हैं। "तुलसी के यहाँ राम का परमब्रह्मत्व उनके सारे आग्रहों के बावजूद सगुण भक्ति भावना के कारण ढँक गया है और निखरकर रह गया है राम का परम् करुणावान्, शीलवान् और परदुःखकातर लोकवादी रूप।"[10]

'रामचरितमानस' में तुलसी मानव मूल्यों की स्थापना मर्यादा पुरुषोत्तम राजा राम के माध्यम से करने का प्रयास करते हैं। यहाँ उनका प्रस्थान बिन्दु, प्रेम, दया, समानता, सामंजस्य आदि मूल्यों की प्रस्तुति है। तुलसी के लिए प्रेम का प्रतिमान राम और उनकी भक्ति है। राम के प्रति अपने असीम प्रेम-

"कामिहिं नारि पिआरि जिमि लोभहिं प्रिय जिमि दाम
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहुँ मोहिं राम।।"[11]

के कारण ही तुलसी राम और प्रेम को पर्याय सा बना देते हैं। जब तुलसी कहते हैं-

"परहित सरिस धर्म नहिं भाई,
पर पीड़ा सम नहि अधमाई।।"[12]

तब उस बेहतर व्यवस्था की ही बात करते हैं, जहाँ प्रेम और परोपकार मुख्य तत्व हैं तथा शासक और शासित समान स्तर पर दीखते हैं। प्रेम और समानता पर आधारित तुलसी का यह समन्वय और सामंजस्य एक ऐसी व्यवस्था को सामने लाता है जो तत्कालीन सामन्ती समाज का एक श्रेष्ठतम विकल्प था, जिसमें एक बेहतर मानवीय सोच निहित थी।

मानवमूल्य का जितना सुंदर चित्रण राम काव्य में है, अन्यत्र नहीं। राम का चरित्र दुखी और असहाय जनता को अधिक सहानुभूति देता है। संघर्ष और मर्यादा राम के जीवन दर्शन का आधार है। वाल्मीकि के राम असाधारण पराक्रम वाले, शोक और संघर्ष झेलने में परम सक्षम क्षत्रिय के रूप में चित्रित हुए हैं, किन्तु तुलसी के राम की मानवीय करुणा उनसे बढ़कर है। तुलसी के राम की जो दीनबन्धुता, शील और संकोच है, वह भक्ति के आलम्बन राम में ही सम्भव था।

तुलसी के राम ईश्वर भी हैं, ब्रह्म भी। मर्यादा पुरुषोत्तम, राजकुमार, रावण जैसी शक्ति के हंता, किसी के पति, किसी के मित्र, किसी के भाई, किसी के सेवक, किसी के स्वामी और किसी के पुत्र। "ईश्वरीय रूप के साथ मानवीय रूप और मानवीय नाते-रिश्तों में बँधी राम की इस संश्लिष्ट छवि को तुलसी ने अपनी कल्पना, अपनी आस्था और साधारण जनता की राम के प्रति मनोभावना से एकमेक करके अद्‌भुत रूप से गढ़ा है।"[13] 'मानस' के राम मानव के रूप में देवता हैं। ऐसा तुलसी की उस लोककल्याणकारी चेतना और राम के मानवीय स्वरूप के कारण है, जो पारलौकिकता और भक्ति के आवरण के भीतर भी मानवता और मानवीय मूल्यों की व्यावहारिक प्रस्तुति करने का प्रयास करते हैं।

तुलसी के राम उनके साथ हैं जो दुखी हैं, दीन हैं, असहाय हैं- "राम सामान्य जनों के साथी हैं। बन्दर-भालुओं की सहायता से अपने युग के सबसे शक्तिशाली अन्यायी को परास्त करना स्वयं राज्य से निर्वासित होकर! राम का यह रूप समूचे मानव-इतिहास के संघर्षशील व्यक्ति का प्रतीक बन जाता है।"[14] रावण जो तुलसी के सारे मूल्यों के विरोध का प्रतीक है, दुराचारी है, परपीड़क है और अत्यंत शक्तिशाली और साधन सम्पन्न भी है। वह अत्यंत सुरक्षित है। राम के साथी बन्दर भालू हैं, जो राक्षसों के आहार हैं, किन्तु राम उन मानवीय शक्तियों के प्रतीक हैं जो युग के सारे विकास और सारी सम्भावनाओं को दबोचे बैठे रहने वाले, अन्याय के प्रतीक रावण का विनाश करती हैं।

तुलसी के 'मानस' में ऐसे अनेकों मानवमूल्य को देखा जा सकता है। राम-कथा में एक प्रसंग ऐसा है जहाँ वाल्मीकि और भवभूति के राम शम्बूक नामक

शूद्र का वध करते हैं। उस बेचारे का कसूर यह था कि शूद्र होकर भी तपस्या कर रहा था। शूद्र होकर तपस्या! असहिष्णु वर्णाश्रम व्यवस्था की दृष्टि में यह घोर अनर्थ था! शूद्र तपस्वी का वध करते हुए राम के रूपों की जो भिन्नता वाल्मीकि और भवभूति के यहाँ मिलती है, वह ध्यान से समझने की चीज है लेकिन तुलसी ने राम का वह रूप छोड़ ही दिया है। तुलसी ने 'श्रीरामचरितमानस' में राम द्वारा शूद्र तपस्वी शम्बूक का वध नहीं करवाया है। तुलसी के राम सीता का परित्याग नहीं करते। वे सीता के आचरण पर सन्देह नहीं करते। तुलसी अपने 'मानस' के माध्यम से समाज के सम्मुख राम के माध्यम से नये आदर्शों का सृजन करते हैं, जोकि वाल्मीकि और भवभूति के राम से ज्यादा कल्याणकारी हैं। शायद इसीलिए तुलसी ने शम्बूक-वध की भांति सीता के परित्याग का अंश भी रामकथा से निकाल दिया है। क्यों? यह तुलसी का नारी के प्रति संवेदना नहीं तो और क्या है? शायद यही कारण रहा होगा कि- "आचार्य शुक्ल ने बार-बार यह कहा है कि तुलसीदास सामंजस्य और समन्वयवादी थे।"[15]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने राम को शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वित रूप माना है। राम के शील स्वभाव का वर्णन करते हुए तुलसी कहते हैं, कि बचपन से ही राम को किसी ने क्रोध करते हुए नहीं देखा था। खेलते हुए वे जानबूझकर भाइयों को जिता देते थे। वनवास मिलने पर भी उन्होंने हमेशा कैकेयी का मान रखा। स्वयं को हनुमान का कर्जदार मानते थे। राम के इस शील संकोच की बराबरी 'श्रीरामचरितमानस' का यदि कोई दूसरा पात्र कर सकता है तो वे भरत हैं।

तुलसीदास केवल यह नहीं कहते कि जीवन कैसा है बल्कि जीवन को कैसा होना चाहिए। यह बताना उनका मुख्य काम है। जीवन की भयंकर कटुता के बीच से उनके मानवमूल्य युक्त जीवन का मार्ग निकलता है। कैकेयी और मंथरा की कुटिलता के संदर्भ में ही राम और भरत का चरित्र उभरता है। राम के जीवन में एक-दो कमजोरियों के बावजूद वे हिन्दू आदर्शों और मूल्यों के मानवीकृत रूप हैं।

तुलसी का पूरा 'मानस' मानवमूल्य से भरा हुआ एक चित्रपट है जिस पर उदात्त मूल्यों को दिखाया गया है। यह आशा, विश्वास और आत्म चेतना का काव्य है। सत्यमेव जयते का काव्य है। मूल्यों की रक्षा मुख्य चीज है। मूल्यों के मुकाबले राजसत्ता कुछ भी नहीं है। राजसत्ता को छोड़ने में राम को तनिक भी दिक्कत नहीं होती। "वाल्मीकि रामायण आदि ग्रन्थों में आने वाले उनके सन्देह, अविश्वास और सत्तालोभ वाले प्रसंगों को हटाकर गोस्वामी तुलसीदास ने 'मानस' में जहाँ एक ओर अति-मानवीयता की सृष्टि कर दी है वहीं उसमें उदात्तता के लिए पूरी जगह बना दी।"[16] श्रीरामचरितमानस के राम का पूरा जीवन ही मानवमूल्यों का परिचायक है।

मनुष्य के रूप में राम ही तुलसी के सबसे बड़े जीवन आदर्श हैं और राम के माध्यम से ही वे नैतिकता और सदाचरण जैसे जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हैं।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. 8574703450
E-Mail- ashishsinghsagar100@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. लाल, रमन बिहारी (2005-06), शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धांत, रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ, पृ.सं. 516
2. वही, पृ.सं. 516
3. मोहन, वीरेन्द्र (1986), भक्तिकाव्य और मानव मूल्य, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृ.सं.19
4. वही, पृ.सं.17
5. त्रिपाठी, विश्वनाथ (1974), लोकवादी तुलसीदास, राधाकृष्णन प्रकाशन, दिल्ली, पृ.सं. 11।
6. रामचरित मानस 1/192
7. रामचरित मानस 7/43/7
8. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.सं.49
9. मिश्र, शिवकुमार, भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.सं.159
10. त्रिपाठी, विश्वनाथ, लोकवादी तुलसीदास, राधाकृष्ण प्रकाशन, 19
11. रामचरित मानस 7/10
12. रामचरित मानस 7/41/1
13. मिश्र, शिवकुमार, भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.सं.166
14. त्रिपाठी, विश्वनाथ (1974), लोकवादी तुलसीदास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृ.सं. 20-21
15. डॉ. युगेश्वर (1968), तुलसीदास : आज के सन्दर्भ में (तुलसीदास का समन्वयवाद), अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.सं. 17
16. वही, पृ.सं.76

कबीरा इश्क का माता...

नताशा इन्दुस्काया

सात सन्दूकों में भरकर दफ्न कर दो नफरतें
आज इन्सान को मुहब्बत की जरूरत है बहुत ...

-बशीर बद्र

वर्तमान समय और समाज को देखते हुए बशीर साहब का ये शेर एक जरूरत सी जान पड़ता है। आज जिस तरह से समाज में नफरतों का कारोबार बढ़ रहा है, सच में इन्सान को बहुत जरूरत है इस मुहब्बत की। और बात जब मुहब्बत की हो तब कबीर की याद आना स्वाभाविक ही है, जिन्होंने आज से लगभग 600 वर्षों पूर्व ही हमें आगाह कर दिया था इस खतरे से।

आवश्यकता आविष्कार की जननी है। कबीर का जन्म भी हमारे समाज की आवश्यकता थी। कबीर के समय पूर्व-मध्यकाल में समाज अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक विषमताओं से आक्रान्त था। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपने-अपने धर्म को श्रेष्ठ साबित करने में लगे हुए थे। दोनों ही विभिन्न सम्प्रदायों में बंट गए थे। हिन्दुओं में कुछ ब्राह्मणवादी, कुछ वैष्णव, कुछ शाक्त और कुछ स्मार्त थे तो मुसलमान अनुयायी आपस में ही विद्वेष रखते थे। यही स्थिति भारतीय समाज की भी थी। समाज अनेक वर्गों में विभाजित हो चुका था। हिन्दू समाज वर्ण व्यवस्था से हटकर अनेक उपजातियों में बंट गया था। मुसलमानों में भी शेख, सैयद, पठान, मुगल आदि वर्ग बन गए थे।

ऐसे समय में, जब भारतीय समाज एवं संस्कृति धर्म की दृष्टि से जर्जर हो चुके थे और समाज को आवश्यकता थी एक ऐसे नेता की जो समाज में फैली हुयी संकुचित मनोवृत्तियों को दूर करने में समर्थ हो, तब आविर्भाव होता है एक ऐसे व्यक्ति का जिसके लिए धर्म और समाज से बढ़कर थी- मानव और उसकी मानवता।

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय।।1

कहकर संसार के सारे पोथी-ज्ञान को कबीर ढाई आखरों में तौल देते हैं। उनके अनुसार जिसने प्रेम का ढाई आखर पढ़ा लिया अर्थात् प्रेम तत्व को अपने जीवन में उतार लिया वही पंडित है, वही ज्ञानी है और वही सच्चे अर्थों में मनुष्य है।

कबीर कभी किसी धर्म विशेष से बंधकर नहीं रहे। वे प्रेम का ढाई आखर पढ़ाकर मानव को मानव के सन्निकट लाना चाहते थे। उन्होंने दोनों धर्मों के खोखलेपन को जनता के समक्ष अनावृत्त किया। जो उन्हें ठीक लगा उसे उन्होंने बेधड़क कहा, बिना किसी लाग-लपेट के। अनेक सिद्धांतों के ग्रहणीय अंशों को लेकर उन्होंने अपनी भक्ति और प्रेम का जो सहज मार्ग निकाला वह उनकी मौलिक देन है। किसी भी सिद्धांत को वे अनुभूति की कसौटी पर परखकर ही अपनाते थे। कबीर उस समाज विरोधी क्रांति के कर्णधार थे जो आज भी विभिन्न रूपों में समाज में आमूल परिवर्तन करने में प्रयासरत हैं।

मानव स्वरूप मानवता है- यही है जो मानव को मानव बनाए रखता है अन्यथा वह केवल मानव का आकार मात्र है। मानवता मानव स्तर पर विकसित उस चेतना का नाम है जो परदुःखकातरता से मण्डित हो और यह परदुःखकातरता रागात्मक सम्बन्ध की पीठिका पर ही सम्भव है। निष्कर्ष यह कि मानव के स्वभाव में राग (प्रेम) हैं। मनुष्य अपनी मानवता के कारण ही सर्वोपरि है और यह मानवता अपने स्वभाव में रागमय है। इसीलिए भक्त कवियों की भक्ति का यह प्रस्थान राग या प्रेम को सर्वोपरि मानता है और कहता है- "अकथ कहानी प्रेम की कछू कहि नहिं जाय।"[2]

कबीर विश्व-धर्म-मानवता के समर्थक थे। वे ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, गृहस्थ, एकता तथा मानव धर्म के प्रेरक थे। कर्मों के प्रति निष्ठा एवं सामंजस्य बिठाकर कबीर ने सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति आदर और प्रेम भाव के साथ ही व्यक्ति समाज एवं देश में धर्म-निरपेक्षता की स्रोतस्विनी प्रवाहित की। हम सभी मानव हैं और मूलतः एक हैं। कबीर ऐसे धर्म को नहीं मानते थे, जो मनुष्यता के विकास का साधन न हो। कबीर धर्म को अध्यात्म चेतना से जोड़ते हैं जो प्रेम की भाव-भूमि पर स्थित होता है।

कबीर के लिए 'प्रेम' मानव जीवन का आधार है। इसीलिए वे सम्प्रदाय, जाति, धर्म आदि के सारे बन्धन पाखण्ड को ध्वस्त करके केवल मानवता के कल्याण की अलख जगाने का बीड़ा उठाते हैं। हर संकीर्ण सामाजिक दीवार को

तोड़कर मनुष्य जाति की एकता बनाए रखने के लिए 'प्रेम' का बिगुल बजाते हैं। वे मानव के दिल में घृणा के स्थान पर प्रेम पैदा करना चाहते हैं। प्रेम के मार्ग पर अग्रसर कबीर अपने अहंकार का विसर्जन कर देते हैं क्योंकि प्रेम और भक्ति समर्पण चाहते हैं-

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा
तेरा तुझको सौंपना, क्या लागै है मेरा।।[3]

कबीर का कहना है कि प्रेम किसी खेत में नहीं उपजता और न ही किसी बाजार में बिकता है। यह प्रेम का मार्ग वीरों का है कायरों का नहीं। जो कोई इस मार्ग पर चलना चाहे वह सिर उतार कर पैरों तले रख दे तब कहीं जाकर वह प्रेम, स्वाद के निकट पहुँच सकता है। प्रेम की डगर पर एकनिष्ठ समर्पित होकर चलने वाले को ही परमप्रिय के दर्शन होते हैं। किन्तु यह ध्यान रहे कि प्रेम की मंजिल तक पहुँचना सहज नहीं है, क्योंकि यह आग का दरिया है जिसे डूबकर पार करना है-

प्रेम न खेती नीपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ
राजा परजा जिस रुचै सिर दे सो ले जाए।[4]
कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध
सीस उतारि पग तलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद।[5]

कबीर के लिए प्रेम ही सर्वस्व है। वेद-शास्त्र, मन्दिर-मस्ज़िद, पीर-पैगम्बर से ऊपर यह प्रेम समस्त बाह्यचारों की पहुँच से बहुत ऊपर है। यह प्रेम ही भक्ति की आधार भूमि है-

प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज दंभ विचार
उदर भरन के कारने, जनम गंवायौ सार।[6]

कबीर की भक्ति की बुनियाद प्रेम है और मानवता का उत्थान उसका ध्येय है, क्योंकि वे जानते थे कि प्रेम का माधुर्य ही लोगों को सारे जाति-भेद-ऊँच-नीच से ऊपर उठा सकता है- "सार-सार को गहि रहै थोथा देय उड़ाय।"

प्रेम के प्रभाव से मनुष्य का अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है, उसमें कस्तूरी जैसी सुगन्ध भर जाती है, जो वाणी के द्वारा सम्पूर्ण परिवेश को महक से भर देती है-

प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास
मुखै कस्तूरी महमहीं, बाणी फूटी बास।[7]

कबीर एक नवीन मार्ग 'प्रेममार्ग' की सृष्टि करते हैं। इस प्रेममार्ग को स्पष्ट करते हुए श्यामसुन्दरदास कहते हैं- "ज्ञान मार्ग के अनुसार निर्गुण निराकार ब्रह्म

शुष्क चेतना का विषय है। कबीर ने इस शुष्कता को निकालकर प्रेमपूर्ण चिन्तन की व्यवस्था की। कबीर के इस प्रेम के दो पक्ष हैं, परमार्थिक और ऐहिक। परमार्थिक अर्थ में प्रेम का अर्थ लगन है, जिसमें मनुष्य अपनी वृत्तियों को संसार की सब वस्तुओं से विमुख करके समेट लेता है और केवल ब्रह्म के चिन्तन में लगा देता है तथा ऐहिक पक्ष में उसका अभिप्राय संसार के सब जीवों से प्रेम और दया का व्यवहार करना है।''

कबीर ने सूफियों के समान प्रेम विरह तथा प्रेम के मार्ग में बलिदान की महत्ता को प्रतिपादित किया है। कबीर की भक्ति इसी ईश्वरीय प्रेम की पुष्टि करती है-

राम रसायन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल
कबीर पीवण दुर्लभ है, माँगे सीस कलाल।[8]

कबीर हरि रस को पीकर सदैव मस्त रहते हैं। जो मदमस्त अव्यक्त में लीन होता है वह कालजयी हो जाता है। वह जीवनमृत और विषयातीत हो जाता है। इस प्रेम रस को पीने की इच्छा तो सभी करते हैं, किन्तु सबको यह सुलभ नहीं हो पाता क्योंकि इसका वितरक कलाल इसके शुल्क के रूप में सिर माँगता है, जिसमें इतने बड़े उत्सर्ग का संकल्प है, वही इसका अधिकारी है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के बारे में कहा हैं- उनका मन जिस प्रेम रूपी मदिरा से मतवाला बना हुआ था वह ज्ञान के गुड़ से तैयार की गयी थी, इसीलिए अन्धश्रद्धा, भावुकता और हिस्टीरिक प्रेमोन्माद का उनमें एकान्त अभाव था। युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और युग-प्रवर्तक की दृढ़ता उनमें विद्यमान थी।[9] प्रेम के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े दृढ़ हैं। उनका मानना है कि भले ही प्रेम में शीश भी देना पड़े। प्रेम में 'घमंड' नहीं होता, निराभिमान की स्थिति और समरसता की स्थिति होती है। प्रेम में बुद्धि पक्ष नहीं रह जाता है। वहाँ तो हृदय-पक्ष ही होता है। बुद्धि तर्क-वितर्क का प्रश्न उपस्थित करती है, पर हृदय आस्थावान होता है, तभी तो प्रेम की सम्पन्नता बनी रहती है। प्रेम के मार्ग में केवल साधन का अन्तर है, अन्य कोई भेदभाव नहीं रहता। यही मत ईश्वर के प्रति समर्पित निःस्वार्थ प्रेम का है।

प्रेम के ऐसे मतवाले कबीर इस मस्ती में दुनिया की होशियारी से दूर चले जाते हैं। इस फक्कड़ फकीर को किसी बात का होश नहीं रह जाता है, उनका प्रिय तो उन्हीं में समाया हुआ है।

हमन हैं इश्क़ मस्ताना, हमन को होशियारी क्या
रहें आज़ाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या।

जो बिछड़े हैं पियारे से, भटकते दर-ब-दर फिरते
हमारा यार है हममें, हमन को इंतिज़ारी क्या।
कबीरा इश्क का माता, दुई को दूर कर दिल से
जो चलना राह नाजुक है, हमन सर बोझ भारी क्या।[10]

कबीर के क्रांतिकारी व्यक्तित्व में एक भक्त, प्रेमी और शुद्ध मानव त्रिवेणी दिखाई पड़ती है। उन्होंने धर्म और समाज दोनों क्षेत्रों में क्रान्ति पैदा की। कबीर ने समाज में व्याप्त ऊँच-नीच, छुआ-छूत, जाति-पांति जैसी कुरीतियों को दूर कर जीवन और समाज में समरसता लाने का प्रयास किया। वे शाश्वत मूल्यों और मर्यादाओं को बदलने में तत्पर थे और उनका मानवतावाद उन्हें इस बात के लिए प्रेरित करता था। कहते हैं कि मोहब्बत इंसान को बाग़ी बना देती है। मानव और समाज के प्रति प्रेम ने कबीर को भी बाग़ी बना दिया था। तभी तो मानव-मानव के बीच भेद उत्पन्न करने वाले ब्राह्यडम्बरों, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों के प्रति कबीर ने कड़ा रूख अपनाया और प्रेम को ही सर्वोपरि माना। जप माला तसबीह, मंदिर-मस्ज़िद, पीर-पैगम्बर सभी को उन्होंने इस प्रेम के समक्ष अस्वीकार कर दिया। उनके लिए तो प्रेम ही साध्य है और प्रेम ही साधन।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. 8878471384
E-Mail- natashainduskaya1@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, लोकभारती प्रकाशन, 2011, पृ.78
2. सुरेश आचार्य, कबीर : हंसा कहौ पुरातन बात, अमन प्रकाशन, 2002, पृ.2
3. श्याम सुन्दर दास, कबीर ग्रन्थावली, लोकभारती प्रकाशन, 2011, पृ.62
4. वही, पृ. 103
5. वही, पृ. 102
6. वही, पृ. 111
7. वही, पृ. 58
8. वही, पृ. 61
9. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, 2012, पृ.94
10. नया ज्ञानोदय, मई 2016, पृ.61

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई : मीराबाई

राखी देवी

राजस्थान की भूमि साहस और शौर्य के लिए ही नहीं अपितु प्रेम के लिए भी प्रसिद्ध है। जहाँ भारत में हुये साठ प्रतिशत युद्ध इसी भूमि पर हुये, वही युद्धों की इस भूमि पर प्रेम के द्वारा भक्ति के तारों को झंकृत करने वाली प्रेममूर्ति भी अवतरित हुई जिसका नाम था मीरा। मीराबाई का नाम किसी परिचय का मोहताज नही है। मीराबाई श्री कृष्ण की अनन्य भक्त थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि- मीरा की उपासना माधुर्य भाव की थी अर्थात् वे अपने इष्ट देव श्रीकृष्ण की भावना "प्रियतम या पति के रूप में करती थी।"[1] राजस्थान की गोद में पली-बढ़ी कृष्ण दीवानी मीराबाई के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ है। आचार्य शुक्ल के अनुसार मीराबाई का जन्म संवत् 1573 में चौकड़ी नामक गाँव में हुआ था। किन्तु सर्वमत से विद्वान इनका जन्म मेड़ता के समीपवर्ती गाँव कुडकी में राठौर वंश की मेड़तिया शाखा में सन् 1498 में मानते है। इनके पिता का नाम रत्नसिंह था। मीरा की माता का निधन बचपन में ही हो गया था, अतः वे मेड़ता में रावदूदा के पास रही जिन्होंने उन्हें वैष्णव भक्ति के संस्कार दिये। बाल्यकाल से ही मीराबाई में भक्ति के संस्कार जाग्रत होने लगे थे। मीरा के हृदय मंदिर में बचपन से ही ऐसे अलौकिक प्रेमानुराग की छटा छिटकने लगी थी जिसे देखकर लोगों को आश्चर्य होता था। मीराबाई का विवाह चित्तौड़ के राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से हुआ परन्तु दुर्भाग्यवश वे सात वर्ष बाद ही विधवा हो गयी। राजपूताने की तत्कालीन प्रथा के अनुसार मीरा ने सती होने से इंकार कर दिया क्योंकि मीरा स्वयं को कृष्ण की सुहागिन मानती थी-

"जग सुहाग मिथ्यारी सजनी हांवा हो मिट जासी
वरन् कर्यां हरि अविनासी म्हारो काल-व्याल न खासी।"[2]

मीरा के इस निर्णय ने सम्पूर्ण राजपूताने में उथल-पुथल मचा दी परिणामतः राजपरिवार में उनका विरोध शुरू हो गया। वे अपना अधिकांश समय पूजापाठ एवं ईश्वर भक्ति में व्यतीत करने लगी। मीरा ने अपना सम्पूर्ण जीवन गिरधर नागर को समर्पित कर दिया। हरि ही उनके जीवन का आधार थे।

"हरि मोरे जीवन प्रान अधार।
और आसिये नाहीं तुम बिन, तीनूँ लोक मँझार।।"[3]

राणा सांगा के उत्तराधिकारी विक्रम सिंह ने मीरा को अनेक यातनाएँ दी। मीरा का भक्ति में डूबकर मंदिरों में गाना-बजाना और नाचना राजघराने की कुल मर्यादा के विरूद्ध था। राणा ने उन्हें रोकने की बहुत कोशिश की पर हर बार नाकामी ही हाथ लगी। अंत में राणा ने मीरा को मारने के उद्देश्य से विष का प्याला यह कहकर भिजवाया कि यह भगवान का प्रसाद है। अपने प्रभु का नाम सुनकर मीरा ने उसे माथे से लगाया और पी लिया, पर श्रीकृष्ण की इस दीवानी पर विष का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

"विष का प्याला राणा जी भेज्या, पीवत मीराँ ही हाँसी रे।"[4]

राजपरिवार का दुर्व्यवहार मीरा के प्रति बढ़ता ही गया। दिन-प्रतिदिन परिस्थितियाँ विपरीत होती चली जा रही थी, कहा जाता है कि इन विपरीत परिस्थितियों में मीरा ने तुलसीदास को एक पत्र लिखा-

"स्वास्ति श्री तुलसी कुल भूषण दूषन-हरन गोसाई,
बारहिं बार प्रणाम करहूँ अब हरहूँ सोक-समुदाई।
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई,
साधु-सग अरु भजन करत माहिं देत कलेस महाई।
मेरे माता-पिता के समहौ, हरिभक्त सुखदाई,
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखिए समझाई।।"[5]

तब तुलसीदास ने मीराबाई के पत्र के जवाब में उन्हें विनय पत्रिका का यह पद लिखकर भेजा—

"जाके प्रिय न राम बैदेही,
सो नर तजिए कोटि बैरी सम जधपि परम सनेही।
नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसंख्य जहाँ लौ,
अंजन कहा आँखि जो फूटे, बहुतक कहो कहाँ लौ।।"[6]

परिणामतः मीरा ने घर छोड़ दिया और वृंदावन होते हुये द्वारका चली गयी और रणछोड़ जी के मंदिर में उन्होंने शेष जीवन बिताया। मीराबाई के गुरू रैदास थे—

"गुरु मिलिया रैदास जी, दीन्हीं ग्यान की गुटकी।"[7]

राणा विक्रमजीत की मृत्यु के बाद मेवाड़ के लोग उन्हें वापस बुलाने द्वारका गये। मीरा जन समुदाय का आग्रह न टाल सकीं। वे विदा लेने रणछोड़ मंदिर गयीं, पर पूजापाठ में वे इतनी तल्लीन हो गयी और उनका शरीर वही छूट गया। इस प्रकार 1573 में मीराबाई की मृत्यु हो गयी।

मीराबाई द्वारा रचित पूर्ण-अपूर्ण कुल 11 रचनाओं का उल्लेख मिलता है, जो क्रमशः 'गीतगोविन्द की टीका', 'नरसी जी का मायरा', 'राग सोरठ का पद', 'मलार राग', 'राग गोविन्द', 'सत्यभामानु रूसणं', 'मीरा के गरबी', 'रूक्मणी मंगल', 'नरसी मेहता की हुंडी', 'चरीत', एवं 'स्फुट पद' हैं। इनमें से केवल स्फुट पद ही मीरा की प्रमाणिक रचना है जो मीराबाई की पदावली के नाम से प्रकाशित है।

मीराबाई श्रीकृष्ण की अनन्य भक्त थी। डॉ. शिवकुमार के शब्दों में, "श्रीकृष्ण के प्रति उनका समपर्ण अनन्य है। श्रीकृष्ण की अनन्य उपासिका और समर्पिता के रूप में लोकमानस में उनकी स्मृति स्थायी हो चुकी है।"[8] उनका समस्त काव्य संसार कृष्ण के प्रेयसी-प्रीतम भावों से सराबोर शृंगार रस की विरह वेदना से जनमानस के हृदयों को भक्ति-भाव से ओत-प्रोत करता काव्य है। डॉ. राम स्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं कि "मीरा का काव्य उन विरल उदाहरणों में है जहाँ रचनाकार का जीवन और काव्य एक दूसरे में घुल-मिल गये हैं, परस्पर के संपर्क से वे एक दूसरे को समृद्ध करते हैं।"[9] प्रेम साधना ही मीराबाई के व्यक्तित्व और काव्य की परिचायक प्रधान प्रवृत्ति है। चिरंतन विरह का उद्‌गम रूप इस साधना का स्वरूप है। मीराबाई अपने प्रिय का परिचय देते हुए कहती है कि वे मोर मुकुट, मकराकृत कुण्डल धारण करते है। उनके ललाट पर अरुण तिलक शोभायमान है। वे श्यामवर्ण है और उनकी मूर्ति मन को लुभाने वाली है। उनके नेत्र विशाल और उनके अधरों पर सुधारस प्रवाहिनी मुरली सुशोभित है तथा उनके गले में वैजयन्ती माला है। ईश्वर ही मीरा का सच्चा पति है। वे कुलकानि, सामाजिक बंधन सबका उल्लंघन कर उसी मोर मुकुट वाले को ही अपने जन्म और मरण का साथी बनाती है और उसी का रूप पल-पल देखकर सुख पाती है।

"मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरों न कोई
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई।
छाँड़ि दई कुल की कानि कहा करिहै कोई
संतन ढिंग बैठि-बैठि लोक लाज खोई।।"[10]

मीराबाई के कृष्ण उनके जीवन, उनके प्राण है। उन्हें उनके दर्शन के बिना एक घड़ी भी चैन नहीं मिलता। वह कृष्ण के विरह में घायल की तरह घूमती रहती

है। न उन्हें नींद आती है न उन्हें किसी का भी भान है। मीराबाई कहती है कि मेरा दरद कोई नहीं जानता-

"घड़ी एक नहिं आवड़े, तुम दरसण बिन मोय
तुम हो मेरे प्राण जी, कासूँ जीवण होय।
नींद न आवै धान न भावै, बिरह सतावै मोहि
घायल सी घूमत फिरूँ रे, मेरा दरद न जाणै कोय।।"[11]

मीरा का अपने भगवान के साथ प्रेम का सम्बन्ध है और वह प्रेम भी साधारण नहीं जीवनव्यापी चिरंतन विरह का रूप धारण करने वाला प्रेम है। इसीलिए इस प्रेम को साधारण प्रेम की संज्ञा न देकर प्रेम साधना का नाम दिया गया है। यह प्रेम सचमुच ही एक साधना है और वह भी साधारण साधना नहीं, सम्भवतः इससे ऊँची कोई साधना नहीं है।

"ज्यूँ चातक घन को रटै; मछरी जिमि पानी हो
मीरा व्याकुल विराहिणी सुध-बुध बिसरानी हो।"[12]

विरह मीराबाई के जीवन का ही नहीं उनके काव्य का भी सबसे बड़ा यथार्थ है। "मीराबाई का काव्य उनके हृदय से निकले सहज प्रेमोच्छवास का साकर रूप है, उनकी वृत्ति एकांततः और समग्रतः प्रेममाधुरी में ही रमी है।"[13] मिलन के अभाव में भी मीरा का प्रेम और विरह किसी भी प्रेम योगिनी से कम नहीं था। सच तो यह है कि विरह साधना में मीरा अद्वितीय है। मीरा के विरह निवेदन में जिस पीड़ा-दरद का वर्णन है वह अत्यंत गम्भीर और अनिर्वचनीय है। मीरा के पदों में यह व्यथा उमड़ी सी पड़ती है जैसे महासागर के अंतर का मंथन और आलोड़न उसके उत्ताल तरंगों में उमड़ा पड़ता है।

"हेरी मैं दरद दिवाणी होइ, दरद न जाणै मेरो कोइ
घायल की गति घाइल जाणै, की जिण लाई होइ।
जौहरि की गति जौहरी जाणै, की जिन जौहर होइ
सूली ऊपरि सेज हमारी, सोवणा किस विध होइ।
गगन मँडल पै सेज पिया की, किस विध मिलणा होइ।।"[14]

मीराबाई ने भक्ति को एक नया अर्थ दिया। समूचे भक्तिकाल में उनका व्यक्तित्व सबसे विलक्षण है। मीराबाई ने विभिन्न पदों व गीतों की रचना की। उनके पदों में भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति के साथ-साथ प्रेम की ओजस्वी प्रवाह-धारा और प्रीतम से वियोग की पीड़ा का मर्मभेदी वर्णन मिलता है। इन्होंने अन्य संतों

की भांति कई भाषाओं का प्रयोग किया। इनके पदों में राजस्थानी, गुजराती, ब्रज, अवधी, पंजाबी आदि के शब्द मिलते है। परन्तु इनके अधिकांश पद राजस्थानी लहजे का पुट लिये ब्रजभाषा में रचे गये है। इनके पदों में सीधी हृदय ग्राही भाषा, मार्मिक विरह-अभिव्यक्ति, अलंकारों का सहज स्वाभाविक प्रयोग भाव-सौन्दर्य में चमत्कार पैदा करता है। वस्तुतः जन-जन के हृदयों पर अपने काव्य की छाप छोड़ने वाली मीराबाई के पास न पांडित्य था, न कला का कौशल उन्हें न परम्परा की चिन्ता थी, न धर्म और दर्शन के मत और सिद्धांत का आग्रह, न वे भाषा और साहित्य की मर्मज्ञ थी, न समाज और शास्त्र की जानकार। उनके पास तो समाज में हेय दृष्टि से देखे जाने वाला नारीत्व था, वैधव्य था और उसका एकतारा था, जिस पर प्रेम के गीतों की मनुहार भरी सामाजिक परिवर्तन की मांग मुखरित होकर गूँजती रही है। मीराबाई के जीवन में समाज को आन्दोलित कर देने की शक्ति थी। अपनी स्वतंत्र भावनाओं में उसे वहाँ ले जाने का तीव्र वेग था। भावनाओं के इस वेग में बहा ले जाकर जिस मोड़ पर मीराबाई मनुष्य को छोड़ देती हैं, वहीं से एक सीधा पथ मानव-कल्याण की ओर जाता है। समाज और प्रेम का एक नयी दिशा देने वाली नारी हृदय की सच्ची और स्पष्ट अभिव्यक्ति और उसमें प्रेम साधना का ऐसा अपूर्व काव्यत्व अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ता।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. No. 8349418992
E-mail: vermarakhi589@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 124
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, मयूर पेपर बैक्स नोएडा, पृष्ठ सं. 221
3. मीराबाई की पदावली, संपा. परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, पृष्ठ सं. 96
4. वही, पृष्ठ सं. 110
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 123
6. वही, पृष्ठ सं. 124
7. मीराबाई की पदावली, संपा. परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, पृष्ठ सं. 104

8. हिन्दी सहित्य संक्षिप्त इटिवृत्त, शिवकुमार मिश्र, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 56
9. भक्तिकालीन काव्य, संपा. प्रो. कान्तिकुमार जैन, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, पृष्ठ सं. 91
10. मीराबाई की पदावली, संपा. परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, पृष्ठ सं. 100
11. वही, पृष्ठ सं. 131
12. वही, पृष्ठ सं. 127
13. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, मयूर पेपर बैक्स नोएडा, पृष्ठ सं. 221
14. मीराबाई की पदावली, संपा. परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, पृष्ठ सं. 121

मध्यकालीन साहित्य : धर्मनिरपेक्षता का मूल्यांकन

सपन राज

धर्म के विषय में एक सामान्य पंक्ति है कि धर्म का अर्थ धारण करना होता है। परन्तु धारण क्या करना है, क्या नहीं। इस पर अधिकतर लम्बी बहस चलती है और निष्कर्ष सदैव शून्य ही प्राप्त होता है। इस यक्ष प्रश्न के उतरार्थ मैं कहना चाहूँगा कि वास्तव में किसी भी धर्म के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष होते हैं—1. कर्मकांड 2. दर्शन। प्रायः प्रथम पक्ष को ही धर्म समझा जाता है कर्मकांड, रीति-रिवाज, तीज-त्यौहार ही धर्म समझे जाते हैं। जबकि दर्शन के बिना धर्म अंधविश्वास है और धर्म के बिना दर्शन अपंगु है इसलिए दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। वे साथ-साथ चलने चाहिए दर्शन से कर्मकांड आदि को सही रूप प्राप्त होता है और उनका उद्देश्य समझ में आता है। इससे धर्म की सार्थकता सिद्ध होती है अतः कर्मकांड और दर्शन में उचित-अनुचित विवेक ही धर्म है।

भारत के संविधान में 'धर्मनिरपेक्षता' का भाव है परन्तु शब्दावली का अर्थ कहीं भी स्पष्ट उल्लिखित नहीं है। अनुच्छेद 25 (1) और (2) यह संकेत करते हैं कि भारत में राज्य धार्मिक मसलों पर तटस्थ रहेगा और व्यक्ति तथा समूहों को धर्म-जाति के भेद पर ध्यान दिए बिना समान अधिकार प्रदान करेगा। भारत में धर्मनिरपेक्षता की यह धारणा पाश्चात्य धारणा से भिन्न हो जाती है यहाँ राज्य और धर्म के बीच पृथक्करण पूर्ण न होकर सीमित पृथक्करण का प्रावधान रखा गया है क्योंकि राज्य धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार रखता है।[1]

धर्मनिरपेक्षता की भारतीय अवधारणा : साधारणतः भारत में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म के प्रति उदासीन, अलगाव अथवा धर्म को अस्वीकार करना नहीं है बल्कि इसका तात्पर्य है सब धर्मों को स्वीकार करना और सब धर्मों तथा धार्मिक संस्थानों को अपने धार्मिक विश्वाशों का प्रचार करने की स्वतंत्रता प्रदान करना है। इस अर्थ में भारतीय धर्म-निरपेक्षता विभिन्न धर्मों और पंथों को अपने धर्म की मनचाही व्याख्या और उन्हें धार्मिक शिक्षा-संस्थानों में शिक्षा का विषय बनाने का

बिना सत्य को जाने मनुष्य अनजान ही बना रहता है। इसलिए सत्य पर निर्गुण संतों का बहुत जोर था और गुरु के विषय में सत्य गुरु की बात करते हैं जो वास्तविक ज्ञान से परिचित कराये वही गुरु है। इस प्रकार संत रैदास ने अपनी वाणी के माध्यम से समाज में समरस्ता लाने का संदेश दिया मानव को मानव से प्रेम की भाषा पर बल दिया आज के समय में भी सामाजिक विखराव खत्म नहीं है। स्थित जरूर हुआ जिसे खत्म होना चाहिए। भक्तिकालीन आन्दोलन अखिल भारतीय था जिसने सम्पूर्ण भारत को एकता के सूत्र में बाँधने का सन्देश दिया। संत रैदास का चिंतन और दर्शन वैज्ञानिक चिंतन पर आधारित है जिसमें ज्ञान, तर्क, बुद्धि और विवेक है जिसके द्वारा उन्होंने ब्राह्मणवादी सामाजिक, आर्थिक संरचना का खंडन किया। भारतीय साहित्य ने संत रैदास के गौरवपूर्ण साहित्य के मूल्यांकन की आवश्यकता है। ऐसा मूल्यांकन जो समाज के परिप्रेक्ष्य में हो, भक्ति परम्परा के परिप्रेक्ष्य में हो जिसका मूल्यांकन किया जाना चाहिए और उनके आलोक को अपने भीतर उतारने की जरूरत है।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. No.- 07618883305
E-mail: sanjaykumarhcu2014@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. मुक्तिबोध रचनावली, सं. नेमिचन्द्र जैन, खंड 5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृति-1998, पृ. 288
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, मयूर प्रकाशन, संस्करण-33, सन् 2007, पृ. 130
3. विकल्प की तलास : बुद्ध से अम्बेडकर तक, रामगोपाल सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर-दिल्ली, प्रथम सं. 2008, पृ. 60.
4. वही, पृ. 63
5. वही, पृ. 66
6. वही, पृ. 68
7. भक्ति काव्य का समाज दर्शन, प्रेमशंकर, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2007, पृ. 41
8. वही, पृ. 41
9. सामाजिक क्रान्तिचे प्रणेते-गुरू रविदास, डॉ. चन्द्रशेखर चादेकर, पृ. 28
10. विकल्प की तलास, रामगोपाल सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस जयपुर, दिल्ली, प्रथम सं. 2008, पृ. 73.
11. वही, 75

फटकारते हुए कहते हैं कि 'पाहन पूजे ते हरि मिले तो मैं पूजूं पहाड़'। वहीं दूसरी तरफ मुस्लिमों को भी फटकारते हुए कहते हैं- 'कांकड़ पाथर जोड़ी के मस्जिद लई बनाये ता चढ़ मुल्ला बांग दे का बहिरा हुआ खुदाय'। तो इस तरह हम देखते हैं कि कबीर हिन्दू और मुस्लिम दोनों की उपासना-पद्धतियों के आडम्बर पर व्यंग्य करते हैं परन्तु उन पर न तो तब कोई असर हुआ था न आज ही कोई असर है बल्कि उपासना-पद्धति और कर्मकांडों के कारण आज भी कई बार लोगों को नयी तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जैसे- हिन्दू, रात्रि-जागरण के नाम पर, भगवान की रथ-यात्रा के नाम पर व धर्मग्रंथों के अखंड पाठ आदि कर्मकांडों के नाम पर सड़कों पर जाम व शोरगुल मचाते फिरते हैं। ठीक उसी तरह मुस्लिम भी मुशायरों, मजलिसों, मातम आदि के नाम पर हिन्दुओं का अनुकरण करते हैं। यहाँ पर विडंबना यह नहीं है कि वे ऐसा क्यों करते हैं बल्कि विडंबना तो यह है कि उनके ऐसा करने से लोगों को जो तकलीफ होती है उसका जिम्मेदार कौन है धर्म या उसके मानने वाले। अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर इन सब कर्मकांडों का उद्देश्य क्या है क्योंकि जहाँ तक मैं समझता हूँ कि धर्म हमारी व्यैक्तिक आस्था का विषय होता है। इसीलिए तुलसी ने रघुनाथ गाथा स्वान्तः सुख हेतु रची। जबकि आज जिस प्रकार के कर्मकांड किये जा रहे हैं उससे तो यही जाहिर होता है कि आज धार्मिक कर्मकांडों का उद्देश्य दूसरों को अपनी धार्मिक कट्टरता और धार्मिक उन्माद से अवगत कराना है। तभी एक तरफ मुस्लिम ताजिया निकालने के दौरान अपना जितना खून बहा देते हैं। उतना ही अगर रक्तदान कर दें तो न जाने कितने लोगों की जान बचायी जा सकती है। वहीं दूसरी तरफ हिन्दू श्रद्धा और आस्था के नाम पर लाखों रूपए का जो दूध, दही और घी आदि ना जाने क्या-क्या बहा देते हैं। उसे अगर जरुरतमंदों में बाँट दें तो कितने भूखे पेटों की आग बुझाई जा सकती है। अतः उपासना-पद्धति के सन्दर्भ में मैं यही कहना चाहूँगा कि धर्म और कर्मकांड चूँकि लोगों की मनोवैज्ञानिक आस्था से संबंधित होता है इसलिए उसमें मनोवैज्ञानिक तरीके से परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाना चाहिए। इसके लिए लोगों को उनके धर्म के ही उदाहरण दिए जा सकते हैं, क्योंकि मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर करना।

खान-पान : खान-पान के सन्दर्भ में अभी तक हमने यही सुन रखा था कि भोजन लोगों की अभिरुचियों एवं वातावरणीय देन का परिणाम होता है, लेकिन आजकल भोजन धर्म और राजनीति का प्रतीक बन गया है। यही कारण है कि वर्तमान समय में खान-पान भी धर्मनिरपेक्षता में बाधा उत्पन्न कर रहा है। गौ-रक्षा को हिन्दुओं का जबकि गोकशी को मुस्लिमों का धर्म बताया जा रहा है। ऐसा नहीं है कि हम नहीं जानते कि भारतीय खान-पान कितनी विविधता से भरा है बल्कि

संतों ने धार्मिक विचारों से प्रभावित होकर धार्मिक कुरीतियों को मिटाने की पूरी कोशिश की तत्कालीन परिस्थिति ऐसी थी कि हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्म अपने-अपने खेमे में बँटे हुए थे जिससे सामाजिक बँटवारा हो चुका था जिसके कारण भेदभाव अपने चरम सीमा पर पहुँच गया। धार्मिक बाह्यचार एवं बंधनों में बधे मानव समाज को मुक्त करने के लिए संतों ने संघर्ष किया साधारण समाज अपने ऊपर हो रहे अन्याय अत्याचारों से बचने के लिए मुस्लिम धर्म ग्रहण कर रही थी। वहाँ पर भी धर्म के नाम पर शोषण हो रहा था। तत्कालीन मनुष्य में सामाजिक चेतना जागृत करने का महत्वपूर्ण कार्य संतों ने किया। सामाजिक चेतना समस्त मानव समाज के उन्नति के लिए सहायक सिद्ध हुई है। सबसे पहले समाज में व्याप्त सामाजिक समस्याओं को उठाया फिर अपनी तार्किक बुद्धि के बल पर प्रहार किया। जिससे समाज में व्याप्त जड़ता टूटी भारतीय समाज के वर्ण-विभाजित मूल ढाँचे में आत्मसात करने की शक्ति क्रमशः कम होती गई। कर्मकांड अंधविश्वास, एक विचित्र प्रकार की रूढ़िवादिता हावी हुई जिसे इस्लाम के आगमन के समय समाज निष्क्रिय हो चुका था। "चिंतन और विचार के धरातल पर कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद को यदि भारतीय समाज की दुर्बलताओं में स्वीकार किया जाय तो मध्यकाल का आरंभिक दौर किसी बाहरी प्रहार को झेल पाने में असमर्थ था।"[7] इस प्रकार देश की प्रतिरोधक क्षमता शिथिल थी राष्ट्रीय नेतृत्व का अभाव था और एकता के सूत्र दुर्बल थे।

इतिहासकार रोमिला थापर के शब्दों में "आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक के काल को कभी-कभी अंधकार युग कहा जाता है जब हिन्दुओं की उच्च संस्कृति का हास हुआ और राजनीतिक विश्वशृंखला के फलस्वरूप एक पूर्णतया विदेशी शक्ति को इस उपमहाद्वीप में विजय प्राप्त करने में सुविधा हुई। परन्तु यह अंधकार युग न होकर निर्माणात्मक युग था।"[8]

हिन्दू समाज में जिस चातुर्वर्ण व्यवस्था का बोलबाला था इस व्यवस्था के विरोध में संत रैदास डटकर खड़े रहे। संत रैदास कर्म प्रधान समाज में विश्वास करते थे-

"ब्राह्मण खतरी वैस, सूद रविदास जनम ते नाहि
जौ बाहइ सुवस कउ पावई करमन मांहि"[9]

अर्थात् जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं होता, कर्म से ही महान है कर्म के सम्बन्ध में रैदास ने कहा है-

'जिह्वा से ओकार जप, हत्यन सो कर कार
राम मिलहिं घर भाई कर कह रविदास विचार'

नियम आदि इसके अंतर्गत आते हैं। इसी सन्दर्भ में हम देखतें हैं कि हिन्दू भोजन के मामले में विशेष सावधानी बरतते हैं। वह अलग-अलग बर्तनों में पानी पीना पसंद करते हैं, जबकि मुस्लिमों को एक ही पात्र में पानी पीने में कोई ऐतराज नहीं होता। इसी सन्दर्भ में आंबेडकर साहब अक्सर कहा करते थे कि जिस धर्म में लोग एक बर्तन में पानी पीते हैं उसकी एकता कभी खंडित नहीं हो सकती। इसके साथ-साथ भोजन ग्रहण करते समय हिन्दू रोटी रखने के लिए प्लेट का इस्तेमाल करना पसंद करते हैं जबकि मुस्लिम बांस से बनी डलिया का। इसी प्रकार हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही किन्हीं विशेष अवसरों पर अपने पारंपरिक परिधान पहनना पसंद करते हैं जैसे- हिन्दू धार्मिक कृत्यों में अक्सर धोती-कुरता धारण करते हैं तो मुस्लिमों को अक्सर नमाज के वक्त कुरता-पायजामा और टोपी धारण करे हुए देखा जाता है। हिन्दू और मुस्लिम दोनों के बोलचाल के तरीके का अंतर भी आसानी से स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि हिन्दूओं का झुकाव एक तरफ अधिकतर संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली की ओर होता है तो मुस्लिमों का उर्दू-फारसी की शब्दावली की ओर होता है। इसके अतिरिक्त हिन्दू और मुस्लिम दोनों के शारीरिक स्वच्छता सम्बन्धी नियम अलग-अलग होते हैं। हिन्दूओं में धर्माचार से पूर्व स्नान का विधान है तो मुस्लिमों में ऐसा करना अनिवार्य नहीं है। हिन्दू और मुस्लिमों के रहन-सहन के सन्दर्भ में अब तक जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उनके आधार पर किसी प्रकार की कोई निश्चित टिप्पणी नहीं की जा सकती क्योंकि इंडो-मुस्लिम संस्कृति का घालमेल हुए कई वर्ष बीत चुके हैं जिसकी वजह से दोनों संस्कृतियों का अंतर काफी हद तक मिटा है लेकिन अभी भी कुछ ऐसी दरारें हैं जो स्पष्टतः देखी जा सकती हैं और यही दरारें कई बार धर्मनिरपेक्षता में बाधा उत्पन्न करती हैं। इसलिए हमारे देश के मीडिया और बुद्धिजीवियों की यह नैतिक जिम्मेदारी है कि इन छोटी-छोटी बातों का बखेड़ा ना खड़ा करें कि किसी ने मुस्लिमों के समूह में टोपी क्यों नहीं धारण की। क्योंकि, जहाँ तक मैं समझता हूँ कि वस्त्र कभी किसी धर्म का प्रतिनिधित्व नहीं करते, जिसको बॉलीवुड अभिनेता आमिर खान ने अपनी फिल्म पी.के. में भलीभांति दर्शाने का प्रयास किया है।

जाति-नस्ल : धर्मनिरपेक्षता ही नहीं बल्कि अनेक सन्दर्भों में जाति और नस्ल एक बड़ा व्यवधान उत्पन्न करती है। इस मामले में हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही रक्तशुद्धता पर बल देते हैं। हिन्दू धर्म में अपवादों को छोड़कर जितनी जातियां हैं, प्रायः हर जाति अपनी जाति से बाहर पहले तो रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं करती और अगर कोई ऐसा कर भी ले तो भारतीय समाज उसे हीन दृष्टि से देखता है। हद तो तब हो जाती है जब ऐसा करने पर उसे बिरादरी से बाहर कर दिया जाता है। यहाँ तक कि उसका हुक्का-पानी बंद कर दिया जाता है और तो और उस पर

थी, जिस पर ज्ञान के अक्षर लिखे। संत रैदास निःस्पृह भाव से भारतीय समाज व संस्कृति के पारिष्कार में लगे रहे।

संत रैदास के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति है। व्यक्ति के जीवन के तीन महत्वपूर्ण पक्षों को उन्होंने समझा और उन्हें अपने चिन्तन का अभिन्न अंग बनाया। "एक पक्ष तो भौतिक जीवन है। यह व्यक्ति के जीवन-अस्तित्व की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। दूसरा है सामाजिक जीवन जो एक तरफ व्यक्ति के भौतिक अस्तित्व को सम्भव बनाने में मद्द करता है तो दूसरी तरफ जीवन को सामाजिक सांस्कृतिक प्राणी बनाता है। तीसरा यज्ञ आध्यात्मिक जीवन है। यह व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का मार्ग सुनिश्चित करता है। जिससे उसका परमात्मा से साक्षात्कार सम्भव हो और वह समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाए। रैदास के दर्शन में व्यक्ति का जीवन-सृष्टि, समाज और ईश्वर से जुड़ा हुआ है।"[4]

संत रैदास का दर्शन हिन्दू दर्शन से प्रभावित है, जबकि उनका भौतिक एवं सामाजिक पक्ष बौद्ध दर्शन से प्रभावित है। जो तर्क व अनुभव पर आधारित है। संत रैदास ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल दिया है। कर्मकाण्ड की आलोचना की है। संत रैदास का दर्शन अद्वैतवादी है। वे आत्मा परमात्मा में भेद नहीं मानते उनकी दृष्टि में जीवात्मा ब्रह्मा का ही अंश है। चूंकि ब्रह्मा अविनाशी है इसलिए आत्मा भी अविनाशी है।

ईश्वर भक्ति

मध्यकाल में बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म लुप्तप्राय हो चुके थे उनके तत्त्वज्ञान सिद्धों, नाथों द्वारा संतों तक पहुँच चुका था संत इसका प्रचार प्रसार कर रहे थे। मूल समस्या यह थी कि हिन्दू और मुस्लिम धर्मों के संघर्ष में आम जनता पिस रही थी। इन धर्मों में बाह्याडम्बर की प्रधानता थी, जिसका विरोध मध्य काल के संतों ने किया। हिन्दू धर्म के मूर्तिपूजा, बली प्रथा-व्रत वैकल्य, धर्म की आड़ में हो रहे। सामान्य जनता का शोषण मुस्लिम धर्म की पूजा पद्धति, रोजा नमाज आदि सभी पर संतों ने चोट की है। संत रैदास कहते हैं-

"माधौ, भ्रम कैसे न विलाई, ताथै दुती दरसै आई।
कनक कुटक सुत पट जुदा, रजु भुजंग भ्रम जैसा।
जल तरंग पाहन प्रतिमा ज्यूं, ब्रह्मा जीव दुति ऐसा।"[5]

रैदास ने ईश्वर भक्ति को सर्व दुःखों से मुक्ति का मार्ग माना है। राम की भक्ति ही इस मायारूपी संसार से मुक्ति का माध्य है। भक्ति के बिना सब व्यर्थ है।

एवं अंतर धार्मिक संबंधों का होना अनिवार्य है क्योंकि जब ऐसा होगा तो धर्म गौण जबकि राष्ट्र मुख्य स्वतः बन जायेगा।

धर्मनिरपेक्षता के सन्दर्भ में अब तक जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उनके आधार पर कहा जा सकता है कि विभिन्न धर्मों की अलग-अलग उपासना-पद्धति और कर्मकांड, खान-पान, रहन-सहन तथा जाति और नस्ल आदि के भेद के कारण भारत वास्तव में आज भी पूरी तरह धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र नहीं बन पाया है परन्तु फिर भी ऐसी कौन सी शक्ति है जो भारत को कहीं न कहीं बांधे हुए है। एक दृष्टि हमें उन बन्धनों पर भी डालनी चाहिए जिनकी वजह से भारत बाह्य स्तर पर एक सूत्र में पिरोया हुआ दिखता है। इस सन्दर्भ में हिन्दू और मुस्लिमों की भाषा, साहित्य, कला तथा संस्कृति पर विचार करना अनिवार्य है।

भाषा : भाषा मात्र पारस्परिक संपर्क का साधन ही नहीं है अपितु भाषा किसी भी सभ्यता और संस्कृति का प्रतिबिम्ब होती है। एक तरफ हिन्दू संस्कृति और संस्कृत की उत्तराधिकारिणी के रूप में हिंदी भाषा मुसलमान बादशाहों के शासनकाल में मुहम्मद गोरी से लेकर अकबर तक राजभाषा बनी रही। तत्पश्चात अकबर के गृहमंत्री टोडरमल के आदेश से फारसी को राजभाषा का पद मिला, जिसे ईस्ट इंडिया कम्पनी ने 1833 तक राजभाषा बनाये रखा।[7] वहीं दूसरी तरफ इस्लाम की पवित्र भाषा अरबी थी, जो आरंभिक आक्रमणकारियों की मातृभाषा थी बाद के हमलावर अरबी से प्रभावित और परिष्कृत तुर्की और फारसी बोलते थे। अरबी तो धार्मिक भाषा बनी रही और मुस्लिम युग में फारसी दरबारी भाषा बन गयी। इसलिए प्रशासनिक पदों के इच्छुक हिन्दू और मुसलमान दोनों ही फारसी पढ़ने लगे। परन्तु यह जन साधारण की भाषा नहीं बन सकी और मुसलमान जनता की भी नहीं भारत में धर्म परिवर्तित मुसलमानों की संख्या बहुत बढ़ी थी जिनके लिए धर्म बदल लेना तो आसान था परन्तु भाषा का बदलना सरल काम नहीं था। आवश्यकतानुसार अरबी और फारसी को स्थानीय भाषाओं से मिलना पड़ा परिणामस्वरूप उर्दू बनी जो उत्तरी भारत में बोली जाती है और आजकल पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा है। फारसी और हिंदी का मिला-जुला रूप उर्दू, इंडो-इस्लामी मेल का एक बढ़िया नमूना है। एक सम्मिलित भाषा का उद्‌गगम दोनों धर्मों में बढ़ती हुई घनिष्ठता का और भविष्य में आपसी समझदारी कायम करने का सूचक है।[8] इस तथ्य से यह प्रमाणित करने में किंचित भी संदेह नहीं रह जाता कि भारत ही एक ऐसा देश है जिसमें किसी भी संस्कृति को स्वयं में आत्मसात करने की सामर्थ्य है। इसके अतिरिक्त हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की एकता का एक कारण यह भी है कि इस समय के संतो, सूफियों और कवियों ने उर्दू और हिंदी दोनों भाषाओं में अपने विचारों को अभिव्यक्त किया, जिसमें अमीर खुसरो, रहीम खानखाना और मलिक मोहम्मद जायसी प्रमुख

संत रैदास की सामाजिक चेतना

संजय कुमार

भक्तिकाल भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण परिघटना है। भक्तिकाल की व्यापकता किसी एक भाषा व देश तक सीमित नहीं है। यह एक अखिल भारतीय सामाजिक चेतना है। यह चेतना गहरे तनाव और संघर्ष का परिणाम था। मुक्तिबोध ने दक्षिण भारत और उत्तर भारत के निर्गुण-मत-विरोधि शक्तियों की समानता की तरफ इशारा करते हुए लिखा है, "भक्ति आन्दोलन के प्रारम्भिक चरण में निम्न वर्गीय तत्त्व सर्वाधिक सक्षम और प्रभावशाली थे। दक्षिण भारत के कट्टरपन्थी तत्व जो कि तत्कालीन हिन्दू सामन्ती वर्गों के समर्थक थे, इस निम्नवर्गीय सांस्कृतिक जन चेतना के एक दम विरुद्ध थे। वे उन पर तरह-तरह के अत्याचार भी करते रहे। मुस्लिम तत्त्वों से मार खाकर भी, हिन्दू सामन्ती वर्ग, उनसे समझौता करने की विवशता स्वीकार कर उनसे एक प्रकार से मिल हुए थे उत्तर भारत में हिन्दुओं के कई वर्गों का पेशा ही मुस्लिम वर्गों की सेवा करता था।"[1]

मुस्लिम सत्ता स्थापित हो जाने पर हिन्दू सामंती तत्व मुसलमान सामंती तत्वों से छिटककर नहीं रह सके। लूट-पाट, नोच-खसोट के उस युग में, जनता की आर्थिक-सामाजिक स्थिति गम्भीर थी। निम्नवर्गीय जातियाँ सन्तों की निर्गुण वाणी का, तत्कालीन मतों के अनुसार, क्रान्तिकारी सुधारवादी स्वर, इस्लामी सत्ता स्थापित हो जाने पर आत्मरक्षा के अतिरिक्त कुछ और सोचना सम्भव नहीं था। परिणामस्वरूप अलग-अलग जातियों में बँटा भारतीय समाज बिखरा हुआ था। इस्लाम के पूर्व जो भी आक्रान्ता आये वे भारतीय समाज में विलीन हो गये, किन्तु इस्लाम ने भारतीय समाज में विलीन होने की जगह उसे इस्लामी समाज में बदलने की चुनौती रची। पराजित हिन्दू जनता मुस्लिम शासकों के अधीन हो गये। राजाश्रय समाप्त होने की दशा में समाज के बौद्धिक नेतृत्व की कोई अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। ऐसे में हताश व निराश लोगों को बिखरने से बचाने के लिए समाज में संतों का उदय हुआ। संतों के पास केवल तार्किक ज्ञान व अनुभव तथा ईश्वर का ही सहारा था जिसे पाने के लिए उन्होंने निर्गुण भक्ति मार्ग का अनुसरण किया।

का ज्ञान था। इसके अतिरिक्त जायसी ने पद्मावत हेतु अवधि भाषा का चयन करके ये भी साबित किया कि उस समय धर्मनिरपेक्षता लोगों के कितने गहरे उतर चुकी थी। इसी प्रकार बाबा फरीद भी कबीर की भांति आत्मसंतोष, संयम तथा धैर्य की बातें करते हुए कहते हैं-

"रूखी सुखी खाई कै ठंडा पाणी पीउ
फरीदा देखि पराई चोपड़ी न तरसाए जीउ।"[14]

बाबा फरीद प्राणीमात्र को यह शिक्षा देते हैं कि हमें अन्य लोगों की धन, संपत्ति व तरक्की पर ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए बल्कि हमारे पास जो भी जितना कुछ है उसी में संतुष्ट रहना चाहिए। क्योंकि जब हम अपने से ज्यादा औरों की फिक्र करते हैं तो हमारा मन-मस्तिष्क केवल उनकी निंदा में लगा रहता है जिससे समय ही नष्ट होता है होता कुछ नहीं। इसलिए बेहतर है अगर चिंतन करना है तो अपनी कमियों पर करें न कि दूसरों की कमियों पर। इसी सन्दर्भ में बुल्ले शाह की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

"ऐसा जगिआ ज्ञान पलीता
ना हम हिन्दू ना तुर्क जरुरी,
नाम इशक दी है मनजूरी,
आशक ने हरि जीता,
ऐसा जागिआ ज्ञान पलीता"[15]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुल्ले शाह सीधे-सपाट शब्दों में कहते हैं कि हिन्दू और मुस्लिम होने से कहीं जरुरी है एक अच्छा इंसान होना। वे कहते हैं कि यह जरुरी नहीं है कि आप किस धर्म से ताल्लुक रखते हैं और आपको कितना ज्ञान है बल्कि जरुरी यह है कि आपमें उस ईश्वर के नाम की लगन कितनी है क्योंकि उस खुदा को लगन से ही जीता जा सकता है।

अतः धर्मनिरपेक्ष साहित्य के सन्दर्भ में अब तक जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उनके आधार पर कहा जा सकता है कि मध्यकाल में हिन्दू और मुस्लिम साहित्य का एक दूसरे पर प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा था जिसका प्रमाण सूफियों के साहित्य में हरि जैसे शब्दों का प्रयोग है। इसके अतिरिक्त सूफी एवं संतो दोनों का एक-दूसरे के धर्म पर खुलकर विचार रख पाना अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का बेहतरीन नमूना है। यही वजह है कि हिंदी साहित्य के इतिहास में मध्यकाल को स्वर्णयुग कहा जाता है।

कला : भारतीय और इस्लामी संस्कृति के मेल से एक प्रकार कि रचनात्मक शक्ति उत्पन्न हुई, जिससे कला के क्षेत्र में और भी अच्छे परिणाम निकले। अरब,

आचरण वह करेगा। इसी प्रकार साहित्यकार की किसी कृति का जो उद्देश्य या प्रयोजन होगा उसी के अनुसार ही उसमें जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा होगी। "कवि के काव्य का उद्देश्य जैसा की हम कह चुके हैं कि कवि द्वारा आभ्यन्तरीकृत जीवन मूल्यों से नियमित निर्धारित होता है और उसके जीवन मूल्यों का स्फुरण उसके द्वारा अपने लिए अपनाई गई जीवन मूल्य पद्धति से होता है, जो कवि देश, जाति, और धर्म, की संकुचित सीमाओं से जितना उपर उठ जायेगा, उसकी ख्याति उतनी ही व्यापक होगी। तुलसीदास इस कसौटी पर भी खरे उतरते हैं।"[11]

लेकिन आज के वर्तमान समय में मानव मूल्यों को पुनः उद्घटित किया जाये तो हम देखते है कि आज मानव मूल्यों के विघटित होने का सबसे बड़ा कारण वर्तमान समाज में तर्क की प्रधानता एवं विश्वास की कमी है। आज के मनुष्यों में आत्मवाद कर्मवाद, लोक-परलोकवाद, पुर्नजन्मवाद, श्रुति-स्मृति, सांस्कृतिक, परंपराएँ, सामाजिक प्रथाएँ आदि हमारे समाज के विविध जीवन मूल्यों के सशस्त्र मूल स्त्रोत रहे है। आज वैज्ञानिक और प्रौधोगिक क्रान्ति ने मानव के न केवल भौतिक उपादानों एवं साधनों को बदल दिया है, अपितु उसकी मानसिक प्रवृत्तियों को भी परिवर्तित कर दिया है। इससे मानव अपने नैतिक जीवन से विचलित हो गया है। प्राचीन मूल्यों के प्रति उसकी आस्था हिल सी गई है और उसकी मान्यताएँ विखर गयी है। वह बुद्धि, तर्क एवं भौतिक उपयोगिता को ही प्रमाण मानने लगा है। ऐसी स्थिति में आस्था का कम होना सहज एवं स्वाभाविक है। वह तर्क व्यवहार, सुविधा एवं उपयोगिता के आधार पर अपनी जीवन शैली का निर्माण करना चाहता है इसीलिये जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसने सन्देह, तर्क एवं प्रश्न प्रारंभ कर दिया हैं, जिससे परम्परिक मानव मूल्यों का क्षरण होना स्वाभाविक है।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob,-9691377634
E-mail-ajjubisani@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. प्रेमशंकर, भक्तिकाव्य का समाजदर्शन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं. 50
2. वही, पृ. सं. 09
3. शिव कुमार मिश्र, भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. 29
4. वही, पृ. सं. 20
5. वही, पृ. सं. 3

3. संगीत कला : भारतीय संगीत का आधार स्तम्भ वेद ग्रन्थ हैं, जिनमें मन्त्रों को गाकर उच्चरित किया जाता था। इसी तरह से बाद में राजाओं का यश गान, विभिन्न ऋतुओं के गीत, शादी-विवाह के गीत तथा मानव-जीवन के जन्म, मुंडन, छठी आदि अवसरों पर गाये जाने वाले गीतों की एक समृद्ध परम्परा प्रारंभ से ही इस देश में मौजूद थी जिसके कारण आज भी भारतीय संगीत को विश्व भर में उच्च कोटि का संगीत माना जाता है। मुस्लिमों के आगमन के पश्चात उनका भारतीय संगीत से प्रभावित होना स्वाभाविक था। इसीलिए अलाउद्दीन खिलजी के बारे में कहा जाता है कि उसने विजय नगर के दरबार से प्रसिद्ध संगीतज्ञ गोपाल नायक को अपने यहाँ बुलवाया था। इसी तरह से सिकंदर लोदी को भी संगीत से बड़ा प्रेम था उसी के राज्य काल में फारसी में संगीत का पहला ग्रन्थ लहजत-ए-सिकंदर शाही लिखा गया। इसकी रचना उम्र याहिया ने की जो अरबी, फारसी और संस्कृत का विद्वान था। लहजत, संस्कृत में लिखे संगीत के ग्रंथो जैसे- संगीत रत्नाकर और संगीत कल्पतरु पर आधारित है[19] इस काल में भारतीय संगीत में कुछ नये तत्त्वों का सम्मिश्रण हुआ, जिसके परिणामस्वरुप अमीर खुसरो ने कुछ नये रागों का सृजन किया जिसका उल्लेख 15वीं एवं 16वीं सदी में लिखे गये ग्रन्थ राग दर्पण में मिलता है-

"मुजीर, सरपर्द बसीट गजन तराना
ऐमन फिरोदस्त सुहिल फरगान निगार
मुवाफिक कौल साजगारी बारवर्ज शाहान
जिलाफ ख्याल उश्साक मुनम।"[20]

अतः इस तरह से मुगलकाल में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के मेल से जिस संगीत का जन्म हुआ। उसे राजनीतिक और धार्मिक मतभेद बिलकुल भी प्रभावित नहीं कर सके। यही कारण है कि आज भी भारतीय संगीतकला हिन्दू और मुसलमान दोनों की अपनी निधि बनी हुई है।

4. नृत्यकला : ललित कला का एक अन्य पहलू नृत्य भी है जिसे हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर विकसित किया है। इसकी कथक शैली मुस्लिम योगदान से बनी है, जो सदियों से उत्तरी भारत में छाई हुई है। इसमें नर्म और नाजुक स्वर हैं और स्त्री-पुरुष नर्तक वह पोशाक पहनते हैं, जो पश्चमी मुसलमान देशों में पहनी जाती थी। गहरे रंग और चमकदार, सुनहरे और रुपहले कपड़े, कसी कमीज, पाजामा और पतला टुपट्टा और चुन्नरदार कुरते से शरीर के सभी अंग उभर उठते हैं और यह पोशाक मधुर गुंजायमान और हल्के प्रवाहमान स्वरों से मेल खाती है।[21]

5. संस्कृति : हिन्दुओं में प्रचलित संस्कारों एवं प्रथाओं का मुसलमानों पर भी प्रभाव पड़ा, जिसने हिन्दू-मुस्लिम एकता और भाईचारे की कई मिशाले कायम

जोड़ता है, कही वह सामाजिक मूल्य है तो कहीं सामाजिक कर्तव्य, लेकिन उसका सबसे उत्कृष्ट और आवेगमय रूप स्त्री-पुरूष के प्रेम में मिलता है। इसलिए माधुर्य भाव भक्ति की अनुभूति का आदर्श है।''[7]

उपरोक्त सभी मतों का विश्लेषण करे तो हम पाते है कि विदेशी प्रभाव संबंधी व्याख्या तो प्रायः अस्वीकार्य हैं, किंतु शेष सभी व्याख्याएँ कहीं न कहीं आंशिक रूप से ठीक है। कोई भी जटिल सांस्कृतिक घटना वस्तुतः किसी एक कारण से जन्म नहीं लेती उसकी व्याख्या बहुसूत्रीय पद्धति से ही हो सकती है, सच यह है कि सिद्धो-नाथों को शुष्क धार्मिक परंपरा में सरसता की आवश्यकता बनी हुई थी यह भी सच है कि इस्लाम के आगमन के कारण उच्च वर्ग का हिन्दू समाज हताशा-निराशा के दौरे से गुजर रहा था। पुनः दिल्ली सल्तनत की स्थापना ने जो राजनीतिक स्थिरीकरण और अवर्णों की आर्थिक स्थिति में सुधार किया वह भी इस आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण कारण हैं इसलिये भक्ति आन्दोलन अपने इतिहास, आर्थिक स्थितियों और जनता की चितवृत्ति की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं से उपजा हुआ आन्दोलन हैं न कि किसी एक कारण से यही भक्ति की अवधारणा है।

मानव मूल्य मनुष्य अपने पूर्वजन्म और माता-पिता और समाज के वातावरण आदि से ग्रहण करता है और विशेष संस्कार उसके साथ अभिन्न रूप से जुड़े होते है और उन्हीं संचित संस्कारों के अनुरूप मनुष्य अपने चारों ओर व्याप्त संसार तथा जीवन परिस्थितियों से अपने जीवन मूल्यों को विश्व में खोज कर अपने व्यक्तित्व का निर्माण ज्ञात-अज्ञात रूप में करता है और वहीं उसका जीवन संस्कार होता है। इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों का उनके अहम 'मैं' उनके परिवारिक संस्कारों, रूचियों तथा स्वाभावों का द्योतक होने के लिए एक साहित्यकार जिस अन्तर्मन के संसार में रहता है एक राजनीतिक उसमें नहीं रहता है उनका संसार मुख्यतः वर्तमान बाह्य वास्तविकता का संसार परिवर्तित होता रहता है। उसी प्रकार एक समाज सेवी या व्यापारी का भी अपना पृथक संसार होता है यही बात अध्यापक, विधार्थी, वकील, चिकित्सक, अभियन्ता आदि के विषय में कही जा सकती हैं अपने-अपने संस्कारों एवं परिवेश से इनका अपना-अपना संसार बनता है। परिवेश और संस्कारों के वैविध्य से उनके जीवन मूल्य भी पृथक-पृथक हो सकते है।

मानव मूल्यों की संसारिक प्रतिवद्धता होती है। जो ''मानव मूल्यविमर्श, मूल्य परिभाषा, मूल्य बोध, मूल्य परिवर्तन मानवीय जीवन के स्थाई अंग है।''[8]

अतः आधुनिक मूल्यों की व्यंजना के लिए काव्य नाटकों को एक प्रखर माध्यमों के रूप में चुना गया है जो न केवल मानव मूल्यों को उद्घाटित करते हैं बल्कि पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों में मूल्यों कि पुर्नवृत्ति या पुर्नसृजन करते

9. त्यौहार : मध्यकालीन समय में शिव का व्रत अर्थात शिवरात्रि बड़े आदर और सम्मान के साथ मनाई जाती थी। यह व्रत अपने पापों को समाप्त करने तथा अरमानों को पूरा करने के लिए रखा जाता था। इसी की तर्ज पर मुस्लिमों ने शबेबारात मनाना शुरू किया[26], जिसमें वे भी हिन्दुओं की भांति रात्रिजागरण और आतिशबाजी करने लगे। इसी प्रकार बादशाह अकबर हिन्दू और मुस्लिम के बीच धार्मिक सद्भावना बढ़ाने के लिए रक्षाबंधन, गोवर्धन-पूजा दशहरा आदि में भी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया करता था।

10. लोक-विश्वास : मध्यकाल में अनेक प्रकार के लोक-विश्वास प्रचलित थे, जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्गों का अटूट विश्वास था। हिन्दुओं में मछली देखना, स्त्री के सिर पर पानी भरा हुआ घड़ा देखना आदि शुभ शकुन समझा जाता था। छींक से भी हिन्दू शकुन-अपशकुन का विचार करते थे। इसी प्रकार मुस्लिम भी नजर लगने के अंध विश्वास में विश्वास करते थे। इसी कारण शासक के सिर के ऊपर से सोने-चांदी, हीरे-जवाहरात, मोती-माणिक आदि से भरी थाली अनेक बार फिराने के बाद उसे गरीबों में बाँट देते थे। इस तरह से पता चलता है कि दोनों संस्कृतियों में सुलभता से कई संस्कारों, परम्पराओं और प्रथाओं का आदान-प्रदान हुआ, जिसने एक धर्मनिरपेक्ष भारत-निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

धर्मनिरपेक्षता के सन्दर्भ में अब तक जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उसके आधार पर कहा जा सकता है कि भारत एक ऐसा देश है जहाँ पर बहुतायत में धार्मिक विभिन्नता है और हर धर्म की अपनी अलग-अलग मान्यताएं एवं अवधारणाएं हैं। एक तरफ मध्यकाल से लेकर वर्तमान समय तक धर्मनिरपेक्षता को बनाये रखने के लिए श्रेष्ठ लोगों द्वारा समय-समय पर प्रयास किये जाते रहे हैं तो वहीं दूसरी तरफ कुछ अराजक तत्त्वों द्वारा हर समय उसे खंडित करने का प्रयास भी किया जाता रहा है। हिन्दू और मुस्लिमों की भिन्न-भिन्न उपासना-पद्धति और कर्मकांड, रहन-सहन, खान-पान, जाति और नस्ल-भेद के कारण भारत आज भी पूर्णरूपेण धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र नहीं बन पा रहा है, परन्तु जब हम मध्यकालीन अतीत के आईने में देखते हैं तो पता चलता है कि हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति एवं सभ्यता के समन्वय ने बहुत पहले ही धर्मनिरपेक्षता की एक अनूठी मिशाल खड़ी कर दी थी। दोनों सभ्यताओं के साहित्य, संगीत, कला, भाषा तथा संस्कृति आदि ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। आज जो कुछ भी धर्मनिरपेक्षता हमारे देश में विद्यमान है उसका आधार कहीं न कहीं भारतीय इतिहास का मध्यकाल ही है। अतः आज भी धर्मनिरपेक्षता के सन्दर्भ में हमें मध्यकाल से प्रेरणा लेने की महती आवश्यकता है।

धर्मनिरपेक्षता के सन्दर्भ में विचार-विमर्श : धर्मनिरपेक्षता को व्यापक अर्थों में समझने के लिए उसे वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखना अनिवार्य है क्योंकि आज भी

भक्ति : अवधारणा और मानव-मूल्य

अजय कुमार चौधरी

भक्ति की अवधारणा हमारे आस्था और विश्वास से जुड़ा हुआ शब्द है अतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति की अत्यंत सारगर्भित परिभाषा अपनी सूत्र शैली में इस प्रकार दी है कि "भक्ति धर्म का रसात्मक रूप है।" वस्तुतः धर्म के भीतर ईश्वर या अलौकिक सत्ता के साथ संबंध स्थापित करने की चार प्रमुख प्रणालियाँ या पद्धतियाँ मानी गयी है- ज्ञान, कर्म, योग, तथा भक्ति जहाँ तक 'ज्ञानमार्ग' का प्रश्न है वह न केवल नीरस व शुष्क है बल्कि अत्यन्त सूक्ष्म तथा जटिल होने के कारण विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित है, यहीं कारण है कि शंकराचार्य द्वारा ज्ञानमार्ग की स्थापना के बावजूद लोक जीवन में उसे पूर्ण स्वीकृति कभी नहीं मिली। 'योगमार्ग' शारीरिक स्थापना पर आधारित है जो शुष्क किया प्रधान होने के कारण नीरस है। पुनः इसमें कठिनाईयों के कारण यह भी एक वर्ग तक ही सीमित हैं जो कठोर शारीरिक अनुशासन तथा निगमन में समर्थ है। 'कर्मयोग' का अर्थ है बाह्य विधि विधान कर्मकाण्ड, अडम्बर, देशातन, तीर्थाटन इत्यादि करने में है। यह मार्ग वोधगम्यता की दृष्टि से सरल है और सर्वजन सुलभ भी हैं। किंतु इसमें भी वह रसात्मकता नहीं पाई जाती जो भक्ति में है। परंतु इसके अतिरिक्त आर्थिक रूप से वंचित वर्ग के लिए यह मार्ग हमेशा कठिन माना जाता है। 'भक्तिमार्ग' धर्म का रसात्मक रूप है क्योंकि यह बुद्धि शरीर या अन्य क्रियाओं पर आधारित न होकर यह मनुष्यों की भावनाओं, आस्था और विश्वासों पर आधारित है। ईश्वर विषयक आनंद के भाव कि अभिव्यक्ति ही भक्ति है। स्पष्ट है कि भक्ति न केवल सर्वजन सुलभ है बल्कि सर्वाधिक मार्मिक और प्रासांगिक भी है। यहीं कारण है कि लोक जीवन में जब धर्म ने आन्दोलन का रूप लिया तो उसका माध्यम भक्ति ही बनी, न कि ज्ञान, योग या कर्म।

"भक्ति का प्रस्थान भागवत है जिसे प्रस्थानत्रयी ब्रह्मसूत्र, उपनिषद, गीता के क्रम में चतुर्थ प्रस्थान कहा गया जिसके मौखिक रूप ने छठी-नौवीं शताब्दी के बीच

संदर्भ ग्रंथ :

1. सुषमा यादव, धर्मनिरपेक्षता और भारतीय परम्परा, नार्दर्न बुक सेंटर, नयी दिल्ली, संस्करण- 1981, पृष्ठ सं.04
2. उपरोक्त, पृष्ठ सं.05
3. के.एम. मुंशी, आल इंडिया कोलोक्वियम आन स्प्रिचुअल एंड एथिकल वेल्यूज एज द बेसिस नेशनल इंटीग्रेशन, रिकॉर्ड आफ प्रसिडिंग्स बम्बई, भारतीय विद्या भवन, 1967, पृष्ठ सं.130 (रूस और चीन के संविधान की प्रासंगिक धाराओं में इस तर्क की पुष्टि हेतु प्रमाण प्राप्त हैं)
4. संचालक- श्रीनिवास सेन, मूलनिवासी जागृति संवाद पत्रिका, मूलनिवासी चेतना मंच, दिसंबर- 2012, पृष्ठ सं.07
5. मौलाना मुहम्मद फारुक खां, अनूदित कुरान मजीद (हिंदी अनुवाद) एरिच डेकोर, मुंबई-400008, पृष्ठ सं.164-165
6. उपरोक्त, पृष्ठ सं.127
7. संपादक- गुलाब मिश्र, हिंदी समाधान, ऋषिकुल प्रकाशन इलाहबाद, संस्करण- मई-2015, पृष्ठ सं.9
8. सिंहल दामोदर, आधुनिक भारतीय समाज एवं संस्कृति, नयी दिल्ली, 1981, पृष्ठ सं. 17-18
9. परमानन्द लाल श्रीवास्तव, हिन्दू-मुस्लिम सद्भाव, रिसर्च पब्लिकेशन,नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-1997, पृष्ठ सं.105-106
10. उपरोक्त, पृष्ठ सं.105
11. संपादक- श्री राकेश, जायसी ग्रंथावली पद्मावत, प्रकाशक केंद्र- डालीगंज लखनऊ, पृष्ठ सं.181
12. उपरोक्त, पृष्ठ सं.180
13. उपरोक्त, पृष्ठ सं.184
14. संपादक- नामवर सिंह, बाबा फरीद, नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ पंजाब स्टडीज, प्रथम संस्करण- 2003, पृष्ठ सं.34
15. संपादक- नामवर सिंह, बुल्ले शाह की काफियां, नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ पंजाब स्टडीज, प्रथम संस्करण- 2003, पृष्ठ सं.25
16. सिंहल दामोदर, आधुनिक भारतीय समाज एवं संस्कृति, नयी दिल्ली, 1981, पृष्ठ सं. 19
17. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, मुगलकालीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1990, पृष्ठ सं. 213
18. रामनाथ, मध्यकालीन भारतीय कलाएं और उनका विकास, जयपुर, 1973, पृष्ठ सं.10

संदर्भ ग्रंथ :

1. सुषमा यादव, धर्मनिरपेक्षता और भारतीय परम्परा, नार्दर्न बुक सेंटर, नयी दिल्ली, संस्करण- 1981, पृष्ठ सं.04
2. उपरोक्त, पृष्ठ सं.05
3. के.एम. मुंशी, आल इंडिया कोलोक्वियम आन स्प्रिचुअल एंड एथिकल वेल्यूज एज द बेसिस नेशनल इंटीग्रेशन, रिकॉर्ड आफ प्रसिडिंग्स बम्बई, भारतीय विद्या भवन, 1967, पृष्ठ सं.130 (रूस और चीन के संविधान की प्रासंगिक धाराओं में इस तर्क की पुष्टि हेतु प्रमाण प्राप्त हैं)
4. संचालक- श्रीनिवास सेन, मूलनिवासी जागृति संवाद पत्रिका, मूलनिवासी चेतना मंच, दिसंबर- 2012, पृष्ठ सं.07
5. मौलाना मुहम्मद फारुक खां, अनूदित कुरान मजीद (हिंदी अनुवाद) एरिच डेकोर, मुंबई-400008, पृष्ठ सं.164-165
6. उपरोक्त, पृष्ठ सं.127
7. संपादक- गुलाब मिश्र, हिंदी समाधान, ऋषिकुल प्रकाशन इलाहबाद, संस्करण- मई-2015, पृष्ठ सं.9
8. सिंहल दामोदर, आधुनिक भारतीय समाज एवं संस्कृति, नयी दिल्ली, 1981, पृष्ठ सं. 17-18
9. परमानन्द लाल श्रीवास्तव, हिन्दू-मुस्लिम सद्भाव, रिसर्च पब्लिकेशन,नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण-1997, पृष्ठ सं.105-106
10. उपरोक्त, पृष्ठ सं.105
11. संपादक- श्री राकेश, जायसी ग्रंथावली पद्मावत, प्रकाशक केंद्र- डालीगंज लखनऊ, पृष्ठ सं.181
12. उपरोक्त, पृष्ठ सं.180
13. उपरोक्त, पृष्ठ सं.184
14. संपादक- नामवर सिंह, बाबा फरीद, नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ पंजाब स्टडीज, प्रथम संस्करण- 2003, पृष्ठ सं.34
15. संपादक- नामवर सिंह, बुल्ले शाह की काफियां, नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ पंजाब स्टडीज, प्रथम संस्करण- 2003, पृष्ठ सं.25
16. सिंहल दामोदर, आधुनिक भारतीय समाज एवं संस्कृति, नयी दिल्ली, 1981, पृष्ठ सं. 19
17. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, मुगलकालीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1990, पृष्ठ सं. 213
18. रामनाथ, मध्यकालीन भारतीय कलाएं और उनका विकास, जयपुर, 1973, पृष्ठ सं.10

भक्ति : अवधारणा और मानव-मूल्य

अजय कुमार चौधरी

भक्ति की अवधारणा हमारे आस्था और विश्वास से जुड़ा हुआ शब्द है अतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति की अत्यंत सारगर्भित परिभाषा अपनी सूत्र शैली में इस प्रकार दी है कि "भक्ति धर्म का रसात्मक रूप है।" वस्तुतः धर्म के भीतर ईश्वर या अलौकिक सत्ता के साथ संबंध स्थापित करने की चार प्रमुख प्रणालियाँ या पद्धतियाँ मानी गयी है- ज्ञान, कर्म, योग, तथा भक्ति जहाँ तक 'ज्ञानमार्ग' का प्रश्न है वह न केवल नीरस व शुष्क है बल्कि अत्यन्त सूक्ष्म तथा जटिल होने के कारण विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित है, यहीं कारण है कि शंकराचार्य द्वारा ज्ञानमार्ग की स्थापना के बावजूद लोक जीवन में उसे पूर्ण स्वीकृति कभी नहीं मिली। 'योगमार्ग' शारीरिक स्थापना पर आधारित है जो शुष्क क्रिया प्रधान होने के कारण नीरस है। पुनः इसमें कठिनाईयों के कारण यह भी एक वर्ग तक ही सीमित हैं जो कठोर शारीरिक अनुशासन तथा निगमन में समर्थ है। 'कर्मयोग' का अर्थ है बाह्य विधि विधान कर्मकाण्ड, अडम्बर, देशातन, तीर्थाटन इत्यादि करने में है। यह मार्ग वोधगम्यता की दृष्टि से सरल है और सर्वजन सुलभ भी हैं। किंतु इसमें भी वह रसात्मकता नहीं पाई जाती जो भक्ति में है। परंतु इसके अतिरिक्त आर्थिक रूप से वंचित वर्ग के लिए यह मार्ग हमेशा कठिन माना जाता है। 'भक्तिमार्ग' धर्म का रसात्मक रूप है क्योंकि यह बुद्धि शरीर या अन्य क्रियाओं पर आधारित न होकर यह मनुष्यों की भावनाओं, आस्था और विश्वासों पर आधारित है। ईश्वर विषयक आनंद के भाव कि अभिव्यक्ति ही भक्ति है। स्पष्ट है कि भक्ति न केवल सर्वजन सुलभ है बल्कि सर्वाधिक मार्मिक और प्रासांगिक भी है। यहीं कारण है कि लोक जीवन में जब धर्म ने आन्दोलन का रूप लिया तो उसका माध्यम भक्ति ही बनी, न कि ज्ञान, योग या कर्म।

"भक्ति का प्रस्थान भागवत है जिसे प्रस्थानत्रयी ब्रह्मसूत्र, उपनिषद, गीता के कम में चतुर्थ प्रस्थान कहा गया जिसके मौखिक रूप ने छठी-नौवीं शताब्दी के बीच

9. त्यौहार : मध्यकालीन समय में शिव का व्रत अर्थात शिवरात्रि बड़े आदर और सम्मान के साथ मनाई जाती थी। यह व्रत अपने पापों को समाप्त करने तथा अरमानों को पूरा करने के लिए रखा जाता था। इसी की तर्ज पर मुस्लिमों ने शबेबारात मनाना शुरू किया[26], जिसमें वे भी हिन्दुओं की भांति रात्रिजागरण और आतिशबाजी करने लगे। इसी प्रकार बादशाह अकबर हिन्दू और मुस्लिम के बीच धार्मिक सद्भावना बढ़ाने के लिए रक्षाबंधन, गोवर्धन-पूजा दशहरा आदि में भी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया करता था।

10. लोक-विश्वास : मध्यकाल में अनेक प्रकार के लोक-विश्वास प्रचलित थे, जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्गों का अटूट विश्वास था। हिन्दुओं में मछली देखना, स्त्री के सिर पर पानी भरा हुआ घड़ा देखना आदि शुभ शकुन समझा जाता था। छींक से भी हिन्दू शकुन-अपशकुन का विचार करते थे। इसी प्रकार मुस्लिम भी नजर लगने के अंध विश्वास में विश्वास करते थे। इसी कारण शासक के सिर के ऊपर से सोने-चांदी, हीरे-जवाहरात, मोती-माणिक आदि से भरी थाली अनेक बार फिराने के बाद उसे गरीबों में बाँट देते थे। इस तरह से पता चलता है कि दोनों संस्कृतियों में सुलभता से कई संस्कारों, परम्पराओं और प्रथाओं का आदान-प्रदान हुआ, जिसने एक धर्मनिरपेक्ष भारत-निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

धर्मनिरपेक्षता के सन्दर्भ में अब तक जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उसके आधार पर कहा जा सकता है कि भारत एक ऐसा देश है जहाँ पर बहुतायत में धार्मिक विभिन्नता है और हर धर्म की अपनी अलग-अलग मान्यताएं एवं अवधारणाएं हैं। एक तरफ मध्यकाल से लेकर वर्तमान समय तक धर्मनिरपेक्षता को बनाये रखने के लिए श्रेष्ठ लोगों द्वारा समय-समय पर प्रयास किये जाते रहे हैं तो वहीं दूसरी तरफ कुछ अराजक तत्त्वों द्वारा हर समय उसे खंडित करने का प्रयास भी किया जाता रहा है। हिन्दू और मुस्लिमों की भिन्न-भिन्न उपासना-पद्धति और कर्मकांड, रहन-सहन, खान-पान, जाति और नस्ल-भेद के कारण भारत आज भी पूर्णरूपेण धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र नहीं बन पा रहा है, परन्तु जब हम मध्यकालीन अतीत के आईने में देखते हैं तो पता चलता है कि हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति एवं सभ्यता के समन्वय ने बहुत पहले ही धर्मनिरपेक्षता की एक अनूठी मिशाल खड़ी कर दी थी। दोनों सभ्यताओं के साहित्य, संगीत, कला, भाषा तथा संस्कृति आदि ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। आज जो कुछ भी धर्मनिरपेक्षता हमारे देश में विद्यमान है उसका आधार कहीं न कहीं भारतीय इतिहास का मध्यकाल ही है। अतः आज भी धर्मनिरपेक्षता के सन्दर्भ में हमें मध्यकाल से प्रेरणा लेने की महती आवश्यकता है।

धर्मनिरपेक्षता के सन्दर्भ में विचार-विमर्श : धर्मनिरपेक्षता को व्यापक अर्थों में समझने के लिए उसे वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखना अनिवार्य है क्योंकि आज भी

जोड़ता है, कही वह सामाजिक मूल्य है तो कहीं सामाजिक कर्तव्य, लेकिन उसका सबसे उत्कृष्ट और आवेगमय रूप स्त्री-पुरूष के प्रेम में मिलता है। इसलिए माधुर्य भाव भक्ति की अनुभूति का आदर्श है।''[7]

उपरोक्त सभी मतों का विश्लेषण करे तो हम पाते है कि विदेशी प्रभाव संबंधी व्याख्या तो प्रायः अस्वीकार्य हैं, किंतु शेष सभी व्याख्याएँ कहीं न कहीं आंशिक रूप से ठीक है। कोई भी जटिल सांस्कृतिक घटना वस्तुतः किसी एक कारण से जन्म नहीं लेती उसकी व्याख्या बहुसूत्रीय पद्धति से ही हो सकती है, सच यह है कि सिद्धो-नाथों को शुष्क धार्मिक परंपरा में सरसता की आवश्यकता बनी हुई थी यह भी सच है कि इस्लाम के आगमन के कारण उच्च वर्ग का हिन्दू समाज हताशा-निराशा के दौरे से गुजर रहा था। पुनः दिल्ली सल्तनत की स्थापना ने जो राजनीतिक स्थिरीकरण और अवर्णों की आर्थिक स्थिति में सुधार किया वह भी इस आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण कारण हैं इसलिये भक्ति आन्दोलन अपने इतिहास, आर्थिक स्थितियों और जनता की चितवृत्ति की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं से उपजा हुआ आन्दोलन हैं न कि किसी एक कारण से यही भक्ति की अवधारणा है।

मानव मूल्य मनुष्य अपने पूर्वजन्म और माता-पिता और समाज के वातावरण आदि से ग्रहण करता है और विशेष संस्कार उसके साथ अभिन्न रूप से जुड़े होते है और उन्हीं संचित संस्कारों के अनुरूप मनुष्य अपने चारों ओर व्याप्त संसार तथा जीवन परिस्थितियों से अपने जीवन मूल्यों को विश्व में खोज कर अपने व्यक्तित्व का निर्माण ज्ञात-अज्ञात रूप में करता है और वहीं उसका जीवन संस्कार होता है। इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों का उनके अहम 'मैं' उनके परिवारिक संस्कारों, रूचियों तथा स्वाभावों का द्योतक होने के लिए एक साहित्यकार जिस अन्तर्मन के संसार में रहता है एक राजनीतिक उसमें नहीं रहता है उनका संसार मुख्यतः वर्तमान बाह्य वास्तविकता का संसार परिवर्तित होता रहता है। उसी प्रकार एक समाज सेवी या व्यापारी का भी अपना पृथक संसार होता है यही बात अध्यापक, विधार्थी, वकील, चिकित्सक, अभियन्ता आदि के विषय में कही जा सकती हैं अपने-अपने संस्कारों एवं परिवेश से इनका अपना-अपना संसार बनता है। परिवेश और संस्कारों के वैविध्य से उनके जीवन मूल्य भी पृथक-पृथक हो सकते है।

मानव मूल्यों की संसारिक प्रतिवद्धता होती है। जो ''मानव मूल्यविमर्श, मूल्य परिभाषा, मूल्य बोध, मूल्य परिवर्तन मानवीय जीवन के स्थाई अंग है।''[8]

अतः आधुनिक मूल्यों की व्यंजना के लिए काव्य नाटकों को एक प्रखर माध्यमों के रूप में चुना गया है जो न केवल मानव मूल्यों को उद्घाटित करते हैं बल्कि पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों में मूल्यों कि पुर्नवृत्ति या पुर्नसृजन करते

3. संगीत कला : भारतीय संगीत का आधार स्तम्भ वेद ग्रन्थ हैं, जिनमें मन्त्रों को गाकर उच्चरित किया जाता था। इसी तरह से बाद में राजाओं का यश गान, विभिन्न ऋतुओं के गीत, शादी-विवाह के गीत तथा मानव-जीवन के जन्म, मुंडन, छठी आदि अवसरों पर गाये जाने वाले गीतों की एक समृद्ध परम्परा प्रारंभ से ही इस देश में मौजूद थी जिसके कारण आज भी भारतीय संगीत को विश्व भर में उच्च कोटि का संगीत माना जाता है। मुस्लिमों के आगमन के पश्चात उनका भारतीय संगीत से प्रभावित होना स्वाभाविक था। इसीलिए अलाउद्दीन खिलजी के बारे में कहा जाता है कि उसने विजय नगर के दरबार से प्रसिद्ध संगीतज्ञ गोपाल नायक को अपने यहाँ बुलवाया था। इसी तरह से सिकंदर लोदी को भी संगीत से बड़ा प्रेम था उसी के राज्य काल में फारसी में संगीत का पहला ग्रन्थ लहजत-ए-सिकंदर शाही लिखा गया। इसकी रचना उम्र याहिया ने की जो अरबी, फारसी और संस्कृत का विद्वान था। लहजत, संस्कृत में लिखे संगीत के ग्रंथो जैसे- संगीत रत्नाकर और संगीत कल्पतरु पर आधारित है[19] इस काल में भारतीय संगीत में कुछ नये तत्त्वों का सम्मिश्रण हुआ, जिसके परिणामस्वरुप अमीर खुसरो ने कुछ नये रागों का सृजन किया जिसका उल्लेख 15वीं एवं 16वीं सदी में लिखे गये ग्रन्थ राग दर्पण में मिलता है-

"मुजीर, सरपर्द बसीट गजन तराना
ऐमन फिरोदस्त सुहिल फरगान निगार
मुवाफिक कौल साजगारी बारवर्ज शाहान
जिलाफ ख्याल उश्साक मुनम।"[20]

अतः इस तरह से मुगलकाल में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के मेल से जिस संगीत का जन्म हुआ। उसे राजनीतिक और धार्मिक मतभेद बिलकुल भी प्रभावित नहीं कर सके। यही कारण है कि आज भी भारतीय संगीतकला हिन्दू और मुसलमान दोनों की अपनी निधि बनी हुई है।

4. नृत्यकला : ललित कला का एक अन्य पहलू नृत्य भी है जिसे हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर विकसित किया है। इसकी कथक शैली मुस्लिम योगदान से बनी है, जो सदियों से उत्तरी भारत में छाई हुई है। इसमें नर्म और नाजुक स्वर हैं और स्त्री-पुरुष नर्तक वह पोशाक पहनते हैं, जो पश्चमी मुसलमान देशों में पहनी जाती थी। गहरे रंग और चमकदार, सुनहरे और रुपहले कपड़े, कसी कमीज, पाजामा और पतला टुपट्टा और चुन्नरदार कुरते से शरीर के सभी अंग उभर उठते हैं और यह पोशाक मधुर गुंजायमान और हल्के प्रवाहमान स्वरों से मेल खाती है।[21]

5. संस्कृति : हिन्दुओं में प्रचलित संस्कारों एवं प्रथाओं का मुसलमानों पर भी प्रभाव पड़ा, जिसने हिन्दू-मुस्लिम एकता और भाईचारे की कई मिशाले कायम

आचरण वह करेगा। इसी प्रकार साहित्यकार की किसी कृति का जो उद्देश्य या प्रयोजन होगा उसी के अनुसार ही उसमें जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा होगी। "कवि के काव्य का उद्देश्य जैसा की हम कह चुके हैं कि कवि द्वारा आभ्यन्तरीकृत जीवन मूल्यों से नियमित निर्धारित होता है और उसके जीवन मूल्यों का स्फुरण उसके द्वारा अपने लिए अपनाई गई जीवन मूल्य पद्धति से होता है, जो कवि देश, जाति, और धर्म, की संकुचित सीमाओं से जितना उपर उठ जायेगा, उसकी ख्याति उतनी ही व्यापक होगी। तुलसीदास इस कसौटी पर भी खरे उतरते हैं।"[11]

लेकिन आज के वर्तमान समय में मानव मूल्यों को पुनः उद्घटित किया जाये तो हम देखते है कि आज मानव मूल्यों के विघटित होने का सबसे बड़ा कारण वर्तमान समाज में तर्क की प्रधानता एवं विश्वास की कमी है। आज के मनुष्यों में आत्मवाद कर्मवाद, लोक-परलोकवाद, पुर्नजन्मवाद, श्रुति-स्मृति, सांस्कृतिक, परंपराएँ, सामाजिक प्रथाएँ आदि हमारे समाज के विविध जीवन मूल्यों के सशस्त्र मूल स्त्रोत रहे है। आज वैज्ञानिक और प्रौधोगिक क्रान्ति ने मानव के न केवल भौतिक उपादानों एवं साधनों को बदल दिया है, अपितु उसकी मानसिक प्रवृत्तियों को भी परिवर्तित कर दिया है। इससे मानव अपने नैतिक जीवन से विचलित हो गया है। प्राचीन मूल्यों के प्रति उसकी आस्था हिल सी गई है और उसकी मान्यताएँ विखर गयी है। वह बुद्धि, तर्क एवं भौतिक उपयोगिता को ही प्रमाण मानने लगा है। ऐसी स्थिति में आस्था का कम होना सहज एवं स्वाभाविक है। वह तर्क व्यवहार, सुविधा एवं उपयोगिता के आधार पर अपनी जीवन शैली का निर्माण करना चाहता है इसीलिये जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसने सन्देह, तर्क एवं प्रश्न प्रारंभ कर दिया हैं, जिससे परम्परिक मानव मूल्यों का क्षरण होना स्वाभाविक है।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob,-9691377634
E-mail-ajjubisani@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. प्रेमशंकर, भक्तिकाव्य का समाजदर्शन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं. 50
2. वही, पृ. सं. 09
3. शिव कुमार मिश्र, भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. सं. 29
4. वही, पृ. सं. 20
5. वही, पृ. सं. 3

का ज्ञान था। इसके अतिरिक्त जायसी ने पद्मावत हेतु अवधि भाषा का चयन करके ये भी साबित किया कि उस समय धर्मनिरपेक्षता लोगों के कितने गहरे उतर चुकी थी। इसी प्रकार बाबा फरीद भी कबीर की भांति आत्मसंतोष, संयम तथा धैर्य की बातें करते हुए कहते हैं-

"रूखी सुखी खाई कै ठंडा पाणी पीउ
फरीदा देखि पराई चोपड़ी न तरसाए जीउ।"[14]

बाबा फरीद प्राणीमात्र को यह शिक्षा देते हैं कि हमें अन्य लोगों की धन, संपत्ति व तरक्की पर ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए बल्कि हमारे पास जो भी जितना कुछ है उसी में संतुष्ट रहना चाहिए। क्योंकि जब हम अपने से ज्यादा औरों की फिक्र करते हैं तो हमारा मन-मस्तिष्क केवल उनकी निंदा में लगा रहता है जिससे समय ही नष्ट होता है होता कुछ नहीं। इसलिए बेहतर है अगर चिंतन करना है तो अपनी कमियों पर करें न कि दूसरों की कमियों पर। इसी सन्दर्भ में बुल्ले शाह की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

"ऐसा जगिआ ज्ञान पलीता
ना हम हिन्दू ना तुर्क जरुरी,
नाम इशक दी है मनजूरी,
आशक ने हरि जीता,
ऐसा जागिआ ज्ञान पलीता"[15]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुल्ले शाह सीधे-सपाट शब्दों में कहते हैं कि हिन्दू और मुस्लिम होने से कहीं जरुरी है एक अच्छा इंसान होना। वे कहते हैं कि यह जरुरी नहीं है कि आप किस धर्म से ताल्लुक रखते हैं और आपको कितना ज्ञान है बल्कि जरुरी यह है कि आपमें उस ईश्वर के नाम की लगन कितनी है क्योंकि उस खुदा को लगन से ही जीता जा सकता है।

अतः धर्मनिरपेक्ष साहित्य के सन्दर्भ में अब तक जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उनके आधार पर कहा जा सकता है कि मध्यकाल में हिन्दू और मुस्लिम साहित्य का एक दूसरे पर प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा था जिसका प्रमाण सूफियों के साहित्य में हरि जैसे शब्दों का प्रयोग है। इसके अतिरिक्त सूफी एवं संतो दोनों का एक-दूसरे के धर्म पर खुलकर विचार रख पाना अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का बेहतरीन नमूना है। यही वजह है कि हिंदी साहित्य के इतिहास में मध्यकाल को स्वर्णयुग कहा जाता है।

कला : भारतीय और इस्लामी संस्कृति के मेल से एक प्रकार कि रचनात्मक शक्ति उत्पन्न हुई, जिससे कला के क्षेत्र में और भी अच्छे परिणाम निकले। अरब,

संत रैदास की सामाजिक चेतना

संजय कुमार

भक्तिकाल भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण परिघटना है। भक्तिकाल की व्यापकता किसी एक भाषा व देश तक सीमित नहीं है। यह एक अखिल भारतीय सामाजिक चेतना है। यह चेतना गहरे तनाव और संघर्ष का परिणाम था। मुक्तिबोध ने दक्षिण भारत और उत्तर भारत के निर्गुण-मत-विरोधि शक्तियों की समानता की तरफ इशारा करते हुए लिखा है, "भक्ति आन्दोलन के प्रारम्भिक चरण में निम्न वर्गीय तत्त्व सर्वाधिक सक्षम और प्रभावशाली थे। दक्षिण भारत के कट्टरपन्थी तत्व जो कि तत्कालीन हिन्दू सामन्ती वर्गों के समर्थक थे, इस निम्नवर्गीय सांस्कृतिक जन चेतना के एक दम विरुद्ध थे। वे उन पर तरह-तरह के अत्याचार भी करते रहे। मुस्लिम तत्त्वों से मार खाकर भी, हिन्दू सामन्ती वर्ग, उनसे समझौता करने की विवशता स्वीकार कर उनसे एक प्रकार से मिल हुए थे उत्तर भारत में हिन्दुओं के कई वर्गों का पेशा ही मुस्लिम वर्गों की सेवा करता था।"[1]

मुस्लिम सत्ता स्थापित हो जाने पर हिन्दू सामंती तत्व मुसलमान सामंती तत्वों से छिटककर नहीं रह सके। लूट-पाट, नोच-खसोट के उस युग में, जनता की आर्थिक-सामाजिक स्थिति गम्भीर थी। निम्नवर्गीय जातियाँ सन्तों की निर्गुण वाणी का, तत्कालीन मतों के अनुसार, क्रान्तिकारी सुधारवादी स्वर, इस्लामी सत्ता स्थापित हो जाने पर आत्मरक्षा के अतिरिक्त कुछ और सोचना सम्भव नहीं था। परिणामस्वरूप अलग-अलग जातियों में बँटा भारतीय समाज बिखरा हुआ था। इस्लाम के पूर्व जो भी आक्रान्ता आये वे भारतीय समाज में विलीन हो गये, किन्तु इस्लाम ने भारतीय समाज में विलीन होने की जगह उसे इस्लामी समाज में बदलने की चुनौती रची। पराजित हिन्दू जनता मुस्लिम शासकों के अधीन हो गये। राजाश्रय समाप्त होने की दशा में समाज के बौद्धिक नेतृत्व की कोई अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। ऐसे में हताश व निराश लोगों को बिखरने से बचाने के लिए समाज में संतों का उदय हुआ। संतों के पास केवल तार्किक ज्ञान व अनुभव तथा ईश्वर का ही सहारा था जिसे पाने के लिए उन्होंने निर्गुण भक्ति मार्ग का अनुसरण किया।

एवं अंतर धार्मिक संबंधों का होना अनिवार्य है क्योंकि जब ऐसा होगा तो धर्म गौण जबकि राष्ट्र मुख्य स्वतः बन जायेगा।

धर्मनिरपेक्षता के सन्दर्भ में अब तक जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उनके आधार पर कहा जा सकता है कि विभिन्न धर्मों की अलग-अलग उपासना-पद्धति और कर्मकांड, खान-पान, रहन-सहन तथा जाति और नस्ल आदि के भेद के कारण भारत वास्तव में आज भी पूरी तरह धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र नहीं बन पाया है परन्तु फिर भी ऐसी कौन सी शक्ति है जो भारत को कहीं न कहीं बांधे हुए है। एक दृष्टि हमें उन बन्धनों पर भी डालनी चाहिए जिनकी वजह से भारत बाह्य स्तर पर एक सूत्र में पिरोया हुआ दिखता है। इस सन्दर्भ में हिन्दू और मुस्लिमों की भाषा, साहित्य, कला तथा संस्कृति पर विचार करना अनिवार्य है।

भाषा : भाषा मात्र पारस्परिक संपर्क का साधन ही नहीं है अपितु भाषा किसी भी सभ्यता और संस्कृति का प्रतिबिम्ब होती है। एक तरफ हिन्दू संस्कृति और संस्कृत की उत्तराधिकारिणी के रूप में हिंदी भाषा मुसलमान बादशाहों के शासनकाल में मुहम्मद गोरी से लेकर अकबर तक राजभाषा बनी रही। तत्पश्चात अकबर के गृहमंत्री टोडरमल के आदेश से फारसी को राजभाषा का पद मिला, जिसे ईस्ट इंडिया कम्पनी ने 1833 तक राजभाषा बनाये रखा।[7] वहीं दूसरी तरफ इस्लाम की पवित्र भाषा अरबी थी, जो आरंभिक आक्रमणकारियों की मातृभाषा थी बाद के हमलावर अरबी से प्रभावित और परिष्कृत तुर्की और फारसी बोलते थे। अरबी तो धार्मिक भाषा बनी रही और मुस्लिम युग में फारसी दरबारी भाषा बन गयी। इसलिए प्रशासनिक पदों के इच्छुक हिन्दू और मुसलमान दोनों ही फारसी पढ़ने लगे। परन्तु यह जन साधारण की भाषा नहीं बन सकी और मुसलमान जनता की भी नहीं भारत में धर्म परिवर्तित मुसलमानों की संख्या बहुत बढ़ी थी जिनके लिए धर्म बदल लेना तो आसान था परन्तु भाषा का बदलना सरल काम नहीं था। आवश्यकतानुसार अरबी और फारसी को स्थानीय भाषाओं से मिलना पड़ा परिणामस्वरूप उर्दू बनी जो उत्तरी भारत में बोली जाती है और आजकल पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा है। फारसी और हिंदी का मिला-जुला रूप उर्दू, इंडो-इस्लामी मेल का एक बढ़िया नमूना है। एक सम्मिलित भाषा का उद्‌गगम दोनों धर्मों में बढ़ती हुई घनिष्ठता का और भविष्य में आपसी समझदारी कायम करने का सूचक है।[8] इस तथ्य से यह प्रमाणित करने में किंचित भी संदेह नहीं रह जाता कि भारत ही एक ऐसा देश है जिसमें किसी भी संस्कृति को स्वयं में आत्मसात करने की सामर्थ्य है। इसके अतिरिक्त हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की एकता का एक कारण यह भी है कि इस समय के संतो, सूफियों और कवियों ने उर्दू और हिंदी दोनों भाषाओं में अपने विचारों को अभिव्यक्त किया, जिसमें अमीर खुसरो, रहीम खानखाना और मलिक मोहम्मद जायसी प्रमुख

थी, जिस पर ज्ञान के अक्षर लिखे। संत रैदास निःस्पृह भाव से भारतीय समाज व संस्कृति के पारिष्कार में लगे रहे।

संत रैदास के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति है। व्यक्ति के जीवन के तीन महत्वपूर्ण पक्षों को उन्होंने समझा और उन्हें अपने चिन्तन का अभिन्न अंग बनाया। "एक पक्ष तो भौतिक जीवन है। यह व्यक्ति के जीवन-अस्तित्व की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। दूसरा है सामाजिक जीवन जो एक तरफ व्यक्ति के भौतिक अस्तित्व को सम्भव बनाने में मद्द करता है तो दूसरी तरफ जीवन को सामाजिक सांस्कृतिक प्राणी बनाता है। तीसरा यज्ञ आध्यात्मिक जीवन है। यह व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का मार्ग सुनिश्चित करता है। जिससे उसका परमात्मा से साक्षात्कार सम्भव हो और वह समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाए। रैदास के दर्शन में व्यक्ति का जीवन-सृष्टि, समाज और ईश्वर से जुड़ा हुआ है।"[4]

संत रैदास का दर्शन हिन्दू दर्शन से प्रभावित है, जबकि उनका भौतिक एवं सामाजिक पक्ष बौद्ध दर्शन से प्रभावित है। जो तर्क व अनुभव पर आधारित है। संत रैदास ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना पर बल दिया है। कर्मकाण्ड की आलोचना की है। संत रैदास का दर्शन अद्वैतवादी है। वे आत्मा परमात्मा में भेद नहीं मानते उनकी दृष्टि में जीवात्मा ब्रह्मा का ही अंश है। चूंकि ब्रह्मा अविनाशी है इसलिए आत्मा भी अविनाशी है।

ईश्वर भक्ति

मध्यकाल में बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म लुप्तप्राय हो चुके थे उनके तत्त्वज्ञान सिद्धों, नाथों द्वारा संतों तक पहुँच चुका था संत इसका प्रचार प्रसार कर रहे थे। मूल समस्या यह थी कि हिन्दू और मुस्लिम धर्मों के संघर्ष में आम जनता पिस रही थी। इन धर्मों में बाह्याडम्बर की प्रधानता थी, जिसका विरोध मध्य काल के संतों ने किया। हिन्दू धर्म के मूर्तिपूजा, बली प्रथा-व्रत वैकल्य, धर्म की आड़ में हो रहे। सामान्य जनता का शोषण मुस्लिम धर्म की पूजा पद्धति, रोजा नमाज आदि सभी पर संतों ने चोट की है। संत रैदास कहते हैं-

"माधौ, भ्रम कैसे न विलाई, ताथै दुती दरसै आई।
कनक कुटक सुत पट जुदा, रजु भुजंग भ्रम जैसा।
जल तरंग पाहन प्रतिमा ज्यूं, ब्रह्मा जीव दुति ऐसा।"[5]

रैदास ने ईश्वर भक्ति को सर्व दुःखों से मुक्ति का मार्ग माना है। राम की भक्ति ही इस मायारूपी संसार से मुक्ति का माध्य है। भक्ति के बिना सब व्यर्थ है।

नियम आदि इसके अंतर्गत आते हैं। इसी सन्दर्भ में हम देखतें हैं कि हिन्दू भोजन के मामले में विशेष सावधानी बरतते हैं। वह अलग-अलग बर्तनों में पानी पीना पसंद करते हैं, जबकि मुस्लिमों को एक ही पात्र में पानी पीने में कोई ऐतराज नहीं होता। इसी सन्दर्भ में आंबेडकर साहब अक्सर कहा करते थे कि जिस धर्म में लोग एक बर्तन में पानी पीते हैं उसकी एकता कभी खंडित नहीं हो सकती। इसके साथ-साथ भोजन ग्रहण करते समय हिन्दू रोटी रखने के लिए प्लेट का इस्तेमाल करना पसंद करते हैं जबकि मुस्लिम बांस से बनी डलिया का। इसी प्रकार हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही किन्हीं विशेष अवसरों पर अपने पारंपरिक परिधान पहनना पसंद करते हैं जैसे- हिन्दू धार्मिक कृत्यों में अक्सर धोती-कुरता धारण करते हैं तो मुस्लिमों को अक्सर नमाज के वक्त कुरता-पायजामा और टोपी धारण करे हुए देखा जाता है। हिन्दू और मुस्लिम दोनों के बोलचाल के तरीके का अंतर भी आसानी से स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि हिन्दूओं का झुकाव एक तरफ अधिकतर संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली की ओर होता है तो मुस्लिमों का उर्दू-फारसी की शब्दावली की ओर होता है। इसके अतिरिक्त हिन्दू और मुस्लिम दोनों के शारीरिक स्वच्छता सम्बन्धी नियम अलग-अलग होते हैं। हिन्दूओं में धर्माचार से पूर्व स्नान का विधान है तो मुस्लिमों में ऐसा करना अनिवार्य नहीं है। हिन्दू और मुस्लिमों के रहन-सहन के सन्दर्भ में अब तक जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उनके आधार पर किसी प्रकार की कोई निश्चित टिप्पणी नहीं की जा सकती क्योंकि इंडो-मुस्लिम संस्कृति का घालमेल हुए कई वर्ष बीत चुके हैं जिसकी वजह से दोनों संस्कृतियों का अंतर काफी हद तक मिटा है लेकिन अभी भी कुछ ऐसी दरारें हैं जो स्पष्टतः देखी जा सकती हैं और यही दरारें कई बार धर्मनिरपेक्षता में बाधा उत्पन्न करती हैं। इसलिए हमारे देश के मीडिया और बुद्धिजीवियों की यह नैतिक जिम्मेदारी है कि इन छोटी-छोटी बातों का बखेड़ा ना खड़ा करें कि किसी ने मुस्लिमों के समूह में टोपी क्यों नहीं धारण की। क्योंकि, जहाँ तक मैं समझता हूँ कि वस्त्र कभी किसी धर्म का प्रतिनिधित्व नहीं करते, जिसको बॉलीवुड अभिनेता आमिर खान ने अपनी फिल्म पी.के. में भलीभांति दर्शाने का प्रयास किया है।

जाति-नस्ल : धर्मनिरपेक्षता ही नहीं बल्कि अनेक सन्दर्भों में जाति और नस्ल एक बड़ा व्यवधान उत्पन्न करती है। इस मामले में हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही रक्तशुद्धता पर बल देते हैं। हिन्दू धर्म में अपवादों को छोड़कर जितनी जातियां हैं, प्रायः हर जाति अपनी जाति से बाहर पहले तो रोटी-बेटी का सम्बन्ध नहीं करती और अगर कोई ऐसा कर भी ले तो भारतीय समाज उसे हीन दृष्टि से देखता है। हद तो तब हो जाती है जब ऐसा करने पर उसे बिरादरी से बाहर कर दिया जाता है। यहाँ तक कि उसका हुक्का-पानी बंद कर दिया जाता है और तो और उस पर

संतों ने धार्मिक विचारों से प्रभावित होकर धार्मिक कुरीतियों को मिटाने की पूरी कोशिश की तत्कालीन परिस्थिति ऐसी थी कि हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्म अपने-अपने खेमे में बँटे हुए थे जिससे सामाजिक बँटवारा हो चुका था जिसके कारण भेदभाव अपने चरम सीमा पर पहुँच गया। धार्मिक बाह्यचार एवं बंधनों में बधे मानव समाज को मुक्त करने के लिए संतों ने संघर्ष किया साधारण समाज अपने ऊपर हो रहे अन्याय अत्याचारों से बचने के लिए मुस्लिम धर्म ग्रहण कर रही थी। वहाँ पर भी धर्म के नाम पर शोषण हो रहा था। तत्कालीन मनुष्य में सामाजिक चेतना जागृत करने का महत्वपूर्ण कार्य संतों ने किया। सामाजिक चेतना समस्त मानव समाज के उन्नति के लिए सहायक सिद्ध हुई है। सबसे पहले समाज में व्याप्त सामाजिक समस्याओं को उठाया फिर अपनी तार्किक बुद्धि के बल पर प्रहार किया। जिससे समाज में व्याप्त जड़ता टूटी भारतीय समाज के वर्ण-विभाजित मूल ढाँचे में आत्मसात करने की शक्ति क्रमशः कम होती गई। कर्मकांड अंधविश्वास, एक विचित्र प्रकार की रूढ़िवादिता हावी हुई जिसे इस्लाम के आगमन के समय समाज निष्क्रिय हो चुका था। "चिंतन और विचार के धरातल पर कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद को यदि भारतीय समाज की दुर्बलताओं में स्वीकार किया जाय तो मध्यकाल का आरंभिक दौर किसी बाहरी प्रहार को झेल पाने में असमर्थ था।"[7] इस प्रकार देश की प्रतिरोधक क्षमता शिथिल थी राष्ट्रीय नेतृत्व का अभाव था और एकता के सूत्र दुर्बल थे।

इतिहासकार रोमिला थापर के शब्दों में "आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक के काल को कभी-कभी अंधकार युग कहा जाता है जब हिन्दुओं की उच्च संस्कृति का हास हुआ और राजनीतिक विश्वशृंखला के फलस्वरूप एक पूर्णतया विदेशी शक्ति को इस उपमहाद्वीप में विजय प्राप्त करने में सुविधा हुई। परन्तु यह अंधकार युग न होकर निर्माणात्मक युग था।"[8]

हिन्दू समाज में जिस चातुर्वर्ण व्यवस्था का बोलबाला था इस व्यवस्था के विरोध में संत रैदास डटकर खड़े रहे। संत रैदास कर्म प्रधान समाज में विश्वास करते थे-

"ब्राह्मण खतरी वैस, सूद रविदास जनम ते नाहि
जौ बाहइ सुवस कउ पावई करमन मांहि"[9]

अर्थात् जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं होता, कर्म से ही महान है कर्म के सम्बन्ध में रैदास ने कहा है-

'जिहवा से ओकार जप, हत्यन सो कर कार
राम मिलहिं घर भाई कर कह रविदास विचार'

फटकारते हुए कहते हैं कि 'पाहन पूजे ते हरि मिले तो मैं पूजूं पहाड़'। वहीं दूसरी तरफ मुस्लिमों को भी फटकारते हुए कहते हैं- 'कांकड़ पाथर जोड़ी के मस्जिद लई बनाये ता चढ़ मुल्ला बांग दे का बहिरा हुआ खुदाय'। तो इस तरह हम देखते हैं कि कबीर हिन्दू और मुस्लिम दोनों की उपासना-पद्धतियों के आडम्बर पर व्यंग्य करते हैं परन्तु उन पर न तो तब कोई असर हुआ था न आज ही कोई असर है बल्कि उपासना-पद्धति और कर्मकांडों के कारण आज भी कई बार लोगों को नयी तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जैसे- हिन्दू, रात्रि-जागरण के नाम पर, भगवान की रथ-यात्रा के नाम पर व धर्मग्रंथों के अखंड पाठ आदि कर्मकांडों के नाम पर सड़कों पर जाम व शोरगुल मचाते फिरते हैं। ठीक उसी तरह मुस्लिम भी मुशायरों, मजलिसों, मातम आदि के नाम पर हिन्दुओं का अनुकरण करते हैं। यहाँ पर विडंबना यह नहीं है कि वे ऐसा क्यों करते हैं बल्कि विडंबना तो यह है कि उनके ऐसा करने से लोगों को जो तकलीफ होती है उसका जिम्मेदार कौन है धर्म या उसके मानने वाले। अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर इन सब कर्मकांडों का उद्देश्य क्या है क्योंकि जहाँ तक मैं समझता हूँ कि धर्म हमारी व्यैक्तिक आस्था का विषय होता है। इसीलिए तुलसी ने रघुनाथ गाथा स्वान्तः सुख हेतु रची। जबकि आज जिस प्रकार के कर्मकांड किये जा रहे हैं उससे तो यही जाहिर होता है कि आज धार्मिक कर्मकांडों का उद्देश्य दूसरों को अपनी धार्मिक कट्टरता और धार्मिक उन्माद से अवगत कराना है। तभी एक तरफ मुस्लिम ताजिया निकालने के दौरान अपना जितना खून बहा देते हैं। उतना ही अगर रक्तदान कर दें तो न जाने कितने लोगों की जान बचायी जा सकती है। वहीं दूसरी तरफ हिन्दू श्रद्धा और आस्था के नाम पर लाखों रूपए का जो दूध, दही और घी आदि ना जाने क्या-क्या बहा देते हैं। उसे अगर जरुरतमंदों में बाँट दें तो कितने भूखे पेटों की आग बुझाई जा सकती है। अतः उपासना-पद्धति के सन्दर्भ में मैं यही कहना चाहूँगा कि धर्म और कर्मकांड चूँकि लोगों की मनोवैज्ञानिक आस्था से संबंधित होता है इसलिए उसमें मनोवैज्ञानिक तरीके से परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाना चाहिए। इसके लिए लोगों को उनके धर्म के ही उदाहरण दिए जा सकते हैं, क्योंकि मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर करना।

खान-पान : खान-पान के सन्दर्भ में अभी तक हमने यही सुन रखा था कि भोजन लोगों की अभिरुचियों एवं वातावरणीय देन का परिणाम होता है, लेकिन आजकल भोजन धर्म और राजनीति का प्रतीक बन गया है। यही कारण है कि वर्तमान समय में खान-पान भी धर्मनिरपेक्षता में बाधा उत्पन्न कर रहा है। गौ-रक्षा को हिन्दुओं का जबकि गोकशी को मुस्लिमों का धर्म बताया जा रहा है। ऐसा नहीं है कि हम नहीं जानते कि भारतीय खान-पान कितनी विविधता से भरा है बल्कि

बिना सत्य को जाने मनुष्य अनजान ही बना रहता है। इसलिए सत्य पर निर्गुण संतों का बहुत जोर था और गुरु के विषय में सत्य गुरु की बात करते हैं जो वास्तविक ज्ञान से परिचित कराये वही गुरु है। इस प्रकार संत रैदास ने अपनी वाणी के माध्यम से समाज में समरस्ता लाने का संदेश दिया मानव को मानव से प्रेम की भाषा पर बल दिया आज के समय में भी सामाजिक विखराव खत्म नहीं है। स्थित जरूर हुआ जिसे खत्म होना चाहिए। भक्तिकालीन आन्दोलन अखिल भारतीय था जिसने सम्पूर्ण भारत को एकता के सूत्र में बाँधने का सन्देश दिया। संत रैदास का चिंतन और दर्शन वैज्ञानिक चिंतन पर आधारित है जिसमें ज्ञान, तर्क, बुद्धि और विवेक है जिसके द्वारा उन्होंने ब्राह्मणवादी सामाजिक, आर्थिक संरचना का खंडन किया। भारतीय साहित्य ने संत रैदास के गौरवपूर्ण साहित्य के मूल्यांकन की आवश्यकता है। ऐसा मूल्यांकन जो समाज के परिप्रेक्ष्य में हो, भक्ति परम्परा के परिप्रेक्ष्य में हो जिसका मूल्यांकन किया जाना चाहिए और उनके आलोक को अपने भीतर उतारने की जरूरत है।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. No.- 07618883305
E-mail: sanjaykumarhcu2014@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. मुक्तिबोध रचनावली, सं. नेमिचन्द्र जैन, खंड 5, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृति-1998, पृ. 288
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, मयूर प्रकाशन, संस्करण-33, सन् 2007, पृ. 130
3. विकल्प की तलास : बुद्ध से अम्बेडकर तक, रामगोपाल सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर-दिल्ली, प्रथम सं. 2008, पृ. 60.
4. वही, पृ. 63
5. वही, पृ. 66
6. वही, पृ. 68
7. भक्ति काव्य का समाज दर्शन, प्रेमशंकर, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2007, पृ. 41
8. वही, पृ. 41
9. सामाजिक क्रान्तिचे प्रणेते-गुरू रविदास, डॉ. चन्द्रशेखर चादेकर, पृ. 28
10. विकल्प की तलास, रामगोपाल सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस जयपुर, दिल्ली, प्रथम सं. 2008, पृ. 73.
11. वही, 75

मध्यकालीन साहित्य : धर्मनिरपेक्षता का मूल्यांकन

सपन राज

धर्म के विषय में एक सामान्य पंक्ति है कि धर्म का अर्थ धारण करना होता है। परन्तु धारण क्या करना है, क्या नहीं। इस पर अधिकतर लम्बी बहस चलती है और निष्कर्ष सदैव शून्य ही प्राप्त होता है। इस यक्ष प्रश्न के उतरार्थ मैं कहना चाहूँगा कि वास्तव में किसी भी धर्म के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष होते हैं—1. कर्मकांड 2. दर्शन। प्रायः प्रथम पक्ष को ही धर्म समझा जाता है कर्मकांड, रीति-रिवाज, तीज-त्यौहार ही धर्म समझे जाते हैं। जबकि दर्शन के बिना धर्म अंधविश्वास है और धर्म के बिना दर्शन अपंगु है इसलिए दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। वे साथ-साथ चलने चाहिए दर्शन से कर्मकांड आदि को सही रूप प्राप्त होता है और उनका उद्देश्य समझ में आता है। इससे धर्म की सार्थकता सिद्ध होती है अतः कर्मकांड और दर्शन में उचित-अनुचित विवेक ही धर्म है।

भारत के संविधान में 'धर्मनिरपेक्षता' का भाव है परन्तु शब्दावली का अर्थ कहीं भी स्पष्ट उल्लिखित नहीं है। अनुच्छेद 25 (1) और (2) यह संकेत करते हैं कि भारत में राज्य धार्मिक मसलों पर तटस्थ रहेगा और व्यक्ति तथा समूहों को धर्म-जाति के भेद पर ध्यान दिए बिना समान अधिकार प्रदान करेगा। भारत में धर्मनिरपेक्षता की यह धारणा पाश्चात्य धारणा से भिन्न हो जाती है यहाँ राज्य और धर्म के बीच पृथक्करण पूर्ण न होकर सीमित पृथक्करण का प्रावधान रखा गया है क्योंकि राज्य धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप का अधिकार रखता है।[1]

धर्मनिरपेक्षता की भारतीय अवधारणा : साधारणतः भारत में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म के प्रति उदासीन, अलगाव अथवा धर्म को अस्वीकार करना नहीं है बल्कि इसका तात्पर्य है सब धर्मों को स्वीकार करना और सब धर्मों तथा धार्मिक संस्थानों को अपने धार्मिक विश्वाशों का प्रचार करने की स्वतंत्रता प्रदान करना है। इस अर्थ में भारतीय धर्म-निरपेक्षता विभिन्न धर्मों और पंथों को अपने धर्म की मनचाही व्याख्या और उन्हें धार्मिक शिक्षा-संस्थानों में शिक्षा का विषय बनाने का

सकती है। मीरा ने उनको जीने के और रास्ते दिखाये कि पति के मरने के बाद सती होना कुप्रथा है। स्त्री के भी जीने के अधिकार है उसका भी अपना जीवन है। जिसमें प्रेम, अभिव्यक्ति, और अपना निर्णय लेने का अधिकार है।

सम्पूर्ण स्त्री समाज में फैलाये गए डर, अपशकुन या अनर्थ का डर, नाश होने का डर, समाज में अपमानित होने का डर, अनेक प्रकार के सांसारिक आडंबरों का डर देकर स्त्री को जो गुलाम बनाए रखने की कला पुरुषों ने अपनाई थी उन सब पर सवालिया निशान खड़ा करने का श्रेय अगर भारतीय समाज में सर्वप्रथम किसी को जाता है तो वह 'मीरा' हैं।

मीराबाई एक मध्यकालीन हिन्दू आध्यात्मिक कवियित्री और कृष्ण भक्त थीं। वे भक्ति आन्दोलन के सबसे लोकप्रिय भक्ति-संतों में एक थीं, लेकिन भारतीय भक्ति काव्य और साहित्य में भक्ति-संप्रदाय में उन्हें जगह नहीं मिली और यही कारण है कि इनकी गिनती साहित्य में मुक्त संप्रदाय में की जाती है। सवाल यह उठता है कि क्यों इन्हें भक्ति संप्रदाय में नहीं गिना जाता। बात बहुत साफ और सुस्पष्ट है, उनका 'स्त्री' होना। स्त्री होने की वजह से ही इन्हें तथाकथित भक्ति संप्रदायों के गुरुओं ने अपना शिष्य बनाने से भी इंकार कर दिया। बना भी कैसे लेते, कैसे अपने कुनबे में शामिल कर लेते। ऐसा करने से उनकी परंपरा, संस्कृति और धर्म नष्ट नहीं हो जाता। जब महान समाजसुधारक, कवि, भक्त, 'कबीर' को किसी ने अपना शिष्य बनाने का साहस नहीं दिखा पाया तो एक 'स्त्री' जिसका समाज में कोई अस्तित्व ही नहीं था उसे कैसे कोई अपना शिष्य बना लेते। अर्थात धर्म, संप्रदाय, लिंग, जाति और वर्चस्ववादी सभी नजरियों से मीरा की उस व्यक्तिगत अनुभूति को साहित्य समाज में समझने की जरूरत है।

डॉ. बलदेव बंसी मीरा की जीवन क्रांति को कुछ इस तरह दर्शाते हैं- ''मध्ययुग में ही आधुनिक मानव मुक्ति का बिगुल बजाने वाली स्त्री संत, आधुनिकता के नारी विमर्श का बीज-वपन करने वाली मीरा अपने जीवन में तथा मृत्यु में भी मुक्त रही।''

मीराबाई के जीवन के बारे में कुछ एक मत को छोड़ दें तो उनका सम्पूर्ण जीवन आज भी विवादास्पद बना हुआ है। जिसका प्रमुख कारण तिथियों और पाण्डुलिपियों का प्रमाण न होना है। इस काल के अधिकांश कवियों के बारे में ऐसे विवाद प्रमाण न मिलने के कारण आज भी विद्दमान है।

भगवान श्रीकृष्ण को समर्पित उनके भजन आज भी उत्तर भारत में बहुत लोकप्रिय हैं और श्रद्धा के साथ गाये जाते हैं। मीरा का जन्म राजस्थान के एक राजघराने में हुआ था। मीरा बाई के जीवन के बारे में तमाम पौराणिक कथाएँ और किवदंतियां प्रचलित हैं। ये सभी किवदंतियां मीराबाई की बहादुरी की कहानियां

कहती हैं और उनके कृष्ण प्रेम और भक्ति को दर्शाती हैं। इनके माध्यम से यह भी पता चलता है कि किस प्रकार से मीराबाई ने सामाजिक और पारिवारिक दस्तूरों का बहादुरी से मुकाबला किया और कृष्ण को अपना पति मानकर उनकी भक्ति में लीन हो गयीं। उनके ससुराल पक्ष ने उनकी कृष्ण भक्ति को राजघराने के अनुकूल नहीं माना और समय-समय पर अत्याचार किये।

भारतीय परंपरा में भगवान् कृष्ण के गुणगान में लिखी गई हजारों भक्ति-परक कविताओं का सम्बन्ध मीरा के साथ जोड़ा जाता है पर विद्वान ऐसा मानते हैं कि इनमें से कुछ कविताएँ ही मीरा द्वारा रचित थीं बाकी कविताओं की रचना 18वीं शताब्दी में हुई प्रतीत होती है। ऐसी ढेरों कविताएँ जिन्हें मीराबाई द्वारा रचित माना जाता है, दरअसल उनके प्रसंशकों द्वारा लिखी मालूम पड़ती हैं। ये कविताएँ 'भजन' कहलाती हैं और उत्तर भारत में बहुत लोकप्रिय हैं। 'मीरा' भक्ति का असली मतलब समझाती हैं और कहती हैं कि कर्मकांड करने से भक्ति सफल नहीं होती उसके लिए मन साफ होना चाहिए।

"यह विधि भगति कैसे होय?
मन कि मैल हिये तें न छूटी, दियो तिलक सिर धोय" -मीरा

मानवता की परिभाषा को उस समय मीरा ने बखूबी समझ लिया था जिस समय अत्याचार अपनी पराकाष्ठा पर था। ऐसे में उनकी व्यथा को सुनने वाला सिवाय उनके मन के प्रीतम के कोई नजर नहीं आया और उन्हीं से अपनी सारी व्यथा कहकर अपना दुख कम करती नजर आती हैं।

मीराबाई का जीवन आधुनिक युग में कई फिल्मों, साहित्य और कॉमिक्स का विषय रहा है। मीरा के जीवन पर तमाम भाषाओं पर फिल्मांकन किया गया और मीरा के जीवन की कथा के द्वारा स्त्री जीवन पर ढाये जाने वाले कष्टों को उजागर किया गया। मीरा की अभिव्यक्ति को विहंगम दृष्टि से परखने पर कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि यह सिर्फ उनका ही जीवन है। बल्कि वह सम्पूर्ण स्त्री समाज की वेदना प्रतीत होती है। पाठक, दर्शक, श्रोता सब उनकी अनुभूति में अपने आपको महसूस करता है।

समकालीन समाज में नारी को अपनी गरिमा, मुक्ति तथा अध्यात्मिक आनन्द के लिए करते प्रयत्नों को 'मीरा' के रूप में दर्शाया है। 1950 में बनी फिल्म 'जोगन'। 1979 में प्रेमजी निर्मित गुलजार निर्देशित हिन्दी भाषा की फिल्म मीरा (Meera) आदि कई फिल्में सिनेमा जगत में मीरा के जीवन को उजागर करने में सफल रही है। अर्थात् स्त्री जीवन की दुर्दशा और स्थिति को कहने दिखाने में सफल रही हैं।

विद्वानों, आलोचकों ने मीराबाई के प्रमुख चार ग्रंथों को प्रमाणित माना है।

- नरसी का मायरा
- गीत गोविंद टीका
- राग गोविंद
- राग सोरठ के पद

इसके अलावा मीराबाई के गीतों का संकलन 'मीराबाई की पदावली' नामक ग्रन्थ में किया गया है।

मीरा ने स्त्री परतंत्रता की दहलीज को पार करने का साहस उस क्रूर समाज के समय किया, जब स्त्री अपना घूँघट उठाने तक के लिए आजाद नहीं थी। उस समय मीरा ने अपने ऊपर हो रहे अत्याचार को आवाज दी और सम्पूर्ण स्त्री समाज के लिए प्रेरणा बनी। उनको गुलामी का अहसास कराया। मीरा का साहस उस समय पुरुषों पर भारी पड़ा, जहाँ बड़े-बड़े धुरंधर भक्ति की परंपरा में लीन थे, फिर चाहे कबीर हो या तुलसी सब ने स्त्री स्वतन्त्रता की बात नहीं की। ऐसे में स्त्री ने अपनी अभिव्यक्ति को आवाज दी। अपवाद स्वरूप छोड़ दें तो स्त्री को लेकर वर्चस्ववादी कवियों ने नारी की अवहेलना ही की है। उसके स्वतन्त्रता की बात उस काल में किसी ने नहीं की। इनका पुरुसत्व और इनकी सांस्कृतिक परंपरा इनके आड़े आई। इसलिए इन आदर्श भक्त कवियों, समाजसुधारकों ने नारी को दासी के सिवा कुछ और नहीं माना, जिसका कारण है कि आज इतने प्रासंगिक भक्त कवि होने के बाद भी जब 'स्त्री' का सवाल आता है तो इनको कटघरे में खड़ा होना ही पड़ता है।

"महावृष्टि चली फूटि कियारी। जिमि सुतंत्र भय बिगरहिं नारी।" -तुलसी

"पतिबरता मैली भली, काली कुचित कुरूप/
पतिबारता के रूप में बारौं कोटि स्वरूप।" -कबीर

"ढ़ोल गवार शूद्र पशु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।।" -तुलसी

"नारी की झाईं परत अंधा होत भुजंग।
कविरा तिनकी कौन गति नित नारी के संग।" -कबीर

दरअसल देखा जाए तो भारतीय समाज का हिंदुत्ववादी दर्शन और इनके शास्त्र मानवीयता की पृष्ठभूमि पर कहीं भी जीवित दिखाई नहीं देते और इनका 'स्त्री' दर्शन तो कहीं स्वतन्त्रता का पक्षधर दिखता ही नहीं है।

इस तरह मीरा के जीवन और उनके भक्ति के आयामों पर अनेक शोध कार्य हुए पर किसी ने निर्विवाद रूप से मीरा के जीवन के बारे में किसी एक मुकाम तक नहीं पहुँच पाये। चाहे वह उनके वैवाहिक जीवन को लेकर हो या फिर उन पर ढाये

जाने वाले अत्याचार की कहानी या उनके मूर्ति में समा जाने का प्रसंग, गायब होने का या अन्य। स्पष्टतः मीरा सम्पूर्ण भारतीय स्त्री समाज की प्रेरणा स्त्रोत थी। कृष्ण भक्ति परम्परा में मीरा का नाम अद्वितीय है और रहेगा।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob.No.- 9555538591
Email-jugulkishor12@yahoo.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. कबीर ग्रंथावली, श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
2. मीरा ग्रंथावली।
3. रामचरितमानस, तुलसीदास, गीताप्रेस गोरखपुर।
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. रामचन्द्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली।
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, मयूर पेपर वैक्स, नोयडा।
6. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

रसखान के कृष्ण और भक्ति

सौरभ सिंह

रसखान मध्यकाल के अत्यन्त विदग्ध कवि हैं। इन्होंने कृष्ण भक्ति में स्वयं को तल्लीन कर दिया था। मध्यकाल में कृष्ण प्रेम की जो राग धारा सारे देश में बह रही थी, उसमें सहृदय मुसलमान कवियों ने अपना स्वर मिलाया। कृष्ण को अपार प्रेम करने वाले ऐसे कवियों में रसखान प्रमुख थे। आचार्य शुक्ल ने इन्हें सगुण धारा की कृष्ण भक्ति शाखा में बहुत महत्वपूर्ण स्थान दिया है। ये बड़े कृष्ण भक्त होने के साथ-साथ गोस्वामी बिट्ठलनाथ के कृपापात्र शिष्यों में थे। दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में इनका वृत्तान्त आया है। इनके प्रेम के बहुत से किस्से प्रसिद्ध हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ये बड़े प्रेमी जीव थे। रसखान अपने लौकिक प्रेम का उदात्तीकरण कर सके और यही उदात्तीकृत प्रेम अत्यन्त गूढ़ भक्ति में परिवर्तित हुआ।

अन्तः साक्ष्य के आधार पर थोड़ा बहुत उनके जीवन पर प्रकाश पड़ता है। प्रेमवाटिका में उल्लिखित है कि वे दिल्ली में रहते थे। दिल्ली और पिहानी को रसखान के जन्म स्थान से अधिक जोड़ा गया है। दिल्ली को श्मशान भूमि के रूप में देखकर वे मथुरा आ गए। प्रस्तुत उदाहरण में दिल्ली नगर के मसान होने की बात कही गयी है-

"देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान।
छिनहि बादसा-बंस की, ठसक छोरि रसखान।।"[1]

राजा-महाराजाओं से उनके संपर्क की बात उनकी रचना सुजान रसखान में आयी है। काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से सुजान-रसखान ही उनकी महत्त्वपूर्ण रचना है। इनकी अन्य रचनाओं में प्रेमवाटिका, दानलीला, अष्टयाम हैं। अपनी ठसक छोड़कर मथुरा आने से वहाँ की कृष्णभक्ति का प्रभाव रसखान पर पड़ना स्वाभाविक था। जिस प्रकार वे कृष्ण सम्बन्धी व्यवहार-ज्ञान प्राप्त करते गए उनकी रचनाशीलता उनके प्रत्येक पद में अधिक चमत्कृत होती गयी है। रसखान के पहले के कृष्ण भक्त

कवि कृष्ण की भक्ति का काव्य पद-परम्परा में रचते थे, परन्तु रसखान ने लीक से हटकर कवित्त-सवैयों के माध्यम से श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान किया, जिसमें मुख्यतः बाललीला को अपना विषय बनाया।

"संभवतः रसखान पहले कवि हैं, जिन्होंने कवित्त-सवैयों में कृष्ण का गुणानुवाद किया। संभव है, उनका सम्बन्ध कई राजदरबारों से रहा हो और कवित्त-सवैयों की रचना में भी वे अभ्यस्त रहे हों, किन्तु दरबारी मनोवृत्ति की कोई छाप रसखान पर नहीं है।"[2] जिस सरसता और सहजपन के साथ आडम्बर-विहीन वर्णन रसखान के कवित्त सवैयों में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

रसखान के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्द हैं कि "प्रेम के ऐसे सुन्दर उद्‌गार इनके सवैयों में निकले कि जनसाधारण प्रेम या शृंगार-सम्बन्धी कवित्त सवैयों को ही 'रसखान' कहने लगे-जैसे कोई रसखान सुनाओ।"[3] भाषा के विषय में कहा जा सकता है कि इनकी भाषा बहुत चलती, सरल और शब्दाडम्बरमुक्त थी। वास्तव में विद्वानों का यह मानना है कि शुद्ध ब्रज-भाषा का जो चलतापन और सफाई इनकी और घनानंद की रचनाओं में है वह अत्यन्त दुर्लभ है। रसखान के कृष्ण का अपना चरित्र है, वे बाँसुरी बजाते हैं, गायें चराते हैं, खेल-खेल में ठगते हैं, चुराकर दधि-माखन खाते हैं और दिन-रात गोपियों को सताते हैं। निर्मोही ऐसे कि छोड़कर चल देते हैं तो लौटने का नाम नहीं लेते और मनमोहन ऐसे कि लाख चाहने पर भी मन उन्हें भुला नहीं पाता, तभी तो न जाने कितने भावुक कवि-हृदय उनके प्रेम पर मर मिटते हैं। जिस लकड़ी और कम्बल को लेकर श्रीकृष्ण गाय चराने जाते थे, उस पर रसखान तीनों लोकों का राज्य निछावर करते हुए कहते हैं-

"या लकुटी और कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवो निधि को सुख नन्द की गाइ चराइ बिसारौं।।
रसखानि कबौ इन आँखिन सों ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक रो कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं।।"[4]

रसखान नंदबाबा की गायों को चराने का सुख पाने के लिए आठों सिद्धियों व नव निधियों तक छोड़ने की बात करते हैं। जिस ब्रज भूमि में श्रीकृष्ण ने अपनी बाल-लीलाएं की थीं, उसके वन, उपवन और तालाबों को एक बार देख पाने के लिए तो वे सोने के बने करोड़ों महल वहाँ की करील की झाड़ियों पर वार देना चाहते हैं। वे यहाँ तक भी कहते हैं कि किसी भी जन्म में, किसी भी रूप में वे ब्रज के ही होकर रहना चाहते हैं-

"मानुष हों तो वही रसखानि बसौ ब्रज गोकुल गाँव की ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।।

पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‌यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हों तो बसेरो करों मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।।"[5]

रसखान के हृदय-स्थल में श्रीकृष्ण की भक्ति की स्रोत गंगा का निर्माण दिल्ली में ही किसी व्यक्ति के द्वारा किये गये श्रीकृष्ण के सौन्दर्य वर्णन से हुआ। 'प्रेम देव को छवहि लखि, भये मियाँ रसखान।' इस तरह सैयद इब्राहिम प्रेम और भक्ति के रस की खान हो गये। दिल्ली के बादशाहों का ठाठ-बाट छोड़कर मथुरा आने वाले रसखान श्रीकृष्ण का गुणगान करते हैं, परन्तु इस ब्रजधाम का कोई क्या गुणगान कर सकता है, जहाँ पर परमेश्वर प्रेम के वश में होकर गोपीयों के कहने पर थोड़ी-सी दही के लिए नाच कर दिखाते हैं। लेकिन जब यही कृष्ण बड़े होते हैं तो वे ब्रज की गोपियों को इतना सताते हैं कि वे सभी परेशान हो जाती हैं, क्योंकि वे किसी का माखन खा लेते हैं, किसी के दूध की मटकी गिरा देते हैं और किसी को छड़ी लेकर डराते हैं, इसलिए गोपियाँ कहती हैं कि यशोदा जी ने पुत्र उत्पन्न किया है या लूट और चोरी करने वाला। रसखान ने श्रीकृष्ण के प्रति इस प्रेममयी भक्ति को प्रकट करते हुए कहा है कि-

"काहू को माखन चाखि गयौ अरु, काहू को दूध-दही ढरकायौ।
काहू को चीर लै रूख चढ़्यो अरु काहू को गुंजधरा छहरायौ।।
मानैं नहीं बरजें रसखानि सु जानियै राज इन्हें घर आयौ।
आव री बूझैं जसोमति सों या छोहरा जायो कि मेव मँगायौ।।"[6]

साथ ही रसखान का मानना है कि गोपियाँ चाहे जितना गुस्सा करें, असलियत यह है कि वे खुद साँवरे कन्हैया को देखे बिना नहीं रह पातीं और किसी-न-किसी बहाने से नंद के द्वार पर आ ही जाती हैं। जैसे-

"कौन ठगौरी भरी हरि आजु बजाई है बाँसुरिया रंग भीनी।
तान सुनी जिनहीं तिनहीं तबही तिन लाज बिदा कर दीनी।।
घूमै घड़ी-घड़ी नंद के द्वार नवीनी कहा कहुँ बाल प्रवीनी।
या ब्रजमंडल में रसखानि सु कौन भटू जो लटू नहिं कीनी।।"[7]

रसखान कहते हैं कि आज कन्हैया ने ना जाने कौन से जादू से भरकर बाँसुरी बजाई कि जिस-जिस ने बाँसुरी की धुन सुनी वही मुग्ध होकर कृष्णदर्शन हेतु किसी-न-किसी बहाने नंदघर आना चाहती हैं। रसखान के कृष्ण बाँसुरी बजाकर गोपियों को वशीभूत ही नहीं करते, बल्कि खुद भी प्रेमभक्ति में वशीभूत हो जाते हैं। रसखान ने कहा भी है कि-

"हरि के सब आधीन, पैं हरी प्रेम आधीन।
याही तें हरि आपुही, याहि बड़प्पन दीन।।"[8]

इस प्रकार देखा जाय तो सारा संसार श्रीकृष्ण के आधीन है, पर स्वयं श्रीकृष्ण प्रेम के आधीन हैं। रसखान की श्रीकृष्ण के प्रति यह भक्ति ही लोक को प्रेममय बनाती है। वे ब्रज भूमि में रहे, वहीं उन्होंने अपने जीवन का त्याग किया। इनकी श्रीकृष्ण के प्रति प्रेममयी भक्ति आज भी ब्रज में समाधि के रूप में जीवित है। 'राधा माधव सखिन संग बिरहत कुंज कुटीर। रसिक राज रसखानि जहँ कूजत कोइल कीर।' वास्तव में रसखान ने श्रीकृष्ण भक्ति के माध्यम से अपना जीवन सार्थक बनाने का अनूठा प्रयास किया है।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. No-9 532919833
E-mail : saurabhsngh04@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा. डॉ. नगेन्द्र, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, संस्करण 2015, पृ. 222
2. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ. 137
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद, संस्करण 2009, पृ. 113
4. रसखान रचनावली, संपा. विद्यानिवास मिश्र, जैनिथ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, संस्करण 2005, पृ. 21
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद, संस्करण 2009, पृ. 114
6. रसखान रचनावली, संपा. विद्यानिवास मिश्र, जैनिथ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, संस्करण 2005, पृ. 61
7. रसखान रचनावली, संपा. विद्यानिवास मिश्र, जैनिथ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, संस्करण 2005, पृ. 23
8. रसखान रचनावली, संपा. विद्यानिवास मिश्र, जैनिथ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, संस्करण 2005, पृ. 90

सन्त कवियों की वैचारिक दृष्टि

कु. सरिता

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल अपने सामाजिक, दार्शनिक विचार के लिए साहित्य जगत में सुप्रसिद्ध है। जहाँ आदिकालीन कवि अपने राजाओं की प्रशंसा कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने में तत्पर रहते थे, वहीं भक्तिकालीन कवि काव्य को राजाओं के दरबार से निकालकर निराश जनता को ईश्वरीय भक्ति की ओर अग्रसर किया। मध्यकाल के प्रथम चरण पूर्वमध्यकाल (भक्तिकाल) में भक्ति प्रमुख तथा उत्तर मध्यकाल में भक्ति गौण रूप में दिखाई देती है। भक्तिकाल में भक्ति को उच्च पराकाष्ठा पर पहुँचाने में अनेक भक्त कवियों ने स्तुत्य प्रयास किया।

भक्तिकाल में निर्गुण भक्ति तथा सगुण भक्ति का दर्शन मिलता है। निर्गुण भक्त कवियों ने जहाँ ब्रह्म के निर्गुण, निराकार रूप की उपासना की, वहीं सगुण भक्त कवियों ने सगुण साकार ब्रह्म की उपासना पर बल दिया। मार्ग (उपासना) अलग-अलग होने पर भी भक्त कवियों का लक्ष्य एक ही था-ईश्वर की आराधना तथा प्राप्ति।

भक्तिकाल में भक्ति को उच्च पराकाष्ठा पर पहुँचाने में अनेक भक्त कवियों ने स्तुत्य प्रयास किया। जिनमें प्रमुख है- महात्मा कबीर, रैदास, धर्मदास, गुरूनानक, दादूदयाल, मलूकदास, सुन्दरदास आदि। इन भक्त कवियों ने एक ओर जहाँ सामान्य जनता को भगवद् भक्ति के लिए प्रेरित किया वहीं दूसरी तरफ अपनी वाणी से समाज में व्याप्त ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, जाति-पाँति, वाह्याडम्बरों का तीव्र विरोध किया।

सन्त साहित्य में मध्ययुग की अन्य धर्म साधनाओं के समान इसमें एक ऐसी प्राण शक्ति है, जिसने समाज के प्रत्येक वर्ग को धर्म साधना की ओर मोड़कर जीवन जीने के लिए उत्साहित किया। कवियों ने अपनी लोकव्यापिनी दृष्टि से समाज की समस्याओं को समझा और उस पर चिन्तन करके अपने विचारों को प्रस्तुत किया। जिसके कारण बहुत से सन्तों को समाज सुधारक की संज्ञा दी गयी। सन्तों ने

विश्वजन कल्याण के लिए किसी विशेष मतवाद या प्रणाली का अनुसरण नहीं किया। सन्तों ने आध्यात्मिक जीवन को ही सबसे बड़ा सत्य मानते हुए संसार और समाज की समस्याओं पर चिन्तन किया। वास्तव में सन्तों की प्रधान भावना संसार त्याग की नहीं बल्कि इस संसार और जीवन को स्वीकार करके सांसारिक जीवन के यथार्थ को आध्यात्मिक रूप में ग्रहण करने की है।

सन्तों की भावना जीवन से संपृक्त होकर भी उससे अपने को असंपृक्त रखने की रही हैं। सन्तों की साधना, उनका विश्वास, उनकी उपलब्धियाँ आध्यात्मिक तो है, फिर भी उन्हें चरितार्थ करने के लिए उन्होंने लौकिक आधार को स्वीकार किया। सन्तों की वाणियों में जीवन का जीवन्त स्वरूप है, जो जीवन के प्रति स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। सन्तों के दृष्टिकोण में एक ओर उल्लास है तो दूसरी ओर निवृत्तिजन्य सन्तुष्टि है। इस सम्पूर्ण जगत को भयावह, मायावी और प्रपंचमय मानने पर भी वे अपने को आध्यात्मिक जीवन के ओट में रखकर इस संसार के यथार्थ से विमुख नहीं हो पाये। उनका करुण हृदय इस जगत के प्राणियों को भटकने से बचाने के लिए सदैव प्रवृत्त रहा। यही कारण है कि वे जमकर समाज में व्याप्त बुराइयों की ओर निर्देश दिए और अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से बाह्याडम्बरों का खण्डन किया।

सन्तों का ज्ञान वेदादि धर्म ग्रन्थों पर आधारित न होकर स्वसंवेद्य ज्ञान है। वे किसी प्राचीन परम्परा, रूढ़ियों में बँधे नहीं थे, बल्कि अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के सहारे निर्भीकता पूर्वक अपने समय की सामाजिक विवृत्तियों के सुधार में लगे रहें। सन्तों ने सहज, सरल, सदाचारपूर्ण जीवन बिताने पर बल दिया। सन्त साहित्य में लोक जीवन की प्रचलित मान्यताओं का बड़ी ही तीव्रता से खण्डन किया गया, लेकिन यह खण्डन नकारात्मक न होकर सकारात्मक था, क्योंकि उसका उद्देश्य मानवीय मूल्यों की स्थापना करनी थी। सन्तों के साहित्य में जहाँ एक ओर माया, मोह, लिप्सा, अंहकार आदि कुप्रवृत्तियों का समुचित रूप से विवेचन है, वहीं दूसरी ओर जीवन में दया, प्रेम, अहिंसा आदि को बहुत ही मार्मिक ढंग से संसार के समक्ष रखा गया है।

सन्तों की रचनाओं में दया, सन्तोष, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह आदि को धर्म कहा है। क्रोध, लोभ, काम, वासना, हिंसा आदि को पाप कहा गया है-

"जहाँ दया तह धर्म है, जहाँ लोभ तह पाप।
जहाँ क्रोध तह काल है, जहाँ छिमा तह आप।।"

कबीरदास जी धार्मिक आडम्बरों को खण्डित करते हुए दया भाव को ही सबसे बड़ा धर्म मानते हैं। लोभ, लालच को पाप मानते हैं।

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में सन्त परम्परा की अन्तिम कड़ी के रूप में प्रसिद्ध सन्त शिरोमणि मलूकदास जी के विचारों में मानवीय सम्वेदना के साथ-साथ सम्पूर्ण प्रकृति से प्रेम है। वे कहते हैं कि संसार के किसी सभी जीव को कष्ट नहीं देना चाहिए, चाहे वह वृक्ष की हरी डाली भी क्यों न हो-

"हरी डारि न तोड़िये, लागै छुरा बान।
दास मलूका यों कहै, अपना सा जिव जान।।"

"सब पानी की चूपरी, एक दया जग सार।
जिन पर आलम चीन्हिया, तेही उतारे पार।।"

इसी प्रकार दादू भी जीवों पर दया करने का उपदेश देते हैं-

"काल जाल में कादि कढ़ि, आलम अँगि लगाइ।
जीव दया यहु पालिये, दादू अमृत खाइ।।"

सुन्दरदास के अनुसार समस्त धर्मों का मूल दया है। इसका विकास हृदय में होता है, और प्रसार कर्म तथा वाणी से होता है।

"सब जीवन हित जु कहै। मन वाचक काय दयालु रहै।
सुखदायक हू सम भाव लिये। शिष जानि दया निरवैर हिये।।"

सन्त रज्जबदास जी साधना में धौर्य का अवलम्बन करने के लिए कहा-

"धीरे धर्मसु ऊपजै, धीरें ज्ञान विचार।
धीरें बन्धन सब खुलें, धीरें हरि दीदार।।"

सुन्दरदास क्षमा किसे कहते है, इसकी परिभाषा करते हुए कहते हैं कि दुष्टजन अगर भारी कष्ट दे, कठोर वचन बोले, शरीर को पीड़ा पहुँचाएँ तो इन सबको सहन करना चाहिए, क्योंकि ये सभी क्षमा करने के अन्तर्गत आते हैं :

"क्षमा अब सुनहि शिष मोसो, सहनता कहौं सब तोसौं।
दुष्ट दुख देहि जो भारी, दुसह मुख वचन पुनि गारी।।
कहे नहि क्षोभ कौ पावै, उदधि महिं अग्नि बुझि जावैने।
बहुरि तन त्रास दे कोऊ क्षमा करि सहै पुनि सोऊ।।"

मलूकदास जी लालच को अत्यन्त ही खोटा बतलाते हैं और उनका कहना है कि जब तक इसे त्याग न दिया जाय तब तक किसी प्रकार के लाभ की आशा नहीं करनी चाहिए। इस संसार में मनुष्य लोभ-लालच के कारण घाटा सहता है, जो क्षणभंगुर है। इसी लोभ में व्यक्ति अपना सम्पूर्ण जीवन माया मोह में फँसाकर बिता देता है और अन्त में अध्यात्म जगत् में वह मारा-मारा ही फिरता है -

"सबसे लालच का मत खोटा।
लालच तें बैपारी सिद्धी, दिन-दिन आवै टोटो।।

x x x

जब लग जिव का लोभ न छुटै, तब लग तजै न माया
पर घर द्वार फिरै माया के, पूरा गुरु महिं पाया।।"

इसी प्रकार गुरू नानक जी चंचल मन की चंचलता पर विचार व्यक्त करते हैं यह मन अपनी चंचलता के कारण मद, माया मोह में फँसता चला जाता है जिसके कारण ईश्वर का नाम नहीं लेता है।

"मद माया बस भयो बावरो, हरिजस नहि उचैर।
करि परपंच जगत को डहकै, अपनो उदर भरै।।
स्वान पूंछ ज्यों होय न सूधो, कह्यो न कान धरे।
कहु नानक भजु राम नाम नित, जा तें काज सरे।।"

सन्त कवियों के अनुसार संसार क्या है, ईश्वर का स्वरूप क्या है, और आत्मा क्या है? इसके अन्तर्गत बह्म, जीव, जगत, माया आदि पर चिन्तन करते हुए विचार व्यक्त किया है, उनकी वाणियों में ब्रह्मतत्व की झाँकी मिलती है, उसमें अद्वैतवाद, द्वैतवाद, सांख्य के प्रकृति पुरूष के भावचित्र विशिष्टाद्वैतवाद, इस्लाम के अनुरूप ईश्वरवाद आदि के स्वरूप प्राप्त होते हैं। शून्यवादियों की तरह द्वैताद्वैत विवर्जित तथा सद्सत् से परे ब्रह्म की कल्पना भी करते हैं। ब्रह्म तत्व का निरूपण करते हुए जिन रूपकों, दृष्टान्तों तथा प्रतीकों का सहारा लेते हैं वे सब लोक जीवन में व्याप्त है।

धरमदास जी ने माया और ब्रह्म की लीला का वर्णन होली खेलने के रूपक के माध्यम से करते हुए कहते हैं कि जड़-चेतन ये दोनों पुरूष और नारी के रूप में होली खेलने में निमग्न हैं। पंचभूत और पचीसतत्व नारियाँ है जो आपस में मिलकर हँस-हँसकर गाली गा रही हैं। दम्भ डफ बजा रहा है। तीन गुणों के तार वाला तंबूरा बज रहा है। माया का प्रसार चोवा, चन्दन, अबीर और अरगजा के रूप में हो रहा है। लोभ और मोह की दो पिचकारियाँ बार-बार छूट रही हैं। इनके सम्मुख होकर जो होली खेलता है उस पर काले रंग के छीटें पड़ते हैं कुमति रूपी गुलाब मुख में मल रहे हैं। काम की रंग भरी 'पुटरियाँ' चल रही हैं। सुर, नर, मुनि, पीर औलिया तथा गृही सभी भींग रहे हैं। जो चतुर हैं वे तो फगुवा दे-देकर मुक्त हो रहे हैं, लेकिन मूर्ख को यह होली प्रिय लगती है और यह उसी में भूला रहता है। धरमदास के भाग्य से उनके गुरु कबीर ने निर्गुण का ज्ञान दे दिया है।

धरमदास का होली सम्बन्धी पद-

"तुम सन्तों खेलु सम्हारि, जग में होरी मचि रहि भारी
जड़ चेतन दुइ रूप बनाये, एक कनक दुजे नारी
पाँच पचीस लिये सँग अबला, हँसि-हँसि मिली गावैं गारी।।
दुरमति दम्भ गहे कर में डफ, हवड़-हवड़ दे तारी।
तिरगुन तार तंबूरा बाजै, आस तृस्ना गति न्यारी।।
चोवा चन्दन अबिर अरगजा, माया की गहबर गारी।
पट दरसन पाखण्ड छानवे, पकरि किये बेगारी।।
लोभ मोह दुइ भरि पिचुकारी, छूटत बारम्बारी।
जो कोइ सम्मुख होई के खेले, तिनहिं छींट लगे कारी।।
कुमति गुलाल डारि मुख भीजै, काम पुटरिया भारी।
सुर नर मुनि अरु पीर औलिया, भीजि रहे संसारी।।
चतुरन फगुवा दे दे छूटे, मूरख को लगे प्यारी।
कहैं कबीर सुनो हो धर्मनि, निर्गुण ज्ञान गलि न्यारी।।"

रैदास जी इस संसार को जादू का खेल कहते हैं और वास्तव में इस जादू के पीछे बाजीगर के समान वह परमात्मा ही है और वही एक मार्ग सत्य है :

"बाजीगर सो राचि रहा, बाजी का मरम न जाना।
बाजी झूठ साँच बाजीगर, जाना मन पतियाना।।
मन थिर होइ तो कोइ न सूझै, जानै जाननहारा।
कह रैदास विमल विवेक सुख, सहज सरूप संभारा।।"

नानक जी परमात्मा को सर्वव्याप्त मानते हुए कहते है कि ईश्वर कीट से लेकर हस्ति तक सबमें समाहित है-

"कीट हसति महि पूर समाने।
प्रकट पुरख सभ ठाऊ जाने।।"

कबीर दास जी संसार के सभी जीव के सृष्टिकर्ता ईश्वर को मानते हुए कहते हैं, कि जिस प्रकार कुम्हार एक ही मिट्टी को गूँथकर बहुत प्रकार के बर्तन बनाता है उसी प्रकार परमात्मा ने इस सृष्टि में अनेक रूप सँवारे हैं जो उसी मिट्टी के अनेक रूप हैं। इन सब रूपों के पीछे ब्रह्म ही है -

"कुम्हारे एक जु माटी गूँथी बहु विधि बानी लाइ।
माटी एक भेख धरि नाना ता माहिं बह्म पछाना।।"

सुन्दरदास ने आत्मा और परमात्मा की एकता का बड़े सुन्दर ढंग से चित्रण किया है-

"एकहि कूप के नीर तैं संचित, ईक्ष अफीममहि अंब अनारा।
होत उहै जल स्वाद अनेकनि, मिष्ट कटुक षटा अरु षारा।।
त्योंहि उपाधि संयोग तें आलम, दीसत आहि मिल्यौ सौ विकारा।
काढ़ि लिये जु विचार विवस्वत, सुन्दर स्वरूप है न्यारा।।"

इस ससांर की नश्वरता और निःसारता का वर्णन मलूकदास इस प्रकार कहते हैं-

"इस जीने का गर्ब क्या, कहाँ देंह की प्रीत।
बात कहत ढ़ह जात है, बारू की सी भीत।।
जेते सुख संसार के, इकट्ठे किये बटोर।
कन घोरे कांकर घने, देखा फटक पछोर।।"

भक्ति भाव

सन्तों ने ईश्वर की भक्ति भावना को अधिक प्रमुखता दी है। भगवान के प्रेम को वे अपना सर्वोच्च लक्ष्य मानते हैं। उस प्रेम की तीव्रता और तन्मयता को स्पष्ट करने के लिए बहुत से स्थलों पर सन्त कवियों ने लौकिक जीवन के सुपरिचित दृश्यों का सहारा लिया है। कबीरदास जी अपने को राम का कुत्ता कहते हैं जिनके गले में राम की रस्सी लगी हुई है। कबीरदास का कहना है कि जहाँ राम चाहते हैं खींच कर ले जाते है--

"कबीरा कूता राम का, मुतिया मेरा नाँउ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैचैं तित जाँउ।।"

दादूदयाल भी सौ धक्का खाने पर भी राम के दरबार छोड़ने को तैयार नहीं हैं-

"सौ धक्का सुनहां कौं देवै, घर बाहरि काढ़े।
दादू सेवक राम का, दरबार न छाड़ै।।"

कबीर की तरह रैदास भी अपने को राम का सुनहाँ (कुत्ता) कहते है। रैदास राम नाम के स्मरण को ही सच्चा मानते है और इस सांसारिक भोग विलास को व्यर्थ बताते हैं।

"थोथा मन्दिर भोग विलासा। थोथी आन देव की आसा।
सांचा सुमिरन नाम बिसासा। मन बचन कर्म कहै रैदासा।"

गुरु अर्जुन देव जीवन के एक मात्र आधार ईश्वर को मानते हुए कहते हैं कि कोई व्यक्ति चाहे जितना सुन्दर क्यों न हो, कुलीन हो, धनी हो अगर उसे परमात्मा से प्रेम नहीं तो वह मृतक के समान है-

"अति सुन्दर कुलीन चतुर मुखि गिआनी धनवंत।
मिरतक कही अहि नानका जिह प्रीति नहीं भगवंत।।"

मलूकदास जी कहते हैं कि ईश्वर इतना सर्वव्याप्त है कि वह अपने भक्तों को अपनी आँखों से ओझल कभी भी नहीं होने देता है-

'जहाँ जहाँ बच्छा फिरे, तहाँ-तहाँ फिरै गाय।
कहै मलूक जहाँ संतजन, तहाँ रमैया जाय।।"

कर्म

सन्तों ने धर्म के आचरण को लोक की व्यापक भावना पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की थी। ये आचरण सन्तों की व्यापक लोकपरक भावना के अनुरूप है। सन्तों ने धर्माचरण की दृष्टि से परम्परागत, रूढ़िवादी, शास्त्रीय तथा साम्प्रदायिक आचरणों एवं रूढ़ियों से मुक्त होने का मार्ग दिखलाया है, लेकिन लोक प्रचलित मानवीय आचरण की मर्यादाओं को भी स्वीकृति दी है। जहाँ तक शास्त्रीय और साम्प्रदायिक परम्पराओं और उनके सम्बन्धों का प्रश्न है, सन्तों ने दार्शनिक चिन्तन को स्वच्छन्द लोक जीवन के स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि एक ओर जहाँ उन्होंने माया, मोह, काम, क्रोध, अहंकार आदि से बचने पर बल दिया वहीं दूसरी ओर सत्य, अहिंसा, प्रेम, साधु-संगति आदि को भी बहुत महत्व प्रदान किया। इस प्रकार वे लोक जीवन के बहुत निकट है। सन्तकाव्य में दर्शन, आचरण और साधना एक दूसरे से अलग नहीं है बल्कि सबका समन्वित रूप है। गुरु अमरदास यह मानते हैं कि मनुष्य कर्म करने के लिए अपने आप में स्वतन्त्र है। उन्होंने यह कहा कि शरीर रूपी खेत में जैसा बीज बोयेंगे, अन्त में वैसा ही प्रकट होता है। अर्थात् पापरूपी बीज पर जो फल लगेगा, वही प्राप्त होगा-

"खेति सरीरि जो बींजीऐ, सो अंति खलोआ जाई।"

मलूकदास बाह्याचार को माया का बन्धन मानते हैं। उनके अनुसार जो मनुष्य ज्ञानान्ध है, उसे यह बात समझ में नहीं आती-

"लोक बेद का पैंड़ा औरहि, इनकी कौन चलावै।
आतम मारि पषानै पूजैं, हिरदै दया न आवै।।
किरिया करम अचार भरम है, यही जगत का फंदा।
माया जाल में बाँधि अंडाया, क्या जाने नर अंधा।।"

तीर्थ भ्रमण, मूर्तिपूजा, इन सबसे मुक्ति नहीं प्राप्त होती। प्रायः सभी संतों ने कुछ इसी प्रकार के विचार प्रकट किये है। मलूकदास का कहना है-

"देवल पुजे कि देवता, की पूजै पाहाड़।
पूजन को जांता भला, जो पीस खाय संसार।।
हम जानत तीरथ बड़े, तीरथ हरि की आस।
जिनके हिरदे हरि बसै, कोटि तिरथ तिन पास।।
संध्या तरपन सब तजा, तीरथ कबहुं न जाउं।
हरि हीरा हिरदे बसै, ताही भीतत न्हाउं।।"

रैदास जी बाह्याडम्बरों का विरोध करते हुए कहते हैं कि अगर परमतत्व ईश्वर को नही पहचाने तो मूड़ मुड़ाने, तीरथ, व्रत करने, चरण पखारने, नाचने-गाने और तप करने से क्या लाभ-

"कहा भयो नाचे अरु गाये, कहा भयो तप कीन्हे।
कहा भयो जे चरन पखारे, जौं लो तत्व न चीन्हे।।
कहा भयो जे मूडं मुड़ायो, कहा तीर्थ ब्रत कीन्हे।
स्वामी दास भरत अरु सेवक, परम तत्व नहिं चीन्हे।।"

रज्जबदास कहते हैं कि स्मरण साबुन है, और जल सत्संग है। इससे शरीर और मन दोनों ही निर्मल हो जाते हैं-

"साबुण सुमिरण जल सतसंग, सुकल कृतिकरि निर्मल अंग।
रज्जब रज उतरै इहि रूप, आतम अम्बर होइ अनूप।।"

सन्तों ने तत्कालीन समाज के स्वरूप का चित्रण अपने पदों में बड़े ही सहज भाव से किया है। समाज को देखने का उनका एक विशेष दृष्टिकोण था।

उपासना

सन्त कवियों की भक्ति साधना की दृष्टिकोण अन्तर्मुखी है। उनकी भक्ति मनुष्य की मानसिक क्रियाएँ, मान्यताएँ और भावनाएँ अन्तर्जगत से सम्बन्ध रखने वाली है। वे पूजा, कथा, श्रवण, कीर्तन, कण्ठीमाला धारण आदि जो धार्मिक बाह्याडम्बर है, उनको नहीं मानते हैं।

सन्त कवियों ने आत्मसाक्षात्कार द्वारा परब्रह्म का ज्ञान और आत्मा के साथ उनका अद्वैत सम्बन्ध आदि को मान्यता देते है।

पूजा बाह्याडम्बर का विरोध करते हुए रैदास जी कहते हैं-

"मन ही पूजा मन ही धूप। मन ही सेऊं परम सरूप"

कबीरदास जी कहते है-

"परमातम को पाइये, मन ही की परतीती"

कबीरदास जी मन को स्थिर कर उपासना की बात कहते हैं। उनका कहना है कि जो मन के वश में रहता है उसका सब कुछ खो जाता है-

"काया देवल मन धजा, विधै लहरि फहराइ।
मन चाल्यां देवल चलै, ताका सर्वस जाइ।।"

सन्त रज्जब ने माला, तिलक आदि को छोड़कर उस परम पुरूष से अपना हृदय लगाने की बात करते हैं-

"संतो, ऐसा यहु आचार
पाप अनेक करैं पूजा में, हिरदैं नहीं विचार
चींटी दस चौके में मोरैं घुण दस हांडी माहीं।
× × ×
आप दुखी औरां दुखदायक, अंतरि राम न जान्या।
जन रज्जब दुख देहि दृष्टि बिन, बाहिर पाखंड ठान्या।।"

मलूकदास जी देव पूजन को बाह्याडम्बर मानते हैं और वे अपने विलक्षण ढंग से पत्थर के बने हुए देवता को ठेस लगने से फूट जाने वाला कहते हैं। इसलिए उनका कहना है कि पत्थर के बने देवता को छोड़कर आत्माराम को पहचानना चाहिए और उन्हीं की पूजा करनी चाहिए-

"आमल राम न चीन्हही, पूजत फिरै पषान।
कैसेहु मुक्ति न होयगी, कोटिक सुनो पुरान।।
किरतिम देव न पूजिये, ठेस लगे फुटि जाय।
कहैं मलूका सुभ आतमा, चारो जुग ठहराय।।"

नाम स्मरण की महिमा

सन्त कवियों की साधना में नाम स्मरण की महिमा का एक विशेष स्थान है। अनेक भावों से सन्त कवियों ने नाम की महिमा का वर्णन किया है। वास्तव में इस संसार के प्रायः सभी धर्मो में नामस्मरण को विशिष्ट स्थान दिया गया है। सूफी साधना में इसे 'जिक्र' कहा गया है। निर्गुण सन्तों के समान ही सगुण भक्तों में भी नाम स्मरण को साधना का महत्वपूर्ण पक्ष स्वीकार किया गया है। गुरुग्रंथ साहिब में गुरुनानक ने नाम की महिमा को विस्तार के साथ उद्घाटित किया है। वे मानते हैं कि जब मूत्र से कपड़े गन्दे हो जाते है तो साबुन लगा कर उन्हें धो लेते है। इसी प्रकार जब हमारा शरीर पाप से मलिन हो उठता है, तब वह ईश्वर के नाम के रंग से स्वच्छ हो जाता है-

"भूत पलीती कपड़ु होइ। दे साबुण लईऐ ओहु धोइ।
भरीऐ मति पाप के संगि। ओहु धौवै नवै कै रंगि।।"

धरमदास जी कहते है कि बिना ईश्वर के नाम लिए उस परम सत्य को उसी प्रकार नहीं पाया जा सकता है जिस प्रकार अनेक दीपों के जलते रहने पर भी अन्धें को दिखाई नहीं पड़ता-

"बहुत ज्ञान बहु गम्य, बहुत मूरत को पूजै।
दीपक बरै अनेक, अंध को आंखि न सूझै।।
बहुतक जुग भरमत फिरै, कितहु न पावै दाद।
सात द्वीप नौ खण्ड में, सत्य नाम बिनु बाद।।"

मलूकदास जी नाम स्मरण की प्रक्रिया बताते हुए कहते हैं कि वह ऐसी होनी चाहिए कि दूसरा कोई उसे देख न सके-

"सुमिरन ऐसा कीजिए, दूजा लखै न कोय।
ओंठ न फरकत देखिये, प्रेम राखिये गोय।।"

कबीरदास जी कहते हैं कि राम को छोड़कर जो दूसरे के नाम का जप करते हैं उनकी अवस्था वैसी ही है जैसे वैश्या का पुत्र किसे-किसे अपना पिता कहे, यह नहीं जानता है-

"राम पियारा छाँडि करि, करै आन का जाप।
वैस्वां केरा पूत ज्यूं, कहें कौन सूं बाप।।"

गुरु की महत्ता

सन्त कवियों ने बिना गुरु कृपा के कुछ भी संभव नहीं माना है। यही कारण है कि गुरु महिमा को गोविन्द से भी बड़ा बताया गया है। कबीरदास जी कहते हैं-

"गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बालिहारी गुरू आपने, गोबिन्द दियो बताय।।"

साधना की निर्वाध प्रगति के लिए सन्त मत में गुरु के महत्व को स्वीकार किया गया है। कबीर दास जी गुरु को कुम्हार और साधक को घड़ा कहा है। जिस प्रकार से कुम्हार घड़ा गढ़ते समय उसकी 'खोट' को दूर करता जाता है और उसके भीतर हाथ का सहारा देकर बाहर से चोट करता है उसी प्रकार गुरु अपने शिष्य के दोषों को दूर करता हुआ उसे साधना के पथ पर अग्रसर कराता है-

"गुरु कुंभार सिख कुम्भ है, गढ़ि गढ़ि काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दे, बाहर वाहे चोट।।"

धरमदास जी गुरु की सेवा और गुरु के आवभगत का जिस प्रकार चित्रण किया था वह आज उसी रूप में नहीं है-

"आये दीन दयाल दया कीन्हा।
दीन जानि गुरु समरथ आये, विमल रुप दरसन दीन्हा।।
चरन धोइ चरनामृत लीन्हा, सिंहासन बैठक दीन्हा।।
करूं आरती प्रेम निछावर, तन, मन, धन, अरपन कीन्हा।।
धरमदास पर दाया कीन्हा, सार शब्द सुमिरन दीन्हा।।"

सामाजिक आदर्श

सन्त कवियों ने हिन्दू और मुसलमान की असमानता और विभेद को मिटाने का अत्यधिक प्रयास किया। हिन्दू और मुस्लिम समाज में व्याप्त बुराइयों का खुलकर विरोध किया। उनकी दृष्टि में आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में ऊँच-नीच, जाति-पाँति जैसे विषमता का कोई महत्व नहीं है। सन्त कवियों का उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था का आदर्श हमारे सामने प्रस्तुत करने का नहीं था बल्कि उनका उद्देश्य व्यक्ति के भीतर सत्य को उद्भाषित करने का था। वे यह मानते हैं कि जीव परमात्मा का अंश है और व्यक्ति का चरम लक्ष्य परमात्मा के साथ एक होना है। यही कारण है कि सन्तों ने अपने और पराए का स्वार्थगत भावों को भुलाकर अखिल विश्व को आध्यात्मिक भ्रातृभाव में बँधा हुआ देखते हैं। दादूदयाल कहते हैं-

"जै पहुँचे ते कहि गये, तिनकी एकै जाति।
सबै सयाने एक मति, उनकी एकै जाति।।

× × ×

सबै सयाने कहि गए, पहुँचे का घर एक।
दादू मारग माँहि के, तिनकी बात अनेक।।"

एक जगह दादूदयाल दुःखी होकर कहते हैं कि हिन्दू कहता है कि हमारा मार्ग ग्रहण करो और तुर्क कहता है कि मेरी राह पकड़ो। दादू पूछते हैं कि यह बताओ कि अल्लाह का पंथ कहाँ है-

"दादू हिन्दू मारग कहै हमारा, तुरक कहै रह मेरी।
कहां पंथ है कहौ अल्ह का, तुम तौ ऐसी हेरी।।"

भक्तिकाल की सामाजिक स्थिति अत्यन्त अव्यवस्थित थी। समाज आर्थिक स्तर पर दो वर्गों में विभाजित था। सन्त समाज आर्थिक असमानता से पूर्ण रूप से परिचित था। उन्होंने आर्थिक विषमता को देखकर अनुभव किया। सन्त समाज

सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को विद्रोह करने की दृष्टि से न देखकर उसको उपेक्षा की दृष्टि से देखा। उनकी भावना और आध्यात्मिक दृष्टि का फल यह हुआ कि उन्होंने सांसारिकता के प्रति निःसंग भाव रखा और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन साधनों का अंगीकार किया, वे अत्यन्त सीमित थे। सन्तों ने इन सीमित आवश्यकताओं को भी इसलिए स्वीकार किया कि वे शरीर धर्म से सम्बद्ध है। कबीरदास कहते हैं-

"साई इतना दीजिये, जामें कुटुबं समाय।
मैं भी भूखा ना रह, साधु न भूखा जाय।।"

सुन्दरदास ने आर्थिक असमानता को अपने समाज में चारों ओर के समाज में देखे और वे कहते हैं कि कोई दूध आदि से पेट भरते हैं और कोई हवा पीकर ही अपना भेट भरते हैं-

"कोऊ मोती फल, वास रस पथ पान।
कोऊ पौन पीवत, भरत पेट भार कूं।।"

निष्कर्षतः सन्त कवियों ने समाज में व्याप्त आडम्बरों का तीव्र विरोध किया। उस समय की सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था आदि सभी पक्ष को ठीक प्रकार से मूल्यांकित करके अपने विचारों को प्रस्तुत किए। सन्तों के विचार आज भी प्रासांगिक है, जिन्हें अपनाकर हम आज के भाग दौड़ की जिन्दगी में एक नई उम्मीद जगा सकते हैं। आज हम आधुनिकता की अन्धी दौड़ में मानवीय मूल्यों को खोते जा रहे हैं। सन्तों के विचारों का अनुसरण करके उन मूल्यों को प्राप्त किया जा सकता है, जिससे एक स्वस्थ समाज का निर्माण हो सकेगा।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश

संदर्भ ग्रंथ :

1. सन्तबानी संग्रह : भाग-1, बेलबेडियर प्रेस, पृष्ठ-50
2. सन्तबानी संग्रह : भाग-4, पृष्ठ-104
3. वही, पृष्ठ-95
4. सुन्दर ग्रन्थावली : प्रथम खण्ड, सं. पुरोहित हरिनारायण शर्मा, पृष्ठ-35
5. सन्तकाव्य, पृष्ठ-384
6. सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृष्ठ-35
7. मलूकदास जी की बानी, पृष्ठ-19

8. सन्तवानी संग्रह : भाग-2, पृष्ठ-49
9. धरमदास जी की शब्दावली, पृष्ठ-57
10. रैदस जी की बानी : पृष्ठ-7
11. गुरूग्रन्थसाहिब : गउड़ी, गाय अखरी, महला 5, पृष्ठ-252
12. सन्त कबीर : रागु आँसा पृष्ठ 107
13. सन्त काव्य : पृष्ठ-390
14. मलूकदास जी की बानी : पृष्ठ-39
15. कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ-20
16. रैदासबानी : पृष्ठ-98
17. सन्तसुधासार : पहला खण्ड, पृष्ठ-192
18. श्रीगुरुग्रन्थसाहिब : महला 5, पृष्ठ-253
19. रैदास जी की बानी : पृष्ठ-24
20. श्रीगुरूग्रन्थसाहिब महला 3, पृष्ठ-1417
21. मलूकदास जी की बानी : पृष्ठ-20
22. वही, पृष्ठ-36
23. रैदास जी की बानी : पृष्ठ-9, पद-16
24. सन्त काव्य : पृष्ठ-242
25. सन्तसुधासार, पृष्ठ-192
26. डॉ मदन गोपाल गुप्त, मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति, पृष्ठ-197
27. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ-30
28. डॉ. केशरी प्रसाद चौरसिया, मध्यकालीन हिन्दी सन्त विचार और साधना, पृष्ठ-193
29. मलूकदास की बानी, पृष्ठ-36
30. जयुर्जा, पृष्ठ-20
31. धरमदास जी की शब्दावली : पृष्ठ-73
32. मलूकदास की बानी, पृष्ठ-35
33. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ. 6
34. वही, पृष्ठ 32
35. डॉ. मदनगोपाल गुप्त, मध्यकालीन हिन्दी काव्य में संस्कृति, पृष्ठ-199
36. धरमदास की शब्दावली, पृष्ठ-63
37. दादूदयाल की बानी
38. वही
39. सन्तबानी संग्रह
40. सुन्दर विलास : पृष्ठ-44

सन्त कवि अक्षर अनन्य : दार्शनिक विचार

अरुण कुमार द्विवेदी

सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की पवित्र भावना से संश्लिष्ट बुन्देलखण्ड अपनी भक्ति परम्परा के अक्षय भण्डार एवं उपादेयता के लिए साहित्य जगत में विश्व विश्रुत है। बुन्देलखण्ड की भक्ति परम्परा अति प्राचीन होने पर भी नित्य नवीन है। बुन्देलखण्ड की धरती आदिकाल से ही वीर प्रसवा होने के साथ-साथ साहित्य प्रसव भी रही है। वर्तमान समय में उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश के कुछ क्षेत्रों को लेकर इसकी भौगोलिक सीमा का निर्धारण किया गया है। जैसे- चित्रकूट, बाँदा, महोबा, हमीरपुर, झाँसी, सतना, दतिया, पन्ना, सागर, छतरपुर आदि। बुन्देलखण्ड की धरती अल्प जल होने के कारण ऊपर से जितनी शुष्क एवं कठोर दिखाई देती है, नीचे से आर्द्रता के कारण उतनी ही कोमल एवं मनोरम है।

बुन्देलखण्ड में साहित्य रचना का कार्य प्राचीन काल से अनवरत् होता आ रहा है। आदिकाल में यह क्षेत्र वीरता पूर्ण रचनाओं के लिए प्रसिद्ध होने के साथ-साथ मध्यकाल में अपनी भक्तिपरक उपलब्धियों के लिए भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रकृति की मनोहर छटा से आच्छादित यह भूमि भक्तिकाल में रामकाव्य और कृष्णकाव्य की सृजन उर्वरा से समृद्ध है। आदिकवि वाल्मीकि द्वारा विरचित संस्कृत ग्रंथ 'रामायण' इस क्षेत्र की महनीय रचना है जो रामकथा का उपजीव्य ग्रंथ है। मध्यकाल में भक्ति के पुरोधा गोस्वामी तुलसीदास भी इसी मेखलाकृत अलंकृत भूमि के अलंकरण रहे हैं।

हिन्दी साहित्य में मध्यकाल का अधिकांश उत्कृष्ट साहित्य इसी क्षेत्र 'बुन्देलखण्ड' की कालजयी उपलब्धि है। पूर्व मध्यकाल में कवियों ने अपने काव्य का विषय जहाँ भक्ति, शृंगार और वीर को बनाया, वही उत्तर मध्यकाल में प्रमुख विषय के रूप में शृंगार, वीर और भक्ति को अपनाया।

मध्यकाल के प्रथम चरण भक्तिकाल (पूर्वमध्यकाल) में भक्ति प्रमुख तथा द्वितीय चरण रीतिकाल (उत्तरमध्यकाल) में भक्ति गौण रूप में प्रभावित करती है। इस भक्ति साहित्य के निर्माण में बुन्देलखण्ड का योगदान अविस्मरणीय है। पूर्वमध्यकाल में भक्ति साहित्य भक्त कवियों द्वारा किसी सम्राट या राजदरबार के अधीन न रहकर स्वतंत्र रूप से रचा गया जबकि उत्तरमध्यकाल का अधिकांश साहित्य राजाश्रयों में होने के कारण शृंगार की प्रमुखता के साथ कवियों ने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में भक्ति का आश्रय ग्रहण किया।

भक्ति परम्परा को समृद्ध करने में बुन्देलखण्ड के अनेक कवियों ने योगदान दिया, जिनमें गोस्वामी तुलसीदास, रहीम, बलभद्र मिश्र, हरिराम व्यास, केशव, बालकृष्ण मिश्र, गदाधर भट्ट, खेमदास, प्राणनाथ, अक्षर अनन्य, छत्रसाल, हरिसेवक मिश्र, पद्माकर आदि प्रमुख हैं। इन कवियों ने अपने-अपने काव्य में निर्गुण, सगुण या दोनों रूपों की महिमा का गुणगान किया है। संसार का बुद्धिजीवी वर्ग हिन्दी साहित्य की विपुल ज्ञान सम्पदा को पाकर इन मनीषियों के प्रति अद्यापि श्रद्धावनत् है। यही कारण है कि बुन्देलखण्ड की इन ज्ञान प्रवण आत्माओं का दैहिक व्यक्तित्व काल की असंख्य परतों से अवगुण्ठित होने पर भी उनके यश की उज्ज्वल कथा धरती और आकाश के साथ सदाशय रूप में सदैव अक्षुण्ण बनी रहेगी। ज्ञान के क्षेत्र में इतने सर्वसम्पन्न होने पर भी अद्यापि हिन्दी साहित्य में अनेक कवि रत्न अनाघ्रात एवं उपेक्षित है। महात्मा अक्षर अनन्य भी इसके अपवाद नहीं हैं।

बुन्देलखण्ड में भक्ति परम्परा को उच्च शिखर पर पहुँचाने का यश संत अक्षर अनन्य को प्राप्त होता है। संत अक्षर अनन्य 18वीं शताब्दी के निर्गुण मार्गी श्रेष्ठ कवि थे। उनका जन्म लगभग सं. 1710 वि. में म.प्र. के ओरछा में हुआ था।1 यहीं पर इनका लालन-पालन हुआ और किशोरावस्था तक ये यहीं रहे। 'धामपंथ' के प्रवर्तक श्रद्धा प्रणामी संत महामुनि प्राणनाथ इनके समकालीन थे। इनके वंशज श्री बाजूराव द्विजदास द्वारा दी गयी वंशावली से यह ज्ञात होता है कि ये कायस्थ कुल में उत्पन्न हुए थे और अद्वैतवादी संत थे। महात्मा अक्षर अनन्य प्रसिद्ध निर्गुण संत कवि कबीरदास की परम्परा में होते हुए भी इनका दर्शन उनसे साम्य रखने पर भी कुछ भिन्नता लिए हुए दिखाई पड़ता है। कबीर ने समाज में व्याप्त ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, जाति-प्रथा को समाप्त करने में जिस अक्खड़ता का परिचय दिया था, उसके परिणामस्वरूप लोगों की प्रति-क्रियात्मक भावनाओं को ही बढ़ावा मिला। कबीर ने पण्डितों एवं मौलवियों को यदि समझाने का प्रयास किया तो वह

भी अक्खड़पन की भाषा में। इस स्थिति में साधना, समन्वय और एकात्मकता की समस्या बनी हुई थी, जिसको हल करने का श्रेय संत अक्षर अनन्य को है। वस्तुतः हिन्दी साहित्य में जिस उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्रयास प्रारम्भ किए थे, उसकी पूर्ति महात्मा अक्षर अनन्य के साहित्य से हुई और इस प्रकार ज्ञानमार्गी सिद्धातों की पूर्ण अभिव्यक्ति हमें उन्हीं के साहित्य में मिलती है।

महात्मा अक्षर अनन्य की दृष्टि में जीव और ब्रह्म में भिन्नता न होकर समानता है। इसी से 'अनन्य' शब्द इनके नाम के साथ जोड़ा गया है। एक जनश्रुति के अनुसार देवी से वरदान स्वरूप 'अनन्य पद' माँगा था, इसलिए ये 'अनन्य' कहलाए। जो भी हो, ये शिव शक्ति के उपासक ज्ञानयोगी अवधूत कहलाए। इन्होंने अपने गुरु के प्रति आदिनाथ, गुरुनाथ, सर्वज्ञनाथ, फक्कड़नाथ जैसे शब्दों का प्रयोग किया है।

संत अक्षर अनन्य की शिक्षा-दीक्षा के सम्बंध में तनिक भी ज्ञात नहीं है, फिर भी इनकी रचनाओं से स्पष्ट है कि उन्होंने हिन्दी, संस्कृत, उर्दू भाषा के साथ-साथ काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि विषयों का गहरा अध्ययन किया था।

अद्वैतवाद के समर्थक महामति अक्षर अनन्य ने अपने साहित्य में सर्वत्र ही द्वैत का खण्डन कर अद्वैत का प्रतिपादन किया है। शक्ति के उपासक अक्षर अनन्य को 16 वर्ष की आयु में वैराग्य उत्पन्न हो गया था और पूरा जीवन ईश्वर की आराधना में समर्पित करने का दृढ़ संकल्प ले लिया।

निर्गुण संतों के विषय में प्रायः यह कहा जाता है कि वे पढ़े-लिखे नहीं या कम पढ़े-लिखे होते थे, लेकिन अक्षर अनन्य जी उन सारे मिथकों को तोड़ने वाले संत थे, जिनका सारा साहित्य स्वानुभूति पर आधारित है। आपके द्वारा लिखी हुई 25 कृतियों में अधिकांशतः भक्ति की वह धारा प्रवाहित हो रही है जो सभी मनुष्यों में भक्ति का संचार कर उनके दुःख-दर्द को दूर करने में समर्थ है। जैसे-महिमा समुद्र, उत्तम चरित्र, भवानी स्रोत, ज्ञान तरंग, वैराग्य तरंग, विवेक तरंग, गणेशाष्टक, अक्षर अनन्य के चिट्ठा, अनन्य प्रकाश, सिद्धान्त बोध, शृंगार योग, गुणान बत्तीसी, उपासना बोध, ज्ञान पंचाशिका, अक्षर अनन्य की साखी, भक्ति भावना आदि।2

ज्ञानमार्गी साधना पद्धति को उन्होंने अपनी भाषा, काव्य प्रतिभा तथा कला साधना के द्वारा जो स्पष्ट एवं सुलझा रूप दिया है, वह निर्गुण काव्यधारा (ज्ञानश्रयी शाखा) के किसी भी साहित्य में नहीं मिलता है। किसी भी विषय के प्रतिपादन में महात्मा अक्षर अनन्य का तर्क, व्याख्या, सिद्धान्त और परिभाषाएँ अपनी ओर अलग

हैं, जिसे पढ़कर आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है। अनेक छुटभइये सन्तों की भांति उनमें वह असहिष्णुता नहीं कि पौराणिक मान्यताओं में अवतारों को ये खरी खोटी सुनाते। आप निर्गुण संतों की भाँति किसी पंथ को चलाने में विश्वास नहीं रखते थे, बल्कि घृणा थी। आप वेद विरुद्ध पन्थ को कुपन्थ तथा वेद विरुद्ध धर्म को अधर्म मानते थे। इस आधार पर आप किसी धर्म की निन्दा को मूर्खता मानते थे।

पन्ना नरेश महाराज छत्रसाल यद्यपि कि प्राणनाथ के शिष्य थे, फिर भी वे इन्हें गुरु की भाँति अत्यधिक आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखते थे। पन्ना नरेश महाराज छत्रसाल के साथ आपका पत्र-व्यवहार होता रहता था जो स्वयं वीर एवं सत्कवि थे। एक आध्यात्मिक गुरु के रूप में अक्षर अनन्य इन्हें उपदेशित करते रहते थे। 18वीं शती के उत्तरार्द्ध में अक्षर अनन्य दतिया राज्य की जागीर 'सेवढ़ा' चले गये। संयुक्त राज्य दतिया से इस जागीर के अलग होने पर महाराज पृथ्वी सिंह 'रसनिधि' इनके प्रथम अधिपति हुए। ये आयु में अक्षर अनन्य से छोटे तथा उनके शिष्य थे। इनका अक्षर अनन्य से पत्र-व्यवहार होने के कारण अपने चिट्ठे के माध्यम से प्रभूत उपदेश दिया था। अक्षर अनन्य के सेवढ़ा आगमन का मूल कारण अध्यात्म प्रेमी राजा का अनुरोध और इनसे प्रगाढ़ लगाव था। अतः यहीं सिन्धु नदी के पवित्र तट पर इन्होंने अपना आश्रम बनाया।

सेवढ़ा में जीवन का अधिक समय बिताने के पश्चात् अक्षर अनन्य आठ मील दूर स्थित ग्राम 'रूहेरा' में जाकर रहने लगे। यहाँ पर एक मठी का निर्माण कर निवास करने लगे, जिसे आज भी लोग 'अनन्य की मठी' के नाम से जानते हैं। लगता है महाराज पृथ्वी सिंह की मृत्यु के बाद सेवढ़ा को छोड़ा होगा। इनकी मृत्यु के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है कि कब और कहाँ हुई। अनुमानतः महात्मा अक्षर अनन्य सं. 1800 वि. तक अवश्य ही वर्तमान रहे होंगे। पन्ना नरेश महाराज छत्रसाल तथा अक्षर अनन्य के बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ है, उससे निस्सन्देह रूप से यह प्रकट होता है कि 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अक्षर अनन्य की गणना सिद्ध महात्माओं की कोटि में की जाने लगी थी किन्तु इससे उनके वैयक्तिक जीवन पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता।

कवि अक्षर अनन्य की वंशावली बाजूराय द्विजदास के द्वारा बतायी गयी है जिसका उल्लेख अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव जी ने 'अक्षर अनन्य ग्रन्थावली' में इस प्रकार किया है-

वंशावली

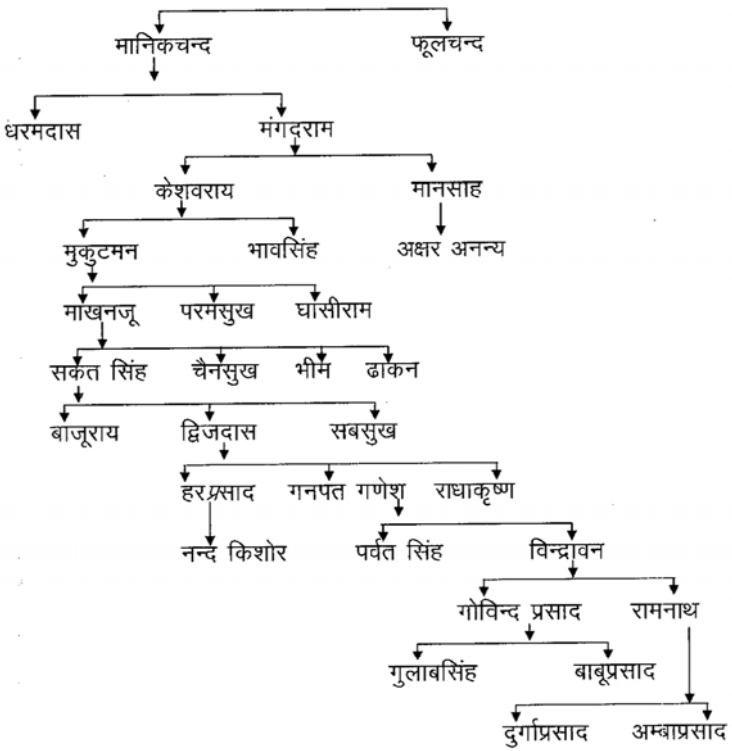

दार्शनिक विचार

(1) ब्रह्म

समस्त उपनिषद साहित्य की रचना ब्राह्मण साहित्य की कर्मकाण्डी प्रवृत्ति के विरोध में हुई है। बहुदेववाद व कर्मकाण्ड की धज्जियाँ इसी साहित्य ने उड़ायी थी। महात्मा कबीर के समय भी देवोपासना एवं ब्राह्मणों द्वारा नियंत्रित हिन्दू धर्म की प्रवृत्ति का

बोलबाला था। वस्तुतः ब्रह्म की एकत्व भावना वैदिक अद्वैतवाद की आधार भूमि है। अद्वैत के सिद्धान्त वाक्य 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' और 'एकमेवाद्वितीयं नास्ति' द्वारा भी यही सिद्ध हुआ है, एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है अन्य कुछ भी नही।

वृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप निम्न प्रकार वर्णित है-

"यह मोटा भी नहीं, पतला भी नहीं, छोटा भी नहीं, बड़ा भी नहीं, लोहित भी नहीं, स्नेह भी नहीं, अन्धकार भी नहीं, वायु भी नहीं, आकाश भी नहीं।"4

"वह शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित, रस रहित, ग्रन्थ रहित है।"
-कठोपनिषद्

ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप के विषय में उपनिषदों ने 'नेति-नेति' कहकर अपनी असमर्थता जाहिर की है, उसी प्रकार कबीर ने इस ब्रह्म को 'अकथ कहानी' तथा 'गूंगेकेरी सरकरा' जैसी उक्तियों से परिभाषित किया है।

संत कवि अक्षर अनन्य शिवतत्व के अद्वयरूप को ही परम तत्व (ब्रह्म) स्वीकारते हैं। अतः जहाँ भी उन्हें ब्रह्म के प्रति संकेत करने की आवश्यकता हुई, उन्होंने 'शिवशक्ति' शब्द का ही प्रयोग किया है। सत्रूपेण व्याप्त शिवतत्व ही आनन्द रूप में स्थित रहता है तथा चिद्रपिणी शक्ति के द्वारा ही सृजन, स्थिति, संहारादि क्रियाएँ सम्भव होती हैं। परिणामतः त्रिगुणरूप त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उत्पत्ति होती है-

"हरि हर ब्रह्म हम तुम सब ब्रह्म ही में
हम कैसे भूषण सरूप सब वाही के
नाम सब वाही के है, काम सब वाही के।।"5

समस्त देवी-देवताओं में, अवतारों में अक्षर अनन्य जी को नाम मात्र का ही भेद दिखाई देता है। उससे परे वे शिव-शक्ति की सत्ता ही स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार जिस प्रकार आतिश और आग अलग-अलग नामों से अभिहित एक ही तत्व है, उसी प्रकार विविध नामों से कहा जाने वाला तत्व भी अलग-अलग नहीं। सदाशिव और खुदा जैसे अलग-अलग नाम उस परम तत्व में कोई अन्तर उत्पन्न नहीं करते-

"वेद कितेब प्रमान यहै, मरजाद यहै नहि तत्व जुड़ा है।
आतिस आग अनन्य भनै, जगजोई सिदाशिव सोई खुदा है।।"6

कवि अक्षर अनन्य शब्द अर्थ और प्रत्यय को शक्ति एवं सृष्टि के समान एक ही तत्व मानते हैं, किन्तु नाम भेद के कारण उनमें भेद प्रतिभासित होता है। ब्रह्म

का आत्मस्वरूप निर्विकार है। ब्रह्म में ही परा, सूक्ष्म तथा स्थूल शब्द तीनों विद्यमान रहते हैं। अनन्य जी समस्त सृष्टि में सत्-चित्-आनन्द रूप ब्रह्म की व्याप्ति स्वीकारते हैं।

कबीर के अनुसार परमतत्व के सत्य रूप को कोई नहीं जानता और लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से उसके रूप का निरूपण करते हैं-

"जस तू तस तोहि कोहू न जान।
लोक कहै सब आनहि आन।।"[7]

संत अक्षर अनन्य की दृष्टि में हरि, हर, ब्रह्म परमतत्व के समान ही है, चर में चर रूप में, अचर में अचर रूप में, देवताओं में देव रूप में, छोटे-बड़े में छोटे-बड़े रूप में वही तत्व सर्वत्र व्याप्त है। शून्य-ज्योति, ईश्वर-जीव, ब्रह्म- माया, शिव-शक्ति, प्रकृति-पुरुष सब कुछ वही है। उस तत्व के विषय में जो व्यक्ति जैसे सुनता है, अनुभव करता है, उसी प्रकार की धारणा बना लेता है। निर्गुण-सगुण के भेद में संसार व्यर्थ ही भटकता रहता है, उस तत्व को परिपूर्ण मानकर चलना ही एक मात्र मार्ग है–

"निरगुण सरगुन भेद में, भरम रह्यों संसार।
परिपूरन सिव सक्ति प्रभु, कौलख अलख विचार।।"

2. जीव

जीव वर्णन की परम्परा वैदिक काल से दिखाई पड़ती है। दार्शनिक दृष्टि से जीव के विषय में दो मत प्राप्त होते हैं-प्रथम ब्रह्म, जो विषय भोगों से उदासीन है तथा द्वितीय सांसारिक जीव, जो इस संसार के समस्त विषय भोगों का उपभोग करता है। ऋग्वेद में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है-

"दवा सुवर्णा सगुना सखाया समानं वृक्षं परिस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद वत्यनानश्नमन्यी अभिचातशीति।।"

उपनिषद में भी आत्मा (जीव) को ब्रह्म कहकर उसे परम ज्योति स्वरूप बतलाया गया है-

'अयमात्मा ब्रह्म'-वृहदारण्यकोपनिषद्

वेदान्त ग्रन्थों में आत्मा (जीव) को नित्य, शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त स्वभाव वाला माना गया है और उसे 'स्वप्रकाश' भी बताया गया है। इसके अनुसार जीव ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही जीव। जीव और ब्रह्म में जो भेद दिखाई देता है, वह भ्रमजन्य है।

गीता में भी आत्मा के स्वरूप का निरूपण अत्यन्त अनूठे ढंग से किया गया है। इसमें आत्मा को अजर-अमर, शाश्वत-नित्य और पुरातन बताया गया है-

"या एनं वेति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।"[8]

आचार्य शंकर के मतानुसार जीव ईश्वर के अधीन रहने वाला है। ईश्वर से जीव के सम्बन्ध बन्धन और मोक्ष के रूप में होते हैं। ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होने से मोक्ष और अज्ञान सें बन्धन प्राप्त होता है।

"जीव ईश्वर का अंश है।"[9]

आचार्य शंकर आत्मा और ब्रह्म की एकता को 'तत्वमसि' वाक्य से सिद्ध करते हैं।

महात्मा कबीर ने भी आत्मा (जीव) को परमात्मा का अंश स्वीकार किया है। जिस प्रकार अद्वैतवादियों ने उपनिषदों का आधार लेकर ब्रह्म और आत्मा की एकता को स्थापित किया, उसी प्रकार कबीर ने भी अंश-अंशी भाव की अवस्थिति सर्वत्र मानी है। अपने रहस्यवाद में कबीर ने सर्वत्र आत्मा और परमात्मा का ऐक्य स्थापित किया है-

"प्रीतम कू पतिया लिखूँ, जो कहीं होय विदेस।
तन में, मन में, नैन में, ताको कहा संदेश।।"

कबीर ने आत्मा (जीव) और परमात्मा का पृथकत्व माया के कारण स्वीकार किया है, माया का आवरण हटते ही आत्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं। कबीर के मतानुसार-

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल-जलहि समाना, इहि तथ कथ्यौ ग्यानी।।"[10]

कबीर की मान्यता रही है कि शरीर में ब्रह्माण्ड का ही लघु संस्करण है-

"ब्रह्माण्डे सौ प्यण्डे जानि"

संत परम्परा में कवि अक्षर अनन्य ने भी दार्शनिक दृष्टि से जीव की स्थिति के विषय में अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया है। उनके मतानुसार जीव और ब्रह्म के एक होने की स्थिति में भी अविद्या के कारण व्यक्ति स्वयं को भूल जाता है तथा अविद्या का विनाश होने पर वही ब्रह्म रूप, आत्म रूप को प्राप्त हो जाता है-

"जीव ब्रह्म निज जाति एक है, यह संदेह न मानौ
मिलै अविद्या जीव भयौ, मिलि विद्या ब्रह्म बखानौ।

× × ×

अछिर अनन्य कही यह गाथा, बीच भरम करि दूरी
प्रथीचंद नृप जानि जुगति मत, यहै ग्यान गति पूरी।।"[11]

उनका मत है कि माया तथा पंच कंचुकों के प्रभाव के कारण ही शिव रूप जीव अपने सर्व कर्तृत्व तथा सर्वज्ञता आदि गुणों को भूलकर अपने को संकुचित सीमा में बँधा हुआ अनुभव करता है, राग तत्व उसके नित्य तृप्तित्व गुण को संकुचित कर देता है, जिसके कारण जीव विषय वासनाओं में लिप्त होता है और सुख-दुःख का अनुभव करता है। शुद्ध विद्या के द्वारा जब अविद्या जनित आवरण की निवृत्ति होकर अभेदमूलक बुद्धि का उदय होता है, तब वही जीव ईश्वर के रूप में परिणत होकर शक्ति सम्पन्न हो जाता है।

महात्मा अक्षर अनन्य के मतानुसार जिस प्रकार भूपति, किसान, एवं सिद्ध पुरुष तीनों ही यद्यपि समान रूप से मनुष्य हैं, उसी प्रकार जीव, ईश्वर तथा शिव में मात्र कर्म गुणों के कारण भेद परिलक्षित है अन्यथा कोई भेद नहीं है-

"व्यापक अविद्या पाप धरम करम बंध्यौं
याही तै कहत जीव दुखित खराब है
भूपति किसान सिद्ध नर जौ अनन्य भनै
एक आत्मा के तीन करनी खिताब है।।"[12]

इस प्रकार जीव के विषय में अक्षर अनन्य जी की मान्यता अन्य सन्तों से साम्य रखते हुए भी विशिष्टता लिए हुए है, जो अन्य सन्तों से इन्हें अलग करती है।

3. माया

माया शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से निरन्तर होता आ रहा है। वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, पुराणों तथा साहित्य आदि में सर्वत्र माया का उल्लेख और विवरण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है।

"आचार्य सृष्टि को परमार्थिक सत्य नहीं मानते। जो असत्य है, वही माया या अविद्या है। उन्होंने कर्म को अविद्या माना है।"[13]

'ऋग्वेद' में कहा गया है कि "इन्दोमायाभि पुरुषरुपईयते" अर्थात् इन्द्र अपनी माया से अनेक रूप धारण करता है।

सायण (14वीं शती) ने ऋग्वेद का भाष्य करते हुए उसमें सौ से भी अधिक बार प्रयुक्त होने वाले 'माया' शब्द तथा 'मायिन' आदि रूपों का कभी शक्ति अर्थ लिया है, तो कहीं प्रज्ञा, अभिज्ञा या अभिज्ञान।

"होता देवो अमर्त्यः पुरस्ताद् एति मायया"[14]

ऋग्वेद में प्रयुक्त 'माया' को उन्होंने अग्नियों का 'कर्म विषयाभिज्ञान' कहा है। माया का उल्लेख 'अर्थर्ववेद' में इस प्रकार मिलता है-

'यत्रदेवाश्च मनुष्याश्चारानाथ इव स्थिताः।
अपात्वा पुष्प पृच्छामि यत्रतन् मायया हितम्।।"[15]

अर्थात् वह जो जीवों (देवों और मानवों) का आदिकारण है, देव और मनुष्य जिस 'एक' में अवस्थित हैं, जो समग्र विश्व का केन्द्र है और स्वयं कमलमूल की भाँति प्रच्छन्न रहकर कमलदण्ड तथा पुष्प की तरह समग्र व्यक्त विश्व को सृष्ट तथा परिस्फुट करता है-वह 'एक' जो 'सर्व' भी है माया से ही उद्भूत भी।

वृहदारण्यक उपनिषद् (2/5/19) में ऋग्वेद 6/47/18 को उद्धृत करके माया को शक्ति अर्थ में स्वीकारा गया है तो प्रश्नोपनिषद में 1/16 में माया को जिह्वा (कुटिलता) और अनत (झूठ) के समशीत (कपट) के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

गीता में भी अपने अव्यक्त स्वरूप से सारे जगत का निर्माण करने वाली परमेश्वर की अचिन्त्य शक्ति को माया कहा गया है।

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृति स्वामधिष्ठाय संभवाभ्यात्म मायया।।"[16]

संतसाहित्य में माया की चर्चा पग-पग पर मिलती है। महात्मा कबीर ने माया का वर्णन अद्वैतियों के समान मिथ्या मानकर किया है। कबीर की माया धर्म और स्वभाव से साध्यवादियों की प्रकृति से बहुत मिलती-जुलती है। सांख्यानुरूप ही कबीर ने इसे ब्रह्म से सम्बद्ध और त्रिगुणात्मक प्रकृति युक्तमान हैं- "राजस, तामस, सातिक तीन्यू से सब तेरी भाषा।" माया ने समस्त संसार को अपने वश में कर चरित्र को भ्रष्ट कर रखा है, इसलिये महात्मा कबीर ने उसे (माया) को व्यभिचारिणी तक कह डाला है-

"तू माया रघुनाथ की, खेलड़ चढ़ी अहेडै
चतुर चिकारे चुणि-चुणि मारे कोइद छोड़ या नेडै
× × ×
दास कबीर राम के सरनै, त्यू लागी त्यू तोटी।।"[17]

इस माया से मुक्ति प्राप्ति हेतु कबीर ने एक मात्र उपाय प्रभु भक्ति बताया है। इसी भक्ति के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि-

"कबीर माया पापिणी, फंध ले बैठी हाटि।
सब ज तो फंसे पड़या, गया कबीरा काटि।।"

माया का वर्णन सूरदास ने भी अत्यन्त विस्तार से किया है। बल्लभाचार्य की भाँति ये भी माया के दोनों रूप-'विद्यामाया' तथा अविद्यामाया की बात करते है उन्होंने अविहत माया को नटिन, महामोहिनी, भुजंगिनी आदि नामों से अभिहित किया है-

"माया नटिनि लकुट कर लीने कोटिक नाच नवाते।
महामोहिनी मोहि आत्मा, मन घट माहि लगावै।।"[18]

अविद्यामाया अपनी मोहकता के कारण समस्त संसार को अपने वशीभूत कर लिया है। इसीलिए सब प्रकार से निराश होकर सूरदास ने भगवान श्रीकृष्ण से समस्त अविद्या दूर करने की प्रार्थना की है-

"सूरदास की सबै अविद्या दूरि करहुँ नन्दलाल"[19]

'अक्षर अनन्य' जी के माया के सम्बन्ध में दिए गये विचार हम सभी के लिए अनुकरणीय है। उनके मतानुसार माया के वशीभूत होने के कारण सभी मनुष्यों को ब्रह्म और माया में अन्तर होने का आभास होता है, किन्तु जिस प्रकार ज्वाला और अग्नि तथा काया और देह में नाम मात्र का अन्तर है, उसी प्रकार ब्रह्म और माया एक ही परमतत्व के दो नाम हैं।

4. जगत

सृष्टि विषयक जिज्ञासा सर्वप्रथम ऋग्वेद से प्राप्त होती है। उसमें कहा गया है कि "यह सृष्टि जैसे उद्भूत हुई है उसने ही इसे बनाया या नहीं बनाया, जो इस का स्वामी है, संभव है वह इसको जानता हो या न जानता हो।"

'कठोपनिषद्' में सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में उल्लेख है कि जैसे एक चिनगारी मात्र से तमाम अग्नि समूहों एवं चिनगारियों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार एक ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है-

"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं, रूपं प्रति रूपो वभूव।
एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रति रूपो वहिश्च।।"

'मुण्डकोपनिषद्' में एक ही अक्षय तत्व से सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी है-

"यथा सुदीप्ताद् पावकाद् विस्फुल्लिंगा प्रभवते सरूपा।
तथा क्षराद् विविधा साम्यभावा प्रजायन्ते तम् चदापियन्ति।।"[20]

'प्रश्नोपनिषद्' में कहा गया है कि उसने (अक्षर तत्व) सर्वप्रथम प्राण का सृजन किया, उससे श्रद्धा, वायु, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र, कर्म और लोक आदि की सृष्टि हुई।

'श्रीमद्भागवद्गीता' में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि-

"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतु नानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।"[21]

दार्शनिक दृष्टि से भक्तिकाल के कई संत कवियों ने जगत उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं। महात्मा कबीर ने अद्वैतवादियों के समान 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त को अपनाकर संसार की सत्ता को मिथ्या मानते हैं तथा इस संसार को सेमल फूल, आकाश नीलिमा, धुँआ आदि के समान क्षणिक सिद्ध करते हैं-

"यह ऐसा संसार है, जैसा सेमल फूल।
दस दिन के व्यवहार में, झूठे रंग न भूल।।"[22]

कबीर की दृष्टि में ईश्वर स्मरण के बिना यह मिथ्या संसार, जिसकी स्थिति क्षणिक है और भी अधिक दुःखदायी है, क्योंकि सर्वदा कच्चे धागे में लटकी तलवार की भाँति काल सिर पर आसीन रहता है-

"रामा बिना संसार धुंध कुहेरा। सिर प्रगटया जग का केरा।।"

कबीर का विश्वास है कि इस दुःखमय संसार से तब तक छुटकारा नहीं मिल सकता, जब तक हमारा मन निराकलुष न हो-

"जब लगि मनहि बिकारा, तब लगि नहि छूटै संसारा।
जब मन निर्मल करि जाना, तब निर्मल माहि समाना।।"

कवि सूरदास जी ने जगत को ब्रह्म का परिणाम माना है। उनका कहना है कि जैसे पानी और बुलबुले में कोई तात्विक भेद ठीक नहीं, उसी प्रकार ब्रह्म और जगत में कोई अन्तर नहीं है-

"ज्यौ पानी में होत बुदबुदा, पुनि ता माहि समाइ।
त्यौं ही सब जग प्रगट तुम तें, पुनि तुम माहि बिलाइ।।"

महात्मा सूरदास संसार को मिथ्या मानने को तैयार नहीं। उनका विश्वास है कि जिस जगत में भगवान का गुणगान करके जीव तरता है, उसे कैसे मिथ्या कहा जा सकता है-

"सो जग क्यों मिथ्या कहि जाय। जहाँ तरै तुम्हरे गुन गाय।

शाक्त दर्शन के अनुसार जगत शिवशक्ति तत्व से पूर्णतया अभिन्न है। वेदान्त दर्शन ईश्वर को जगत का निमित्त और उपादान कारण दोनों मानता है किन्तु शाक्तों की मान्यता है कि कार्य रूप जगत कारण रूप शिव शक्ति तत्व में निरन्तर वर्तमान रहता है।

सृष्टि का उदय होने के पश्चात भी जगत उस परमतत्व से पृथक नहीं होता, अपितु जिस प्रकार समुद्र में उत्पन्न लहरों की स्थिति उस तत्व से अलग सम्भव नहीं, उसी प्रकार विराट रूप शिव तत्व में समस्त चराचर जगत एवं अखिल ब्रह्माण्ड की प्रतीति होती है। महात्मा अक्षर अनन्य कहते हैं-

"सर्वदा जक्त वा तत्व माहि, कहुँ भयौ गयौ सुभवत नाहि।
जैसे समुद्र लहरै सुभाय, त्यौ करता महं संसार आव।।"

अथवा,

जैसे लहरै सिंधु मंझारा, ऐसे ईश्वर महँ संसारा।।
एक पिता एकै है भाई, दूजी जाति कहाँ तै आई।।

कवि अक्षर अनन्य की दृष्टि में स्वर्ण एवं स्वर्ण रचित आभूषणों में, सागर एवं लहरों में, काष्ठ एवं काष्ठ निर्मित वस्तुओं में तथा भूमि और भवनों में जिस प्रकार तत्वतः कोई अन्तर नहीं है, उसी प्रकार कारण रूप शिवशक्ति और कार्य रूप जगत में अभेद है। उस एक ही के कारण से अनेक कार्यों की उत्पत्ति होती है, उसके बिना प्रस्तुत दृश्य जगत का उदय संभव नहीं-

"भूषन हाटक सागर घाटक, काठ, कपाटक नाम कहै है
भूमि सु भौननि, खांड खिलौननि, यौननि के उनमान वहै है

× × ×

यो तत रूप अनन्य भनै, न बिना तत अन्नि यहै उर आनी
एक तै रूप अनेक लहै, सु अनेक में एक लहै सुई ग्यानी।।"[23]

अन्यत्र भी कहते हैं कि-

"विस्व सकल सिव सक्ति महं, सूच्छम रूप समूल।
ज्यौ तरुवर के बीज महं, डार पात फल फूल।।"

महात्मा अक्षर अनन्य सम्पूर्ण चराचर जगत को शिवशक्ति के रूप में ही देखा था-

"जानि परापर जक्तमय, श्री शिवशक्ति विलास"

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बुन्देलखण्ड की सन्त परम्परा में महात्मा अक्षर अनन्य का महत्वपूर्ण स्थान है। महात्मा अक्षर अनन्य ने बुन्देलखण्ड की धरा पर भक्ति की जो धारा प्रवाहित की, उस पवित्र भक्तिधारा में स्नान कर सामान्य जन अपने को धन्य महसूस कर रहा है। उनके दार्शनिक विचार सैकड़ों वर्षों के बावजूद आज भी हम सभी के लिए प्रासंगिक बने हुए हैं। उन्होंने अपने ज्ञान तथा उपदेशों द्वारा समाज में व्याप्त ऊँच-नीच अमीर-गरीब, जाति-पाँति, धर्म-अधर्म के भेद को समाप्त कर एकेश्वरवाद एवं विराट मानव धर्म की स्थापना के साथ व्यक्ति में सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम, ममता, भ्रातृत्व की भावना को स्थापित करने का प्रयास किया तथा वर्गगत उच्चता तथा निम्नता की समस्या का समाधान करते हुए वर्ग विहीन समाज की स्थापना के साथ भाषागत समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया।

निःसन्देह हम कह सकते हैं कि महात्मा अक्षर अनन्य की वाणी आज के भौतिकवादी संसार को सुबुद्धि, सदाचार और संस्कार देने में नितान्त सक्षम है। इनके द्वारा बताई गयी आदर्श जीवन शैली आज के थके-हारे दिशाहीन मनुष्य को सन्मार्ग प्रदान करेगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इनके साहित्य के रहते हुए किसी अन्य 'आर्ट ऑफ लिविंग' की आवश्यकता नहीं होगी, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. No.- 9554032587
Email- arunduivedi431@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव, अक्षर अनन्य ग्रन्थावली, पृ. 19
2. अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव, अक्षर अनन्य ग्रन्थावली, पृ. 25
3. अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव, अक्षर अनन्य ग्रन्थावली, पृ. 39
4. वृहदारण्यकोपनिषद्
5. अक्षर अनन्य, ज्ञान तरंग, पद-23
6. अक्षर अनन्य, ज्ञान पंचासिका, पद-18
7. श्याम सुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली, पृ. 47
8. श्रीमद्भागवद्गीता, अध्याय द्वितीय, श्लोक 19
9. ब्रह्मसूत्रभाष्य 3/2/5

10. श्याम सुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली
11. अक्षर अनन्य, अक्षर अनन्य के चिट्टा (6-15), पृ. 209
12. अक्षर अनन्य, उपासना बोध पद्य 10
13. ईशावास्योपनिषद्, भाष्य 9
14. ऋग्वेद 3/27/7
15. अथर्ववेद 10/8/34
16. श्रीमद्भागवद्गीता 4, 6
17. श्याम सुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली, पृ. 65
18. डॉ. नीरजा टण्डन/सत्यनारायण त्रिपाठी, सूर सौरभ
19. कठोपनिषद् 2/2/9
20. मुण्डकोपनिषद् 2/1/2
21. श्रीमद्भागवद्गीता अध्याय 6, श्लोक 10
22. श्याम सुन्दरदास, कबीर ग्रन्थावली
23. अक्षर अनन्य ग्रन्थावली, अम्बा प्रसाद श्रीवास्तव

तुलसीदास की सामाजिक चेतना

अभिषेक दांगी

गोस्वामी तुलसीदासजी भक्त कवि थे। तुलसीदासजी को राम-भक्ति शाखा का प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। भक्तिकाल के अंतर्गत रामभक्ति शाखा की एक परम्परा रही है, जिसमें रामानन्द, तुलसीदास, अग्रदासस, नाभादास, सेनापति आदि कवि सम्मिलित किये जाते हैं। इन सभी कवियों में तुलसीदासजी का नाम रामभक्ति शाखा में बड़े ही आदर के साथ लिया जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी का काव्य पवित्र गंगाजल के समान मोक्ष प्रदान करने वाला है। तुलसी ने वैदिक एवं अध्यात्मिक धर्म दर्शन के गूढ़ विषय को लोगों व समाज के समक्ष ऐसे प्रस्तुत किया है कि आज सम्पूर्ण हिन्दू समाज उनके द्वारा स्थापित रामदर्शन को अपनी आस्था एवं पहचान का प्रतीक मानने लगे हैं।

गोस्वामी तुलसीदास का जन्म जिस युग में हुआ था, उस समय हमारे समाज के समक्ष कोई उच्च आदर्श नहीं था। सम्पूर्ण समाज विच्छित, विश्रृंखलित, लक्ष्यहीन हो गया था। लोक मंगल की कामना रखने वाले तुलसी ने तत्कालीन समाज की पीड़ा, प्रवावरणा से तादात्म्य स्थापित कर उसका सच्चा प्रतिबिंब अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। उन्होंने साधनहीन, अभावग्रस्त, दीनहीन जाति का उद्धार, असुर संहारक, पुरूषोत्तम राम का मर्यादावान दिव्य लोक के अनुकरण योग्य चरित्र-चित्रण कर युगीन समाज पर प्रभाव डालने का काम किया है। इसलिए उन्होंने तंद्राग्रस्त समाज के निर्माण के लिए लोक ग्राह्य पद्धति को आधार बनाकर मर्यादा पुरूषोत्तम राम के लोकोपकारी एवं कल्याणकारी चरित्र का आदर्श प्रस्तुत कर आध्यात्म और धर्म को जीवन में उतारने का वंदनीय कार्य किया है।

युग दृष्टा कवि तुलसी ने बड़ी निर्भिकता से अपने युगीन राजाओं की कुरीतियों, स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति, निरंकुश शासन एवं जनता की संत्रस्त दशा और अर्थहीनता का वर्णन कर तत्कालीन आर्थिक परिस्थिति का इस प्रकार वर्णन किया है-

"खेती न किसानको,भिखारीको न भीख,बलि,
बनिकको बनिज,न चाकरको चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई,का करी?"[1]

हेराम! मैं आपकी बलि जाता हूँ (वर्तमान समय में) किसानों की खेती नहीं होती, भिखारी को भीख नहीं मिलती बनियों का व्यापार नहीं चलता और नौकरी करने वाले को नौकरी नहीं मिलती। इस प्रकार जीविका से हीन होने के कारण सब लोग एक-दूसरे से कहते हैं, कि कहाँ जायँ और क्या करें (कुछ सूझ नहीं पड़ता)। तुलसी ने अपने समय के समाज को एक रास्ता दिखाने की कोशिश की है जो सामाजिक धरोहर को विकृत होने से निश्चित ही बचायेगा।

तुलसीदास का सम्पूर्ण साहित्य सृजन लोकमंगल के काव्यप्रयोजन से परिपूर्ण है। तुलसी ने लोक के कल्याण की बात सम्पूर्ण साहित्य में की है। तुलसीदास की लोकमंगल की भावना उनके सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य रामचरितमानस में इस प्रकार देखने को मिलती है-

"कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।"[2]

तुलसी लोक के लिए चिंतित कवि माने जाते है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके, क्योंकि भारतीय समाज में अनेक प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधना विचार और धर्म सिद्धांत प्रचलित रहे हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे। गीता में समन्वय की चेष्ठा की गई और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे। वस्तुतः गोस्वामी जी का सारा काव्य ही समन्वय की विराट चेष्ठा है। क्योंकि तत्कालीन भारत भूमि यवनों से आक्रांत थी। यवन-दानव अवर्णनीय अत्याचार कर रहे थे। ऊपर से भारत भूमि रक्षक, हिन्दू धर्म संरक्षक और संवर्धक भी भक्षक बन गये थे। आडम्बर एवं भ्रष्टाचार धार्मिक संस्थानों में घुस गया था। इसलिए भक्ति का स्वस्थ स्वरूप विलुप्त हो गया था। निर्गुण और सगुण ज्ञान और भक्ति का विरोध चल रहा था। शैव-शाक्त-वैष्णव में परस्पर द्वन्द्वलीन दिखाई पड़ते थे। दर्शन के क्षेत्र में भी विभिन्न वादों का संघर्ष हो रहा था। सामाजिक जीवन वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना के कारण अव्यवस्थित हो गया था और पारीवारिक जीवन की व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना ने विश्रृखलित कर दिया था। अनैतिकता सभी प्रकार से फलफूल रही थी। विभिन्न राजाओं ने संधिया करके भोग विलास की प्रवृत्ति को अपना लिया था। समाज के जो बुद्धिजीवी लोग

थे वह चाटुकार बन बैठे थे। संपूर्ण देश की प्रजा सहिष्णुता आदि सदगुणों की घुट्टी पीकर निष्क्रिय संवेदना शून्य और चेतना रहित मृतप्राय हो रही थी। तुलसीदास की अंतरात्मा देश की इस विषम अवस्था को देखकर सिहर उठी, उन्होंने अपनी लोकमंगल की भावना से कर्म विहीन, मूर्ख एवं पथभ्रष्ट समाज को विषमताओं से निकालकर समन्वय स्थापित करने का सजह प्रयत्न किया और रामचरित को आधार बनाकर जनता के हृदय को छूकर प्रेम और विश्वास की सरस धारा प्रवाहित की। तुलसी द्वारा रचित रामचरितमानस ही रामभक्ति शाखा का सर्वश्रेष्ठ और आधार ग्रंथ है। तुलसीदास ने राम के व्यक्तित्व को आदर्श व्यक्तित्व के रूप में स्थापित करने की कोशिश की है। इस कार्य में तुलसी को सफलता भी हासिल हुई है राम का व्यक्तित्व हर प्रकार से समायोजन करके चलता है। राम के व्यक्तित्व को दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है। एक नायक राम का रूप, दूसरा दार्शनिक राम का रूप। राम को धीरोदात्त, क्षत्रिय कुलोत्पन्न, शक्तिशाली, सौन्दर्यपूर्ण एवं आदर्श युक्त व्यक्तित्व के धनि के रूप में माना गया है, वही उनके नायक का रूप है। इनके अलावा रामचरित मानस के राम सामंतवादी व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह करने वाले भी हैं। तुलसीदास ने राम को ब्रह्म के अवतार रूप में ग्रहण कर निर्गुण और सगुण दोनों का ही संयुक्त रूप माना है। यही उनके दार्शनिक राम का रूप है। तुलसी ने बह्म राम के अंतर्गत राम का विश्व रूप दिखाया है। इसमें राम के अंतर्गत निर्गुण का मिश्रण भी है। तुलसीदास कहते है-

"सगुणहि अगुणहि नहिं कछु भेदा।
गावहि मुनि पुरान बुध वेदा।।
अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।"[3]

उक्त चौपाई में तुलसीदास जी अपने वेद-पुराणों के द्वारा अर्जित ज्ञान के आधार पर कहते हैं- सगुन और निर्गुण में कुछ भी भेद नहीं है, मुनि, पुराण पंडित और सभी ऐसा कहते हैं। जो निर्गुण, अरूप (निराकार) अलख (अव्यक्त) और अजन्मा है, वही भक्तों के प्रेमवश सगुण हो जाता है।

तुलसीदास तत्कालीन राज्य व्यवस्था से असंतुष्ट थे। सम्पूर्ण कलियुग उस समय की राज्य व्यवस्था का उद्घोष करता है। मानव जीवन भक्ति के साधनों के लिए आधार स्तम्भ है। भक्ति में श्रध्दा को प्रमुख साधन माना गया है। तुलसीदास की भक्तिभावना लोक कल्याण से परिपूर्ण है। अतः मानस की भक्ति का प्रभाव प्रायः सभी भक्ति काव्यों पर पड़ा है। तुलसीदास ने रामराज्य का आदर्श वर्तमान के सभी 'शासकों के सामने रखा है। जिसे महात्मा गाँधी ने अपने जीवन का आदर्श

एवं सिद्धांत घोषित किया है। तुलसीदास ने रामराज्य के रूप में जिस आदर्श समाज की कल्पना की है, उसमें न्याय, स्वातंत्र्य, प्रेम और मैत्रि भाव का सम्मिलन है।

तुलसीदास ने रामचरितमानस का संगठन तत्कालीन सामाजिक आवश्यकताओं को अपने सामने प्रकाशित करके दिखा देने के उद्देश्य से ही किया है। जिसमें मानव जीवन की सारी अवस्थाओं पर प्रकाश डाला गया है। कवि ने इसमें भाई-भाई के आदर्श प्रेम को प्रस्तुत करके हिन्दू जाति को पारस्परिक विद्रोह की भावना से मुक्त करने का प्रयास किया है। तुलसीदास ने भारतीय संस्कृति की चेतना को सामाजिक चेतना से संयुक्त करके साहित्य क्षेत्र में दिखा दिया है। उन्होंने निचली जाति के लोगों के उज्जवल चरित्र को उच्च स्तर पर देखा है और उनकी सामाजिक प्रगतिशीलता को प्रमाणित किया है। तुलसीदास हमेशा सर्वजन कल्याण ही चाहते हैं और पर-पीड़ा को दूर करना अपना परम कर्तव्य मानते है। वे कहते हैं-

"पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।"[4]

तुलसीदास की जनवादी चेतना का परिचय देते हुए डॉ. राजकिशोर पाण्डेय बताते है कि "रामचरितमानस की विशेषता यह है कि तुलसीदास ने मानस में जिस समाज का आदर्श रखा है, उसमें वर्ग है, उसमें बड़े और छोटे लोग हैं। राजा और प्रजा है ब्राम्हण और शूद्र हैं। पर उनमे किसी प्रकार का संघर्ष नहीं है। सभी अपनी मर्यादा को समझते हैं। समाज के लिए किसी की स्थिति कम महत्व की नहीं है। यह धारणा समाज को एकता उत्थान-पतन की जिम्मेदारी सबके ऊपर समान रूप से है।"[5] पाण्डेय जी के प्रस्तुत कथन से 'रामचरितमानस' की सामाजिक चेतना का सच्चा रूप प्रकट होता है। तुलसीदास की सारी रचनाओं में जनवादी चेतना प्रस्फुटित होती है। राम का चरित सब के जीवन से किसी न किसी प्रकार मिला हुआ दिखाई पड़ता है। राम वनवासी शबरी के जूठे बेर खाने में कुछ भी संकोच नही करते । भालू और बंदरों से दोस्ती कर अपने जीवन को धन्य मानते है। इस प्रकार साधारण जनता के दैनिक जीवन से राम अधिक जुड़े हुए है। यह जुड़ाव तुलसी की सामाजिक चेतना का ही परिणाम है।

तुलसी के साहित्य में शिष्ट संस्कृति व लोक संस्कृति दोनों का श्रेष्ठ सम्मिलन है, जहाँ एक ओर उन्होने शिष्ट संस्कृति द्वारा जावन को गहराई से समझने का आधार दिया। विराट भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हुए तुलसीदास ने मानवीय एकता, समता, विश्व-बंधुत्व, आपसी भाईचारे की स्थापना कर अभिजात्य पात्रों को प्राकृत रूप में प्रस्तुत किया। मानव जीवन की गहन आस्थाओं व अनुभूतियों के प्रतीक रीति-रिवाज व पावन संस्कारों के अतिरिक्त तुलसी साहित्य में समाविष्ट विविध देवी-देवताओं की मंगल पूजा, व्रत, उपासना, ज्ञान, कर्म, भाग्य, ज्योतिष

आदि विषयों की गूढ़ चर्चा हमें अपनी भारतीय संस्कृति का बोध कराकर स्थिति शील व विकासशील बनाती है। 'घाट मनोहर चारि' के माध्यम से उन्होने श्रेष्ठ संवाद रूपी चार घाटों का निर्माण करके राजाराम की अलौकिक कथा को अनुपम कलेवर में बाँधकर पावन गंगा के समान पूजनीय बना दिया। उन्होंने सारी समस्याओं का निदान भक्ति में माना है, जिसके सानिध्य में सब कुछ सत्य, शिव और सुंदर हो जाता है।

नारी की शुचिता व पवित्रता की रक्षा करना उनके मर्यादावाद का एक अभिन्न अंग है। सम्पूर्ण तुलसी साहित्य में प्रेम भाव के वर्णन मे चाहे कितनी रसमयता, गहनता व श्रृंगारिकता क्यों न हो, नारी की गरिमा व रिश्तों की मर्यादा के प्रति पूर्ण सचेतता बरती गयी है। तुलसी ने दरिद्रता, दुख पीड़ा, कष्ट से टूटते समाज की मंगलाशा व भक्ति को आधार बनाकर जीने का शुभ संकल्प दिया। तेजी से बदलते कालचक्र के परिणाम स्वरूप अतिआधुनिकता के कारण जहाँ मानव का अस्तित्व ही संकट में पड़ गया है, वहीं ऐसी स्थिति मे तुलसी साहित्य जीवन रक्षक संजीवनी के समान निर्जीव प्राणियों में चेतना का संचार कर रहा है। उनके साहित्य में काव्य कौशल और लोकमंगल की चरम परिणति है, जो मुक्तामणि के समान सुंदर और मूल्यवान है। गोस्वामी जी के राम हमारे बीच ईश्वरता दिखाने नहीं आये थे, मनुष्यता दिखाने आये थे, वह मनुष्यता जिसकी हमारे समाज को आवश्यकता होती है और भविष्य एवं वर्तमान में रहेगी। निष्कर्षतः तुलसी के समाज में व्याप्त अन्याय, अत्याचार, अनाचार, पाखण्ड आदि का विरोध कर समाज को एक निर्विकार सामाजिक व्यवस्था प्रदान करने का कार्य अपने सम्पूर्ण साहित्य के माध्यम से किया है।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. 9754962059
E-mail: abhishekdcasagar@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1 कवितावली-तुलसीदास, गीताप्रेस गोरखपुर इक्यावनवाँ पुर्नमुद्रण-पृ.112
2 श्रीरामचरितमानस-तुलसीदास, गीताप्रेस गोरखपुर, एक सौ पाँचवां पुर्नमुद्रण पृ.18
3 वही, पृ.105
4 वही, पृ. 871
5 तुलसी की जनवादी चेतनाः डॉ. राजकिशोर पाण्डेय, पृ.94

मलिक मुहम्मद जायसी और कुछ बातें...

सुधीर साहू

मलिक मुहम्मद जायसी भक्तिकाल के सूफी प्रेममार्गी धारा के उच्चकोटि के कवि हैं। जायसी का जन्म लगभग सन् 1470 ई. में हुआ था, जायसी के पिता का नाम मलिक मोमरेज तथा नाना का नाम शेख अलहदाद बताया गया है। जायसी के जन्म के संबंध में कहा गया है-

"जायस नगर धरम अस्थानू, तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू।"[1]

कवि ने जन्म तिथि के संबंध में लिखा है-

"भा अवतार मोर नवसदी, तीसि बरस ऊपर कवि बदी।"[2]

इस आधार पर कहा जा सकता है कि जायसी का का जन्म 900 हिजरी में हुआ था। जायसी अपने गाँव में ही खेती करके अपना पेट पालते थे। जायसी के गुरू का नाम शेख मुहाउद्दीन था। जायसी मर्मस्पर्शी तथा भारतवर्ष के बड़े कवि है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है-

"जायसी कवि थे और भारत वर्ष के कवि थे। भारतीय पद्धति के कवियों की दृष्टि फारस वालों की अपेक्षा प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारो पर कही अधिक विस्तृत तथा उनके मर्मस्पर्शी स्वरूपों को कही अधिक परखने वाली होती है। इससे उस रहस्यमयी सत्ता का आभास देने के लिए जायसी बहुत ही रमणीय और मर्मस्पर्शी दृश्य-संकेत उपस्थित करने में समर्थ हुए है।"[3]

इस तरह जायसी हिंदी साहित्य के बड़े रहस्यमयी मर्मस्पर्शी कवि के रूप में उभरकर सामने आये है।

रचना संसार

जायसी की प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार है- पद्मावत, आखिरीकलाम, कहरानामा, मसलानामा, चित्ररेखा इत्यादि। जायसी की कितनी रचनाएँ है, इसका अभी भी प्रमाणिक उल्लेख नहीं मिल पाया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने "जायसी ग्रंथावली

में उनकी तीन रचनाओं का मात्र ही सम्पादन किया है। पद्मावत,अखरावट, आखिरी कलाम। 'सईद अली मुहम्मद ने जायसी के चौदह ग्रंथों का उल्लेख किया है और डॉ. शिवसहाय पाठक ने चौबीस ग्रंथों की सूची दी है।"[4]

मलिक मुहम्मद जायसी की अब तक 7 रचनाओं का प्रकाशन हो चुका है- पद्मावत, आखिरी कलाम, चित्ररेखा, मसलानामा, कन्हावत्, अखरावट, कहरानामा।

पद्मावत

पद्मावत का प्रकाशन वर्ष 1540 ई. माना जाता है, परंतु इसमे भी विवाद रहा है, तमाम विद्वानों ने इसका समय अलग-अलग माना है। पद्मावत की रचना में यह उक्ति मिलती है-

"सन् नौ से सत्ताइस अहा, कथा अरंभ बैन कवि कहा।"[5]

इस पंक्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि 927 हि. अर्थात सन् 1520 ई. लगभग इस ग्रंथ की रचना की गयी थी। पद्मावत में कवि ने ऐतिहासिक पात्रों का चित्रण किया है, जिसमें प्रमुख पात्र पद्मावत, रत्नसेन, हीरामन तोता, नागमती, अलाउद्दीन खिलजी आदि महत्वपूर्ण पात्र है। पद्मावत के प्रतीकार्थ इस प्रकार है- रत्नसेन-मन, सिहंल-हृदय, पद्मावती-श्रद्धा या सात्विक बुद्धि (परमात्मा) हीरामन तोता-गुरू, नागमती- दुनिया धंधा या सासांरिक बुद्धि, अलाउद्दीन-माया का प्रतीक बताया गया है।

'पद्मावत' एक श्रेष्ठ रचना ही नहीं अपितु इसका अपना सांस्कृतिक महत्व भी है। इसलिए जायसी ने हिन्दू घरानों की लोक कथाओं को सौन्दर्य-भावना का रूप देकर समाज को लौकिकता से आध्यात्मिक की ओर अग्रसर करते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है- "यद्यपि पद्मावत की रचना संस्कृत प्रबंधकाव्यों की सर्गवद्ध पद्धति पर नहीं है, फारसी की मसनवी शैली पर है, शृंगार, वीर, आदि के वर्णन चली आती हुई भारतीय काव्य परंपरा के अनुसार ही है। इसका पूर्वार्द्ध तो एकांत प्रेममार्गी का ही आभास देता है, पर उत्तरार्द्ध में लोकपक्ष का भी है। पद्मिनी के रूप का जो वर्णन जायसी ने किया है वह पाठक को सौन्दर्य को लोकोत्तर भावना में मग्न करने वाला है। अनेक प्रकार के अंधकार कार्य की योजना उससे पाई जाती है।"[6] इस तरह पद्मावत प्रेममार्गी धारा की एक अनुपम कृति है।

आखिरी कलाम

जायसी का यह महान ग्रंथ है इसका सर्वप्रथम प्रकाशन फारसी लिपि में हुआ था। इसकी रचना लगभग 936 हिजरी में हुई थी, इस ग्रंथ में ईश्वर की स्तुति की गई है, जायस नगर का परिचय भी बड़ी सुन्दरता से किया गया है। आखिरी कलाम

में साठ दोहो और चार सौ बीस अर्द्धालियो का यह एक लघुखण्ड काव्य है, आखिरी कलाम में कयामत का वर्णन तथा मुगल बादशाह बाबर की प्रशंसा है।

चित्ररेखा

चित्ररेखा एक लघुप्रेमख्यानक काव्य है, जिसका सम्पादन डॉ. शिवसहाय पाठक ने किया है, इस रचना के प्रारंभ में ईश्वर की वंदना है तथा आध्यात्मिक प्रेम का भी वर्णन किया गया है, चित्ररेखा में पैगंबर मोहम्मद साहब और उनके चार मित्रो का वर्णन इसमें बड़ी सुन्दरता के साथ-साथ किया है।

कहरानामा

डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इस ग्रंथ का सम्पादन किया है, इस ग्रंथ का दूसरा नाम महरी वाईसी भी है। बाईस शब्दो के कारण इसको महरी बाईसी भी कहा जाता है, इस रचना में आध्यात्मिक विवाह का वर्णन किया गया है, यह करहवा शैली में लिखी गई है।

अखरावट

इस रचना का समय लगभग 949 हिजरी बताया गया है, इसमें वर्णमाला के एक एक अक्षर को लेकर सिद्धांत संबंधी तत्वों का चित्रण किया गया है।

मसलानामा

इस रचना का सर्वप्रथम प्रकाशन हिन्दुस्तानी एकेडेमी की शोध पत्रिका में हुआ था। इस रचना में ईश्वर भक्ति के प्रति निवेदन है। इसमें 71 मसलों का चित्रण किया गया है।

कन्हावत्

इस रचना का समय लगभग 947 हिजरी दिया गया है, इस रचना में जायसी ने "भारतीय परम्परा के अनुसार श्री कृष्ण की जीवन गाथा लिपिबद्ध है, किन्तु विषयवस्तु प्रतिपादन शैली तथा नामकरण की दृष्टि से यह जायसी की रचना नहीं प्रतीत होती।"[7]

रहस्यवाद

निर्गुण काव्यधारा के ज्ञानमार्गी शाखा के प्रतिनिधि कवि कबीर और प्रेममार्गी शाखा के कवि जायसी दोनों रहस्यवादी कवि के रूप में उभरकर सामने आए है। आचार्य

शुक्ल ने कबीर को साधनात्मक रहस्यवाद के अंतर्गत माना है, और जायसी को भावात्मक रहस्यवाद के अंतर्गत स्थापित किया है।

जायसी प्रेममार्गी धारा के उच्चकोटि के रहस्यवादी कवि है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है- "हिन्दी के कवियों में यदि यही रमणीय और सुन्दर अद्वितीय रहस्यवाद है तो जायसी में जिनकी भावुकता बहुत ही उच्चकोटि की है। वे सूफियों की भांति भावनानुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतमा के रूप माधुर्य की छाया देखते है और कही सारे रूपों और व्यवहारों को देखते है।"[8]

भावात्मक रहस्यवाद में प्रकृति, ईश्वर, भक्ति प्रेमी, प्रियतम इत्यादि का चित्रण किया जाता है, जायसी ने सिंहलद्वीप की अमराइयों का चित्रण करते हुए कवि ने उस छाया का आध्यात्मिक संकेत भी दिया है-

"धन अमराउ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि हुँत लागी अकासा।
तरिवर सबै मलय गिरि लाई। भई जग छाँह रैनि होई आई।
मलय समीर सोहावनि छाँहा। जेठ जाड़ा लागै तेहि माहाँ।
ओही छाँह रैन होइ आवै। हरिहर सबै अकास देखावै।
पथिक जो पहुँचे सहिकै धामू। दुख बिसरै होइ बिसरामू।।"[9]

यहाँ तक आते आते-आते कवि का ध्यान परमात्मा की भावना की ओर अग्रसर हो जाता है। उसे इस प्रकार व्यक्त करता है।

"जेइ वह पाई छाँह अनूपा। फिरि नहि आई सहै वह धूपा।"[10]

जायसी के रहस्यवाद में कहीं-कहीं पर समासोक्ति के माध्यम भी उन्होंने आध्यात्मिक अर्थ को प्रकठ किया है। परमात्मा इस संसार की सभी वस्तुए उसी के सौन्दर्य छाया में है। जायसी के रहस्यवाद में परमात्मा रूपी दर्शन को अधिक व्यक्त किया गया है जायसी की रचनाओं में अद्वैती रहस्यवाद दिखाई पड़ता है। अद्वैत रहस्यवाद में दार्शनिक चिंतन होता है, उसमें कवि की कल्पना नहीं होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "अद्वैतवाद के मूल में एक दार्शनिक सिद्धान्त है। कविकल्पना या भावना नहीं।"[11]

अद्वैत रहस्यवाद में बुद्धिमत्ता या ज्ञान को प्रकठ किया जाता है, तभी वह उच्चकोटि के भावात्मक रहस्यवाद में प्रकट किया जा सकता है। अद्वैत रहस्यवाद का सर्वप्रथम वर्णन उपनिषदों में मिलता है, प्राचीन ऋषि अपने चिंतन मनन के माध्यम से अद्वैत के सिद्धांत पर पहुँचे थे। जायसी एक स्मरणीय और मर्मस्पर्शी कवि है। वह अपनी रचनाओं में सौंदर्यसत्ता को उभारने में समर्थ हुए है- जायसी लौकिक दाप्ति और सौंदर्य की अभिव्यंजना करते हैं-

"रवि ससि नखत निषहि ओहि जोति।
रतन पदारथ मानिक मोती।।
जहँ-जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी।
तहँ-तहँ छिटकि जोति परगसी।।
नयन जो देखा कवँल भा, निमरल नीर सरीर।
हसँत जो देखा हंस था, दसन जोत नग हीर।।"[12]

इस तरह जायसी ने परमात्मा रूपी दर्शन को प्रकट किया है। 'सूफी कवियों ने परमात्मा को स्त्री तथा आत्मा को पुरूष रूप में स्वीकार किया है।' सूफी कवियों की प्रेम पद्धति लौकिक प्रेम से होकर अलौकिक प्रेम तक पहुँचने का प्रयास किया गया है, अर्थात् 'इश्क मजाजी' से 'इश्क हकीकी' पहुँचने का प्रयास किया गया है।

जायसी का रहस्यवाद सुदरंता और महानता के कारण उच्चकोटि का है, हिन्दी साहित्य में जायसी के पहले जो रहस्यवाद मिलता है वह उतना उच्चकोटि का नहीं हैं नाथों का या संतमार्गी काव्यधरा का हो उनका रहस्यवाद केवल ईश्वर प्राप्ति के लिए ही देखा गया है। कबीर का रहस्यवाद केवल ईश्वर प्राप्ति के लिए ही है, वही दूसरी ओर जायसी ने ईश्वरीय प्रेम तथा मानवीय प्रेम के बीच की दूरी को मिटाने का प्रयास किया है, इसी कारण वे कहते है-

"मानुष प्रेम भएउ बैकुण्ठी, नाहि त काह छार भरि मूँठी।।"[13]

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob. No.- 9074256441
E-mail: sudheersahu78@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. भक्ति काव्य धारा, सम्पादन हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2010, पृ. 37
2. वही, पृ. 37
3. त्रिवेणी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सम्पादक डॉ.रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2008, पृ.5
4. भक्ति काव्य धारा, सम्पादन हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 38
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.78

6. वही, पृ. 79
7. भक्ति काव्य धारा, सम्पादन हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2010, पृ. 41
8. वही, पृ.45
9. जायसी ग्रंथावली, संपादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण, 2012, पृ. 63
10. वही पृ. 63
11. त्रिवेणी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, संपादक डॉ रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2008, पृ. 47
12. वही, पृ. 49
13. हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, ओरियंटल ब्लैक स्वान प्रा. लि, नई दिल्ली, संस्करण 2010, पृ. 29

भक्तिकाल में लोकसाहित्य का प्रभाव

रतीराम अहिरवार

विश्व में हजारों जीव जन्तु हैं जो एक दूसरे के पूरक हैं, जिस प्रकार एक बीजांकुर से लेकर सम्पूर्ण फूल-फल एवं कीट-भृग जन्तु से लेकर मनुष्य तक एक दूसरे की परस्परता से संचालित हैं। यही परस्परता संसार को एक दूसरे से जोड़ने का काम करती है। ठीक उसी प्रकार भक्ति भी है। पूर्व मध्यकाल में भक्ति-आंदोलन के कारण भक्तिपरक पौराणिक संस्कृति का उदय हुआ, जिसमें राम-कृष्ण और हनुमान तथा देवी की भक्ति-भावना से संबंधित लोकगीत, लोकगाथाएँ और लोककथाएँ लोक में प्रचलित हुई।[1] हिन्दी साहित्य के इतिहास में पूर्व मध्यकाल को भक्तिकाल के नाम से जाना जाता है, जिसे हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग भी कहा जाता है। इस काल के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की धाराओं ने जन्म लिया जिसमें निर्गुण भक्ति, सगुण भक्ति और इसके अन्दर इसकी विधि उपशाखाएँ उपजी जिसमें ज्ञानमार्गी शाखा, प्रेममार्गी शाखा, सूफी काव्य, कृष्ण भक्ति शाखा, रामभक्ति शाखा आदि विविध धाराओं ने जन्म लिया है, जिसमें भक्ति आंदोलनों से इसका श्री गणेश मानना ही उचित समझता हूँ क्योंकि उसमें शंकर का अद्वैतवाद और रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, रामानंद, राघवानंद, चैतन्य महाप्रभु एवं स्वामी हरिदास आदि विभिन्न आचार्य हुए और इनके द्वारा विभिन्न प्रकार के सम्प्रदायों की स्थापना करना ही भक्ति का आरंभिक रूप माना जाता है। निम्बार्क, बल्लभ और चैतन्य के दार्शनिक सिद्धांतों के अनुसार कृष्ण भक्तों के अनेक सम्प्रदाय हुए। उनके अतिरिक्त राधावल्लभ-सम्प्रदाय, सखी-सम्प्रदाय आदि भक्ति सम्प्रदायों की स्थापना हुई जिसमें कृष्ण भक्ति का केन्द्र वृन्दावन था। उन भक्तों की दृष्टि भगवान की सौन्दर्य-विभूति और लोकरंजन पर केन्द्रित रही।[2]

भक्ति काव्य लोक जीवन की संस्कृति और समन्वय की भूमिका को प्रदर्शित करने वाला काव्य है। मध्यकाल में जो सांस्कृतिक आदान-प्रदान विकसित हुआ है उससे काव्य रचना को भी एक नयी सक्रियता मिली है। भक्त कवियों ने अद्वैत

चिंतन की अभिव्यक्ति के लिए जिन उपादानों को चुना, उन्हें लोक भूमि पर संचरित किया ताकि उन्हें पूरी विश्वसनीयता मिले। भक्त कवियों की दृष्टि ग्राम समाज और सामान्यजन पर थी। भक्ति काव्य का वैशिष्ट्य यह भी है कि उनके पास एक कल्पित स्वप्न है, संसार है। यह कल्पित संसार हमें किसी ऐसे रहस्य लोक में नहीं ले जाता, जहाँ लोक का प्रवेश न हो। गृहस्थ के लिए वह सुलभ हैं और देहवाद-भोगवाद से ऊपर उठने की क्षमता रखता है, वही आध्यात्मिक संसार को प्राप्त कर सकता है। भक्त कवियों ने असाधारण को साधारण की भूमि पर कर्मवान बनाया, लोक से गहरे रूप में सम्बन्ध स्थापित किया और उनकी लोक संप्रक्ति हमें आज भी उसकी प्रासंगिकता पर विचार करने के लिए बाध्य करती है।

भक्ति की अवधारणा का आरंभ आध्यात्मिक संधारण से होता है, यही ईश्वर की प्राप्ति का लक्ष्य है। यही से भक्ति की शुरूआत होती है, जैसे ही भक्त परमत्व के साथ एक संलग्नता, आध्यात्मिक आचार विचार, स्मरण, भजन-पूजन, आराधना, उपासना, वन्दना, दारस सेथ और आत्म निवेदन आदि आचरण करने से ही भक्ति का स्वरूप निर्मित होने लगता है। काशी से रामभक्ति का और वृन्दावन से कृष्ण भक्ति का प्रसार हुआ, जिससे सम्पूर्ण उत्तर भारत आन्दोलित हो गया। इस आन्दोलन को लोकव्यापी बनाने में भक्त कवियों ने विशेष महत्वपूर्ण योगदान किया।[3] भक्ति का मूल विज्ञान, सत्य और आनंद में निहित है, जो सत्य है वही सुन्दर है, जो सुन्दर है, वही आनंनदायी है, यही भक्ति मनुष्य का चरम लक्ष्य है, यही भक्ति कर्म का अनन्त सौन्दर्य है।

भक्ति भी सनातन धर्म के अनुसार दो रूपों में सामने आती हैं। निरपेक्ष और सापेक्ष सगुण और निर्गुण में जो सत्ता जीव और सत्ता का प्रतीक विम्ब है, ठीक उसी तरह सगुण सापेक्ष भक्ति में ईश्वर के सगुण साकार रूप की सत्ता समाहित रहती है। जिसको जनमानस एवं लोक कल्याण से जोड़कर चलती है अर्थात् लोक मंगल की साधना को लेकर समाज में प्रत्यक्ष रूप से चलती है, जिसमें भक्तिकाल के विभिन्न कवियों द्वारा भक्तिकाव्य के साथ-साथ लोक साहित्य और संस्कृति को लेकर चलना, कबीर, रैदास, पीपा, दादू, नानकदेव, जायसी, कुतबन, मंझन, उसमान आदि अनेक संत एवं सूफी कवियों में समाज में स्थापित करने का कार्य किया वहीं दूसरी तरफ सगुण भक्ति में रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, सूर, तुलसी, मीरा, रसखान, अग्रदास, नंददास, कुम्भनदास, मलूकदास, विष्णुदास आदि सगुण भक्त कवियों ने अपने लोक संगीत एवं लोक काव्य के माध्यम से समाज को आक्रसित करने का कार्य किया। भक्ति आंदोलन अखिल भारतीय था। अतः उसने भारत की सांस्कृतिक एकता को पुष्ट किया। इसके कारण पूरे भारत में एक प्रकार की साधना की लहर जन-मानस में दौड़ी।[4] भक्ति का स्वरूप ईश्वर की विविध स्वरूप वाली आस्था से

जुड़ा है, जिसमें नाम जपना अर्थात् स्मरण करना, उसी स्मरण से जुड़ा है। कीर्तन, जप, नाम, जाप में तीव्रता आने से संकीर्तन पैदा होता है। भक्तिकाल में संकीर्तन भक्ति की एक प्रक्रिया है, जिसमें मंदिरों में शिव-पार्वती, राम-सीता, कृष्ण-राधा आदि के संकीर्तन के रूप में देखी जा सकती है। ईश्वर के अनवरत् संकीर्तन से सांस्कृतिक परम्परा से लोक साहित्य या संगीत का शुभारंभ माना जाता है। ध्रुपद गायन इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। चरण पूजा के प्रति निष्ठावान श्रवण संकीर्तन से जुड़ी परम्परा, चरण-पूजा और चरण सेवा से संलग्न अर्चना है और वंदना भी है। सूरदास में जिस प्रकार गोपियों के साथ श्रीकृष्ण हिंडोला झूलते है, होली खेलते हैं, वही करते राम भी दिखाये गये हैं। इतना अवश्य है कि सीता की सखियों और पुरनारियों का राम की ओर पूज्य भाव ही प्रकट होता है।[5] अपने व्यक्तित्व को दास के रूप में राम को समर्पित कर देना, महाकवि तुलसीदास इसके साक्षात प्रमाण हैं। इसी कोटि में अपनी भक्ति को अपने सखा के रूप में समाहित कर देना साख्य भक्त कवि सूरदास का सम्पूर्ण काव्य भक्ति और प्रेम का जीता जागता उदाहरण है। उसी प्रकार भक्तिकालीन कवियों में कबीर ने ईश्वर से स्वयं गुरू को बड़ा कहा है। 'तू मेरा पीयू में तेरी बहुरिया' अतः तुम मेरे प्रियतम हो और जायसी प्रेम को महत्व देते हुए गुरू की बार-बार महिला बताते हुए दिखाई देते हैं और प्रेम की पीर को जागृत करते है। इसी कोटि में तमाम सूफी कवियों की यही विचारधारा रही है। कबीरदास ने कहा है कि मैं राम का हूँ और राम मेरे हैं। अतः स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि यह भाव ही प्रेम लक्षण भक्ति का जनक है। एक दूसरे के प्रति प्रेम की एक लय होना ही इसका मूल केन्द्र है। कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर ये भक्त कवि चल रहे हैं, वह विविध की तरंगों से परिपूर्ण अनंत सौन्दर्य का समुद्र है। उस सार्वभौम प्रेमालंबन के सम्मुख मनुष्य का हृदय निराले प्रेमलोक में फूला फिरता है।[6] भक्ति के स्वरूप को पहचानने के लिए भक्त कवियों ने, भक्ति-भावना, गुरू-महिमा, नाम-महिमा, प्रेम-भावना एवं लोक कल्याण की भावना को अपने काव्यों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। मध्यकालीन कवियों ने ईश्वर के प्रति सच्ची प्रेम भावना अपनाई है। यह कबीर, सूफी कवि जायसी, मंझन, सूर, तुलसी आदि अनेक रचनाकारों में प्रकट होती है। यहाँ तक तुलसीदास जी ने तो प्रेम से ही ईश्वर का प्रकट होना माना है। जैसे-

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रकट होंहि में जाना।।"-तुलसीदास

लोक संस्कृति मनुष्य की समानता की पक्षधर है, समानता इसका मूल आधार है। समता पर बल देते हुए कहा है कि मनुष्य को मित्रता एवं शुत्रता में समान महत्व देना चाहिए। भक्तिकाल के कवियों के काव्य से लोकसंस्कृति इतनी परस्पर

संबंधित है कि एक दूसरे के बिना अकेले नहीं चल सकती है। इन कवियों के काव्य में हमें प्रत्येक प्रदेश एवं क्षेत्र की लोक संस्कृति दिखाई देती है। जैसे- कबीर के काव्य में मिश्रित लोक संस्कृति, गुरू नानक के काव्य में पंजाबी लोक संस्कृति दृष्टिगोचर है ठीक वैसे ही दादू दयाल से मलूकदास के काव्यों में हमें उनके अलग-अलग क्षेत्र की संस्कृति सामने आती है। उसमान, शेखनवी, काशिमशाह जायसी, तुलसी, अग्रदास के काव्य में अवध की लोक संस्कृति की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। विदेशी आक्रमणकारियों के खिलाफ शौर्य और एकता की प्रेरणा देना इस युग के लोकदर्शन का आन्तरिक लक्ष्य था। इसलिए गोचारण गाथाओं जैसे- कारसदेव की गाथा और शहनई गाथा तक में शौर्य का आख्यान बुना गया है।[7] उसी प्रकार सूरदास, नंददास, कृष्णदास, कुंभनदास, क्षीतस्वामी आदि कृष्ण भक्त एवं अष्टछापी कवियों के काव्य में ब्रज की बाल लीलाएँ एवं वहाँ की संस्कृति भी अछूती नहीं रहती है। संस्कृति के अन्तर्गत समाज की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक व्यवस्था का सम्मिलित प्रवाह निरंतर गतिमान रहता है। संस्कृति वस्तुतः व्यक्ति और समाज के विकास की परिचायक है। यह लोक जीवन निरंतर प्रवाहमान नदी की तरह उसे अनुप्राणित करता है लोक कलाकारों की कला झरने की तरह कल कल करती हुई सतत प्रवाहमान रहती है। ग्राम्य जीवन की जीवंत शैली का ही दूसरा नाम लोक कला है। लोक जीवन का रस ही समाज की जड़ों को सींचता है।

भक्त कवि अपने नायकों को देवत्व की भूमि से बाहर लाकर उन्हें सामान्य जन के समक्ष खड़ा करते है। तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम और लोक धर्म-संस्थापक राम का रंजनकारी चित्र अंकित करके सामाजिक उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त किया है।[8] तुलसी यह नहीं भूलते है कि राम में देवत्व है, लेकिन फिर भी राम को एक सही राजा अथवा अयोध्या की प्रजा के हितैषी के रूप में प्रकट करते हैं। पर वे वह भी जानते हैं कि देवता पृथ्वी पर अवतरित होकर ही शोभा पाते हैं। 'भये प्रकट कृपाला, दीनदयाला।' इसी प्रकार गीता में भी कहा गया है कि 'यदा यदा ही धर्मस्य' के मूल में आशय मूल्य प्रतिष्ठा का और सामान्यजन की रक्षा का है। भक्त कवियों का लोक अभिसाव्य के स्थान पर सामान्य समाज को प्रतिष्ठित करता है। तुलसी का ध्यान ग्राम कृषक समाज पर है, तो दूसरी ओर सूर में कृषि चारागाही संस्कृति की प्रधानता है। वही कबीर सांस्कृतिक समन्वय पर है तो जायसी प्रेमपंथ को विकल्प रूप में प्रस्तुत करते हैं।

भक्ति काल में लोक जीवन की केन्द्रीयता के मूल में सजग सामाजिक सांस्कृतिक चेतना है, जहाँ भक्तिशास्त्र, पांडित्य, कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद से निकलकर सामान्य भूमि पर विचरण करती है। भक्तिकाल में आराध्य से सीधा संवाद स्थापित

करने के लिए लोकजीवन का सहारा लिया गया है। सूर की राधा और गोपियाँ सब प्रत्यक्ष वार्तालाप का साक्ष्य है। राधा गाँव की वह भोरी गोरी है, जो एक प्रेमिका युवती से लेकर सौम्य और शालीन कुलवधू तक के लोकभावों के विभिन्न स्तरों से गुजरकर एक अलग व्यक्तित्व की पहचान करती है।[9] सूरदास जी कहते हैं कि 'सब विधि अगम विचारहि' कहकर पक्ष प्रस्तुत किया है। दोनों का गन्तव्य लक्ष्य एक ही है किन्तु साधन में थोड़ी भिन्नता है। निर्गुण पंथियों ने यह अनुभव किया की पुरोहित परिचलित कर्मकाण्ड सामान्यजन को छलता है। मध्यकाल का वर्ग भेद, अन्धविश्वास, गर्हित कर्मकाण्ड, घृणित उपजातिवाद उस समय का कलिकाल है, जिसे तुलसीदास जी जैसे सचेत कवि ने देखा है।

"कलि बारहि बार दुकाल परे, बिनु अन्न दुःखी सब लोग मरै।"-तुलसीदास

लोक की सहाय स्वीकृति सौन्दर्य हैं और यह तभी संभव है जब स्वयं को लोक में लीन किया जाय। इससे व्यक्तित्व की विश्वसनीयता बनती है, व्यक्ति स्वयं साधारणीकृत होता है। कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेम कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक-सा प्रभाव दिखाई पड़ता है।[10] राजा रत्नसेन जब राजमहल का परित्याग कर योगी रूप धारण कर संघर्ष मार्ग पर चलते है तो उन्हें सहानुभूति मिलती है और रानी नागमति वियोग से गुजरती है और कवि उसे सराहता है।

"मुहम्मद सती सराहिए अरै जो उस रिस लागी।" -जायसी

सूर की राधा का सौन्दर्य उसके तप-त्याग में हैं, केवल कनक बल्ली देह में न ही स्वयं कृष्ण इसे स्वीकारते हैं। राम की प्रिया सीता का स्मरण उन्हें सामान्यीकृत कथा है, उन्हें मनुष्य की सहानुभूति पर संचरित करता है। यहाँ पर देवत्व परिपार्श्व में चला जाता है और उसके स्थान पर उभरता है। एक सहज मनुष्य रूप जो स्वयं को लोक से सम्बद्ध कर खुश होता है कृतकृत्य होता है। कबीर ने स्पष्ट कहा-

"पौथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।" -कबीरदास

इस प्रकार यहाँ पर कबीर अपनी वाणी में प्रेम को श्रेष्ठ बताते हैं और प्रतिपादित करते है कि पढ़ने को तो सब कुछ पढ़ लीजिए कुछ होने वाला नहीं, अगर प्रेम है तो सब कुछ है। एक प्रकार से भक्ति काव्य अपने लोक संवेदन का विस्तार इस सीमा तक करता है, जिसमें प्रकृति की भूमिका सार्थक और महत्वपूर्ण होती है। वियोग वर्णन में कुछ संचारियों का समावेश मिलता है, पर वे रूढ़ और

परम्परागत है, उनमें उद्‌भावना बहुत थोड़ी पायी जाती है। भ्रमरगीत के अन्तर्गत सूर ने अभ्यंतर पक्ष का भी विस्तृत उद्‌घाटन किया है। प्रेमदशा के भीतर की न जाने कितनी मनोवृत्तियों की व्यंजना गोपियों के वचनों द्वारा होती है।[11] भ्रमरगीत में गोपिकाएँ वियोग को बिम्बित करने के लिए युमना का सहारा लेती हैं- 'देखियति कालिंदी अतिकारी।' अथवा 'तुम्हारे बिरह ब्रजनाथ, अहोप्रिय नयनन नदी बढ़ी। लीने जात निमेष कूल दोउ एतेमान चढ़ी।' इसी प्रकार सूरदास जी अपने बाल वर्णन में भी श्रीकृष्ण का राजसी रूप गायब कर देते हैं और वे सहज बालक की तरह लीलाएँ करते हैं। जैसे-

"घुटरन चल रैनुतल मंडित, मुख दधि लेप किए।" -सूरदास

इस प्रकार कृष्णजी की माखन चोरी सामाजिक चोरी है, जिसमें कोई दुराव-छिपाव नहीं है और यशोदा भी जानती हैं कि गोपियाँ उलाहना के बहाने कान्हा को देखने आई हैं। तुलसी की विनय पत्रिका कवि का स्वयं आत्म निवेदन न होकर अपने समय के एक सचेत संवेदनशील कवि हैं, जिन्होंने अपने युग की समस्त पीड़ा को व्यक्त किया है। मध्यकाल में जो सांस्कृतिक आदान-प्रदान विकसित हुआ उससे समाज में एक नई सामाजिकता उत्पन्न हुई है। भक्त कवियों ने अद्वैत चिन्तन की अभिव्यक्ति के लिए जिन-जिन उपादानों को चुना उन्हें लोक भूमि पर संचरित किया ताकि उन्हें पूरी विश्वसनीयता मिले। कबीर का जुलाहा, तुलसी के बनवासी, सूर के ग्वाल-वाल सब सामान्य जन ही हैं। भक्त कवियों ने असाधारण को साधारण की भूमि पर कर्तव्यवान बनाया, लोक से गहरे रूप में सम्बद्ध किया और उनकी लोक संप्रति हमें आज भी इसकी प्रासंगिकता पर विचार करने के लिए बाध्य करती है। भक्ति साहित्य की प्रेममार्गी धारा के सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानक काव्यों में लोक कहानियों का अद्‌भुत उपयोग किया है। अपने सिद्धांतों को स्थापित एवं प्रचारित करने के लिए उन्होंने लोक कथा और लोक-गाथाओं के प्रचलित रूप को अंगीकार किया। कुतुबन कृत 'मृगावती' जायसी कृत 'पदमावत' और मंझन कृत 'मधुमालती' के कथानक लोक कथानक है जिनमें लोक कहानियों के प्रचलित अभिप्राय और जादुई संसार को भी अंगीकार किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूफी कवियों के प्रेमाख्यान पर विचार करते हुये अपने इतिहास में लिखा है कि 'इन कवियों ने अपनी-अपनी कहानियों का वही रूप रखा है जो कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में प्रतिष्ठित था।'

रामचरित मानस और सूरसागर की आधार भूमि यद्यपि पौराणिक है। इनमें अंगीकृत उपादानों में लोक मानस के कल्पना विकास के जो अति मानवीय और अलौकिक तत्व मिलते हैं, उनके कारण लोक कहानी का आस्वाद उत्पन्न हो जाता

है। यहाँ तक कि देवीपरक गाथाएँ भी वीररसात्मक हो गयीं। लोकभक्ति तो लोक की धरोहर है, इसलिए भक्तिपरक लोककाव्य धारा का प्रवाह आदिकाल से प्रवाहित था, लेकिन लोक की निराशा से तीव्रगति से फूट पड़ा। यहाँ तक कि संस्कारपरक लोकगीत रामपरक या कृष्णपरक हो गये।[12] प्राचीन भारत की गोपालक संस्कृति और चरवाहों की जीवन पद्धति के अनेक आयाम कृष्ण कथा के माध्यम से उद्घाटित होते हैं। लोकगीत और लोकगाथा की गान शैलियों ने भक्ति साहित्य में काव्यरूपों तथा छन्दों की संरचना में योगदान किया है।

लोकगीत का भक्ति काव्य से अनन्त सम्बन्ध रहा है। भारतीय साहित्य में कविराज जयदेव, महात्मा चंडीदास और दक्षिण के आलवार, भक्तों के गीत सन्त तुकाराम और नामदेव के पद लोक प्रचलित ग्राम शैलियों के आधार पर रचे गये हैं। भक्ति काव्य में कबीर, जायसी, तुलसी और सूर ने लौकिक गान शैलियों एवं लोक छन्दों का भरपूर प्रयोग किया है, कबीर ने साखी के लिए जिस दोहा छन्द काव्य उपयोग किया है, उसकी एक सुदीर्घ परम्परा रही है। तुलसी ने अपने युग के संदर्भ को रचनात्मकता में ढालकर उसे लोकोन्मुख एवं लोकग्राही बना दिया है। विवेक और लोकमंगल तुलसी के प्रिय शब्द हैं।[13] कबीर ने तीसी, कहरा, वेली, बिरडली, हिंडोला आदि लौकिक काव्य रूपों को सहज भाव से अंगीकार किया है, वहीं सूफी कवियों के काव्य में दोहा-चौपाई वाली आख्यानक शैली के साथ-साथ बारहमासा और ककहरा जैसे लौकिक काव्य रूपों का समावेश किया है। तुलसीदास जी ने सोहर मंगल चालीसा जैसे लौकिक काव्य रूपों का सुन्दर प्रयोग किया है। वही दूसरी ओर कृष्ण भक्त कवियों ने प्रभाती मंगला, सांझी, भारती, होरी, फाग, रास और रेसिया इत्यादि लौकिक गान पद्धतियों के आधार पर अपने पदों की रचना की है।

निष्कर्षतः हम कह सकते है कि भक्ति काव्य की भाषिक संरचना में क्षेत्रीय बोलियों अथवा लोक भाषाओं का योगदान अध्ययन का एक स्वतंत्र विषय है। सन्तों ने यत्र-तत्र की मिश्रित सधुककड़ी भाषा का प्रयोग किया है। सूफी कवियों ने बोल-चाल की ठेठ अवधी को महत्व दिया है। कृष्ण भक्त कवियों में ब्रजभाषा की लोकधुरी को अंगीकार किया। एक विशेष बात यह है कि भक्तिकाल के कवियों में लोक काव्य में बसे हुए मुहावरों, लोकोक्तियों और पहेलियों इत्यादि का भी मनोवांछित उपयोग किया गया है, जो लोक जीवन में प्रचलित नाना प्रकार के रीति-रिवाजों और जनमानस को आन्दोलित करने वाले विश्वास लोकवार्ता के दूसरे महत्वपूर्ण पक्ष का संकेत करते हैं। जन्म, विवाह, मृत्यु इत्यादि से सम्बद्ध संस्कार पर्व, व्रत, उत्सव इत्यादि के आचार-विचार और तमाम जातियों की जीवन पद्धतियाँ तथा प्रथाऐं परम्परागत इत्यादि समाज शास्त्रियों के अध्ययन के विषय रहे हैं। इस

प्रकार भक्तिकालीन लोक साहित्य में समाज की अहम भूमिका रही है और आज भी समाज में अधिक लोकप्रिय हैं।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, मध्यप्रदेश
Mob.No.-8085863703
Email-ratiramahirwar2014@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. प्रो. नर्मदा प्रसाद गुप्त, बुन्देली संस्कृति और साहित्य, मध्यप्रदेश आदिवासी लोककला परिषद, भोपाल (म.प्र.), प्रथम संस्करण 2001, पृ.27
2. उदयभानू सिंह, तुलसी काव्य मीमांसा, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2011, पृ.185
3. वही, पृ.199
4. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010, पृ.199
5. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1929, पृ. 101
6. वही, पृ. 119
7. प्रो. नर्मदा प्रसाद गुप्त, बुन्देली संस्कृति और साहित्य, मध्यप्रदेश आदिवासी लोककला परिषद, भोपाल (म.प्र.), प्रथम संस्करण 2001, पृ.35
8. उदयभानू सिंह, तुलसी काव्य मीमांसा, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2011, पृ.203
9. प्रो. नर्मदा प्रसाद गुप्त, बुन्देली संस्कृति और साहित्य, मध्यप्रदेश आदिवासी लोककला परिषद, भोपाल (म.प्र.), प्रथम संस्करण 2001, पृ.246
10. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1929, पृ. 79
11. वही, पृ. 125
12. प्रो. नर्मदा प्रसाद गुप्त, बुन्देली संस्कृति और साहित्य, मध्यप्रदेश आदिवासी लोककला परिषद, भोपाल (म.प्र.), प्रथम संस्करण 2001, पृ.
13. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010, पृ.41

भक्ति आन्दोलन की राजनीतिक पृष्ठभूमि

शिवेन्द्र कुमार मौर्य

भक्ति आन्दोलन की शुरूआत कैसे और कहाँ हुई? इस बात की पड़ताल बहुत हो चुकी और बहुत होनी शेष है। जिन विद्वानों ने अभी तक इस विषय पर अपनी राय दी है उससे पूर्ण संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता। किसी भी विषय पर विद्वानों का एक मत न होना इस बात को परिलक्षित करता है कि उस विषय की अर्थवत्ता कितनी है? एकमत हो जाने का मतलब है संभावनाओं का मृतप्राय हो जाना। भक्ति आन्दोलन के विविध पहलू पर अध्ययन की अभी अपार संभावनाएँ हैं। इसकी व्यापकता इतनी अधिक और गहरी है कि मति छोटी पड़ जाती है। यह वैसा ही है जैसा कि तुलसी ने राम के संदर्भ में कहा है-

करन चहउँ रघुपति गुन गाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा।।

किसी भी देश का वातावरण निर्मित होता है, वहाँ की जनता और उसके कार्यव्यापारों से जब वही जनता किसी क्षण अर्थात् कालखण्ड के भीतर कोई अभूतपूर्व कार्य कर जाती है तो उसका स्वर्णिम इतिहास बन जाता है। हिंदी साहित्य का भक्तिकाल उसी का सुपरिणाम है। भक्ति आन्दोलन ने इस कालखण्ड को एक नई पहचान दी है। "इस काल में भक्ति व्यक्ति तक सीमित न रहकर जन-जन तक पहुँची। फलस्वरूप इसका चरित्र आन्दोलनात्मक हो गया। आन्दोलनात्मक इस अर्थ में कि भौगोलिक और भाषायी व्यापकता के अतिरिक्त इसका प्रभाव संस्कृति और कला के लगभग सभी रूपों पर पड़ा। संस्कृति और कला का कोई भी रूप ऐसा न रहा, जिसे इसने प्रभावित न किया। वह चाहे वास्तुकला हो, चित्रकला हो, नृत्यकला हो, संगीत हो, साहित्य हो या कोई कला रूप। मध्यकाल की इस व्यापक और वेगवती भावधारा का लोकप्रिय नाम भक्ति आन्दोलन है।"[1] डॉ. गोपेश्वर सिंह का यह अभिमत भक्ति आन्दोलन को एक स्वरूप प्रदान करने की कोशिश करता है। किन्तु इनके मत में डॉ. सेवा सिंह का भी मत जोड़ दिया जाय तो भक्ति

आन्दोलन की पृष्ठभूमि को समझने में और आसानी हो जायेगी। डॉ. सेवा सिंह का मत है- ''तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों के तुर्कों के सामाजार्थिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप तथाकथित निम्न जातियों के शिल्पियों की अपार गतिशीलता ने जाति बंधनों को ढीला कर दिया था। जबकि ब्राह्मणीय व्यवस्था के लिए यह शूद्रोत्थान पौराणिक रूप से आतंकपूर्ण कलियुग था। इस कलियुग से छुटकारा पाने के लिए भक्ति का एक आंदोलन के रूप में नये शिरे से प्रावधान किया जाने लगा। इसे ही आगे जाकर 'उत्तर भारत का भक्ति आंदोलन' कहा गया है।''[2]

साहित्यकारों और इतिहासकारों ने भक्ति आंदोलन के उदय की पृष्ठभूमि पर अलग-अलग दृष्टि से विचार किया है। सभी की दृष्टियों को परखते हुए ही हम भक्ति आन्दोलन को अच्छी तरह से समझ सकते हैं। ऐसा माना जा सकता है कि इतिहासकारों की अपेक्षा साहित्यकारों का रूझान इस ओर ज्यादा है। हिंदी साहित्यकारों में डॉ. ग्रियर्सन, आचार्य शुक्ल, आचार्य द्विवेदी, मुक्तिबोध, रामधारी सिंह दिनकर, नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र, रामविलास शर्मा, कृष्णदत्त पालीवाल, गोपेश्वर सिंह, डॉ. सेवा सिंह आदि विचारकों की पूरी एक शृंखला दिखती है। इतिहासकारों में प्रो. इरफान हबीब, प्रो. सतीश चन्द्र, प्रो. हरबंस मुखिया, रोमिला थापर, लईक अहमद, जाफर रजा, एन.आर. फारूखी, डॉ. हरीशचन्द्र वर्मा, प्रो. राधेश्याम आदि प्रमुख हैं। साहित्यकारों के साथ-साथ इतिहासकारों ने भी बहुत ही जिम्मेदारी से भक्ति आन्दोलन के राजनीतिक चरित्र को उजागर करने का प्रयास किया है। इतिहासकारों ने धर्म और वर्ण से ऊपर उठकर राजनीतिक पहलू के साथ-साथ अन्य पहलुओं पर बड़ी मजबूती से अपना पक्ष रखा है।

जिस समय भक्ति आन्दोलन की शुरूआत हुई भारतीय समाज कई खेमों में बँटा था। उसके अलगाव का कारण चाहे सामाजिक हो, राजनीतिक हो, धार्मिक हो, आर्थिक हो, सांस्कृतिक हो या भाषाई रहा हो; इन सबको भक्ति आंदोलन ने व्यापक स्तर पर प्रभावित किया। विद्वानों के मतों की जो अलग-अलग शृंखला देखने को मिलती है, वह इसी का परिणाम है। जिन विद्वानों की दृष्टि जिस ओर गई भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि में उसे वही कारण नजर आया। पर इन सबसे भिन्न डॉ. ग्रियर्सन ने भक्ति आन्दोलन के उदय की पृष्ठभूमि का जो कारण माना वह थोड़ा अचम्भित करने वाला है। उनका मत है कि 'बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अन्धकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चित नहीं कर सकता। इस सन्दर्भ में बस यही कहा जा सकता है कि भक्ति आन्दोलन कोई गुरिल्ला युद्ध नहीं था, जिस पर अचानक से आक्रमण

हो गया हो। इस बात का पता न लग पाया हो कि आक्रमण किधर से कैसे और किसलिए हुआ?

ग्रियर्सन ने सबसे पहले अपने इतिहास में भक्तिकाल को महत्वपूर्ण उपलब्धि मानते हुए इसे हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग माना है। माना भी क्यों न जाय? यदि "सहज ही जिस युग की रचना राष्ट्र की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती हो, समाज का पथ प्रदर्शन करे, लोकमंगल की भावना से प्रसूत हो और जहाँ युग-युग तक अमर, प्रभावी तथा चिर-प्रासंगिक कृतियों का जन्म हुआ हो, वही स्वर्णयुग कहलाने में समर्थ होता है।"[3] भक्तिकाल जिस राजनीतिक विखण्डन व सामाजिक टूटन के बीच उदित हुआ उस गलती को वह पुनः दोहराना नहीं चाहता था अतः एक विशेष उद्देश्य के तहत उसने भक्ति आन्दोलन में प्रवेश किया। इस आन्दोलन ने उत्तर भारत को भले ही अधिक आन्दोलित किया हो, किन्तु इसके आदिस्थान के संदर्भ में कुछ विद्वानों का इशारा दक्षिण भारत की ओर रहा है। इसके परिप्रेक्ष्य में दो महत्वपूर्ण तथ्य अधिकांशतः उद्धृत किये जाते हैं। पहला है 'श्रीमद्भागवतमाहात्म्य' का श्लोक। जो इस प्रकार है-

उत्पन्ना द्राविड़े साहं वृद्धिं कर्नाटकेगता।
क्वचित्क्वचिद् महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।।
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनैव सरूपणी।
जातां युवती सम्यक् श्रेष्ठ रूपा तु साम्प्रतम्।।

और दूसरी यह बहुचर्चित उक्ति है-

भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।
परगट करी कबीर ने सप्तद्वीप नवखंड।।

भक्ति आन्दोलन के उदय की पृष्ठभूमि में इन तथ्यों से आचार्य शुक्ल की साम्यता अधिक दिखाई पड़ती है। उनका मत है- "भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे-धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था, उसे राजनीतिक परिवर्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय क्षेत्र में फैलने के लिए पूरा स्थान मिला।"[4] भक्ति आन्दोलन के कई सौ वर्षों पूर्व ही देश अपनी राजनीतिक एकता खो चुका था। लगातार हो रहे विदेशी आक्रमणों से जनता त्रस्त थी। राजनीतिक विघटन ही वह कारण था जिसने मुसलमान आक्रमण कारियों को भारत पर विजय प्राप्त करने का मौका दिया।

किसी भी कालखंड का मूल्यांकन करने के लिए उस समय की राजनीतिक परिस्थिति को जानना आवश्यक होता है। कभी-कभी राजनीतिक सत्ता ही परिस्थितियों के निर्माण का कारण होती है और समाज किस ओर अभिमुख होगा इसका निर्धारण

भी उसी के हाथ रहता है। भक्तिकाल जिस परिस्थिति की देन है, वहाँ ये संभावनाएँ और अधिक बढ़ जाती हैं। विद्वानों ने भक्तिकाल की समय सीमा 1320ई. (मुहम्मद बिन तुगलक) से 1658ई. (शाहजहाँ) तक स्वीकार की है। किंतु भक्ति का प्रवाह इसके पहले से ही चला आ रहा था और बाद तक चलता भी रहा। इस समय सीमा के भीतर कई राजनीतिक उलटफेर हुए। इस राजनीतिक उलटफेर को दो चरणों में देखा जा सकता है। प्रथम में तुगलक वंश, सैयद वंश, लोदी वंश तथा द्वितीय चरण में मुगल वंश की सत्ता अभिहित की जा सकती है। आचार्य शुक्ल व अन्य विद्वान भी लगभग इसी समय सीमा का रेखांकन करते हैं।

राजनीतिक उलटफेर में दिल्ली की सल्तनत को यदि केन्द्र में रखा जाय तो तुगलक वंश के पहले भी कई वंशों के आधिपत्य ने सत्ता के उन्माद में भारी उत्पात मचाया था। गुलाम वंश और खिलजी वंश इनमें महत्वपूर्ण हैं। आचार्य शुक्ल के भक्तिकालीन परिस्थितियों के राजनीतिक मूल्यांकन का शायद कारण भी यही था। जब वे कहते हैं- "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देवमंदिर गिराये जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरूषों का अपमान होता था। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन भी सकते थे। आगे चलकर मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छायी रही। अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करूणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[5]

मध्यकाल के प्रारंम्भिक दौर पर नजर रखते हुए इतिहासकार सतीश चन्द्र ने भी यही बातें कही हैं। "प्रारंभिक दौर भारी खून-खराबे और नरसंहार का काल था, जिसमें प्रख्यात नगर उजाड़ दिये गये और बहुत से वैभवशाली मंदिर तोड़ दिये गये।"[6] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी उस समय की परिस्थिति को इस रूप में देखते हैं- "प्रधान कारण यह है कि इस साहित्य के जन्म के साथ-ही-साथ भारतीय इतिहास में एक अभूतपूर्व राजनीतिक और धार्मिक घटना हो गई भारतवर्ष के उत्तर पश्चिम सीमांत से विजयदृप्त इस्लाम का प्रवेश हुआ, जो देखते-देखते इस महादेश के इस कोने से उस कोने तक फैल गया। इस्लाम-जैसे सुसंगठित धार्मिक और सामाजिक मतवाद से इस देश का कभी पाला नहीं पड़ा था, इसीलिए नवागत समाज की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक गतिविधि इस देश के ऐतिहासिक का सारा ध्यान खींच लेती है।"[7] दिल्ली सल्तनत की उठा-पटक वाली बात उनके ध्यान में थी। इतिहास का मूल्यांकन करते हुए इस्लाम के महत्व को वे भूले नहीं, बल्कि

परंपरा के सहज विकास के रूप में ही उसे स्वीकार किया। इस्लामी आक्रमण के पहले भी भारत पर विदेशियों द्वारा बराबर आक्रमण होते रहे थे। उसका जो असर भारतीय परंपरा पर पड़ा, वही इस्लाम आक्रमण के साथ भी हुआ। इसीलिए आचार्य द्विवेदी को ये बात जोर देकर कहनी पड़ी। "ऐसा करके मैं इस्लाम के महत्व को भूल नहीं रहा हूँ, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह माना वैसा ही होता जैसा आज है।"[8]

राजनीतिक दृष्टि से भक्तिकाल इसलिए महत्वपूर्ण है कि, इसके पहले जितने भी आक्रमण हुए वे लूट-पाट व अपने धर्मों के प्रचार-प्रसार के लिए हुए। किन्तु मुस्लिमों का आक्रमण भारत में बसने के इरादे से हुआ। "ग़यासुद्दीन तुग़लक और उसके पुत्र मुहम्मद तुगलक ने मुस्लिम साम्राज्य को दूर-दूर तक फैला दिया। उन्होंने दक्षिण के द्वार-समुद्र, वारंगल और देवगिरि को अपने साम्राज्य में मिला लिया।"[9] तुगलक वंश में मुहम्मद बिन तुगलक बहुत शक्तिशाली सम्राट हुआ। इसने अपनी राजधानी दिल्ली से देवगिरि ले जाने की मूर्खता की थी। इसकी नीति हिन्दुओं के प्रति उदार थी, किन्तु, फिरोजशाह तुगलक में धार्मिक असहिष्णुता थी। मुहम्मद बिन तुगलक के विषय में इतिहासकार इब्नबतूता का मत है- "यह सम्राट रूधिर की नदियाँ बहाने तथा पात्रापात्र पर विचार किये बिना ही दान देने के लिए अति प्रसिद्ध है। शायद ही ऐसा दिन कोई बीतता होगा कि जब वह सम्राट किसी भिखमंगे को धनाढ्य न बनाता हो और किसी मनुष्य का वध न करता हो। इसकी दानशीलता की, साहस एवं उदारता की और रूधिर की नदियाँ बहाने की कथाएँ सर्वसाधारण की जिह्वा पर हैं। यह सब कुछ होने पर भी मैंने इसके समान न्यायप्रिय और आदर-सत्कार करने वाला कोई अन्य पुरुष न देखा।"[10] फिरोजशाह तुगलक भी इस वंश का महान सम्राट हुआ।

तुगलक वंश के बाद सैयद वंश का अभ्युत्थान होता है। 1414 ई. में सैयद खिज्रखाँ दिल्ली सल्तनत के तख़्त पर क़ाबिज़ होता है। सैयद वंश का अंतिम शासक अलाउद्दीन आलम शाह था। 'अलाउद्दीन आलमशाह नीच प्रकृति का शासक था, उसने सम्पूर्ण राज बहलोल को सौप दिया और स्वयं बदायूँ में जाकर रहने वाला।"[11] "इस वंश के सुल्तानों की सारी शक्ति सामन्तों को दबाने के लिए अनेकानेक युद्ध-यात्राओं और संघर्षों में ही व्यय हो गयी।"[12] खिज्र खाँ सैयद वंश का महत्वपूर्ण व संस्थापक सुल्तान है। इसके बारे में डॉ. ईश्वरी प्रसाद लिखते हैं कि "खिज्रखाँ एक सच्चे सैयद की भाँति जीवन व्यतीत करता था। उसने निरर्थक कभी रक्त-पात नहीं किया और न उसने कभी अपनी शक्ति को प्रबल बनाने अथवा बदला लेने की भावना से क्रूर अपराध की आज्ञा दी।"[13]

लोदी वंश का संस्थापक बहलोल लोदी था। पूर्व में जौनपुर तथा कालपी और दक्षिण की तरफ जोधपुर का इलाका इसके आधिपत्य में था। लोदीवंश का सर्वाधिक प्रभावशाली सुल्तान इब्राहीम लोदी था। सिकन्द लोदी इस वंश का प्रभावशाली शासक था। इसका अधिकतर समय अपने सिंहासन के विरूद्ध उठे विद्रोह को दबाने में ही बीता। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् इब्राहीम लोदी 1517ई. में निर्विरोध दिल्ली का सुल्तान बना। "यद्यपि वह वीर तथा साहसी था परन्तु वह बड़ा ही उद्दण्ड तथा सन्देहशील व्यक्ति था। वह बड़ा ही हठी तथा उग्र स्वभाव का व्यक्ति था।"[14] बाबर के साथ पानीपत का प्रथम व निर्णायक युद्ध इब्राहीम लोदी के साथ हुआ था, जिसमें उसकी पराजय हुई। इसकी पराजय के साथ ही मुगल साम्राज्य का उदय हुआ भक्तिकाल का द्वितीय चरण प्रारम्भ होता है।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना से हिन्दुओं में वही भावनाएँ उत्पन्न हुई, जैसा कि गुर्जर और हूणों की विजय से हुआ। "भौतिक रूप से वे जीतने वाले के समक्ष समर्पित हो गये, किन्तु उनकी आत्मा ने उन्हें जातिगत और धार्मिक आत्मनिर्भरता तथा अकेलेपन के प्रभाव में ऐसा घेर लिया कि उनके और मुसलमानों के बीच परस्पर संपर्क संबंधों की कोई संभावना नहीं रह गयी। म्लेच्छा पद जो मूलतः गुर्जरों और हूणों के लिए बनाया गया था, अब मुसलमानों के प्रयोग में लाया जाने लगा।"[15] इस बात की शिनाख्त 'कृष्णनामाश्रयस्त्रोत' से ली गई बल्लभाचार्य की इस पंक्ति से की जा सकती है।

'म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीड़ाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम।।'

"सन् 1350 के बाद, मुहम्मद तुगलक के जमाने से ही, स्वतन्त्र प्रान्तीय शासन कायम हो रहे थे। वे समय-समय पर कुलच दिये जाते थे। किन्तु वे उठ खड़े होते। इनमें बंगाल, जौनपुर, मालवा गुजरात और दक्षिण का बहमनी राज्य प्रसिद्ध है। उसी प्रकार उन दिनों स्वतन्त्र राजपूत राज्यों का अभ्युदय हो चुका था। मेवाड़ के राजाओं ने गुजरात और मालवे के मुस्लिम शासकों से युद्ध करके अपना राज्य विस्तार कर लिया था। इन्हीं दिनों दक्षिण का विजयनगर राज्य सामने आया।"[16] इस उल्लेख से दिल्ली सल्तनत के अलावा सम्पूर्ण भारत के राजनीतिक पटल का संक्षिप्त अवलोकन हो जाता है।

भक्तिकाल के द्वितीय चरण में मुगल साम्राज्य की राजनीति का विशेष महत्व है। इस वंश में बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ जैसे उदारवादी शासक हुए। औरंगजेब भक्तिकाल की समय सीमा से बाहर है, अतः उसका जिक्र यहाँ नहीं किया जा रहा है। मुगल शासकों के राजदरबारों में साहित्य, संगीत, कला, धर्म आदि

को संरक्षण प्राप्त था। "मुगल बादशाहों ने पूर्ववर्ती सुल्तानों की शासकीय कमियों से सजग होकर उनसे अपना बचाव किया और शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाया। बाबर की योग्यता और सजगता ने सफल बनने में उसे पर्याप्त सहायता पहुँचायी। वैसे मुगलों में अकबर का राज्यकाल सभी दृष्टियों से सर्वोपरि रहा और उसे अभीष्ट को पाने में बहुत कुछ सफलता भी मिली।"[17] अकबर के दरबार में नवरत्न को संरक्षण दे रखा था। उसने टोडरमल की सहायता से भू-व्यवस्था में आवश्यक सुधार किया था। हिन्दुओं से जजियाकर और तीर्थकर हटा दिये थे। टकसाल में सुधार इसी के शासनकाल में हुआ। इसने अपने राज्य का खूब विस्तार भी किया।

"यद्यपि दिल्ली सल्तनत ने भारत को राजनैतिक एकता दी, किन्तु हिन्दू उसे अपना स्वयं का राजा नहीं मान सके, क्योंकि सिकन्दर लोदी और शेरशाह सूरी को छोड़कर शासकों ने उनके और उनकी हिन्दू प्रजा के बीच की खाई को पाटने के लिए सकारात्मक प्रयत्न नहीं किए।"[18] हिन्दू जनता की उच्च जातियाँ अपने को ठगा सा महसूस कर रही थी। प्रजा का पूर्ण सहयोग राजा को न मिल सका। प्रजा के बीच असंतोष की भावना बीच-बीच में उबाल मारने लगी और जगह-जगह विद्रोह जैसी स्थिति पैदा हो जाती। सत्ता से च्युत हुई राजपूत जातियों का अभिमान धीरे-धीरे जाता रहा। चातुर्वण्य व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी थी। मानसिक गुलामी झेल रही निचली जातियों का स्वाभिमान उचित संरक्षण पाकर धीरे-धीरे जाग्रह होने लगा और भक्ति आन्दोलन में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। अबकर और जहाँगीर की शासन इस निहाज से अधिक उदारतापूर्ण था। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता इनके शासन में अधिक देखने को मिलती है, रैदास, कबीर, तुलसी जैसे साहित्यकार इसी काल में पैदा हुए।

जहाँगीर अपनी न्यायप्रियता के लिए प्रसिद्ध था। वह लक्ष्यबेधी और शक्तिशाली आखेटक था। अकबर के शासन काल में इसने सत्ता के लिए विद्रोह कर दिया था। खुसरों का विद्रोह जहाँगीर के समय हुआ। अन्त समय में जहाँगीर का कार्यभार नूरजहाँ ही अधिकतर देखा करती थी, जिसके कारण जनता में असंतोष व्याप्त हो गया था। खुसरो का विद्रोह इसी का परिणाम था। जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् शाहजहाँ सिंहासनारूढ़ हुआ। इसका बचपन का नाम खुर्रम था। यह बचपन से ही कुशाग्रबुद्धि और अकबर का सर्वप्रिय प्रपौत्र था। स्थापत्य कला के विकास में शाहजहाँ का नाम हमेशा याद किया जाता रहेगा। शाहजहाँ के शासनकाल में भी कई विद्रोह हुए। खानजहाँ लोदी और बुन्देलखण्ड का विद्रोह इसी के समय हुआ था।

दिल्ली सल्तनत कुछ समय के लिए मुगल सत्ता से दूर थी। शेरशाह सूरी, हुमायूं को पराजित कर कुछ समय के लिए शासक बना था, किन्तु उसकी आकस्मिक

मृत्यु ने मुगलशासन को पुनः स्थापित होने का मौका दे दिया। शेरशाह की शासन व्यवस्था तथा न्यायप्रियता बहुत प्रसिद्ध हुई। अकबर ने शेरशाह की बहुत सारी योजनाओं का लाभ उठाया। जिनमें सैन्य योजना तथा यातायात की व्यवस्था प्रमुख थी। "जहाँ तक आम लोगों का संबंध है, कालान्तर में, उनके संबंध, शासकों से यद्यपि अधिक घनिष्ठ नहीं हुए, किन्तु साधारण रूप से अच्छे हो गये। असंतोष और अविश्वास की प्रारंभिक अवस्था के बाद उन्होंने नयी सरकार को सहयोग देना प्रारंभ कर दिया, क्योंकि उनसे असंतुष्ट रहने के लिए, उनके पास कोई विशेष कारण नहीं थे। सम्पूर्ण रूप से मुसलमान राजाओं ने शांति और व्यवस्था बनाये रखी, न्यायोचित ढंग से राज्य किया और अपनी हिन्दू प्रजा को धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्वतंत्रता प्राप्त की।"[19]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्तिकालीन वातावरण के निर्माण में राजनीतिक परिस्थिति का किस प्रकार सहयोग प्राप्त हुआ। अन्य वंशों की अपेक्षा मुगल वंश काफी सहिष्णु और प्रभावशाली रहा। मुगल वंश के भक्तिकाल के निर्माण में काफी सहयोग प्राप्त हुआ, जिस कारण उसका पूरा विकास हमें दिखाई पड़ता है। राजनीतिक परिस्थिति के निर्माण में उस राज्य की आन्तरिक कलह का भी ध्यान अपेक्षित है। आन्तरिक कलह का दुष्परिणाम यह होता है कि राजनीतिक में कभी स्थिरता नहीं आ पाती और उसका असर पूरे समाज व संस्कृति पर पड़ता है।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
Mob.No. 8004802456
Email-shivendrakr.maurya@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. भक्ति आन्दोलन और काव्य- गोपेश्वर सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृ. 13
2. भक्ति और भक्ति आन्दोलन- डॉ. सेवा सिंह, आधार प्रकाशन, पंचकूला, संस्करण 2017, पृ. 26
3. हिन्दी साहित्य का भक्तिकालीन काव्य- डॉ. मनमोहन सहगल, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, संस्करण 2007, पृ.1
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास- रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण-सं. 2063 वि. पृ. 35

5. हिन्दी साहित्य का इतिहास- रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण-संवत् 2063 वि., पृ. 34
6. मध्यकालीन भारत : राजनीति, समाज और संस्कृति- सतीश चन्द्र, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, तेलंगाना, पुनर्मुद्रित संस्करण 2016, पृ. 117
7. हिन्दी साहित्य की भूमिका-हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010, पृ. 15
8. वहीं, पृ. 15-16
9. भारतः इतिहास और संस्कृति- गजानन माधव 'मुक्तिबोध', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009, पृ. 133
10. इब्नबतूता की भारत यात्रा या चौदहवीं शताब्दी का भारत-पांडुलिपि-दिनेश शर्मा के सौजन्य से प्राप्त, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित, संस्करण-दसवीं आवृत्ति 2014, पृ. 68
11. भारत का इतिहास (1000-1707ई.)- आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी प्रकाशन, आगरा, संस्करण 1998, पृ. 179
12. भारत : इतिहास और संस्कृति, पृ. 134
13. पूर्व मध्यकालीन भारत- श्रीनेत्र पाण्डेय, लोकभारती, प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2009, पृ. 179
14. वहीं, पृ. 694
15. भारत राष्ट्रीय संस्कृति- एस. अबिद हुसैन- राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत, चौदहवीं आवृत्ति 2014, पृ. 72
16. भारत : इतिहास और संस्कृति, पृ. 135
17. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : सं. नगेन्द्र, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, संस्करण-सत्ताइसवां 2000, पृ. 94
18. भारत राष्ट्रीय संस्कृति- एस. अबिद हुसैन- राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत, चौदहवीं आवृत्ति 2014, पृ. 73
19. भारत राष्ट्रीय संस्कृति- एस. अबिद हुसैन- राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत, चौदहवीं आवृत्ति 2014, पृ. 73

हमारे समय में 'कबीर'

साँई शरण चौबे

सच कहा जाय तो हिन्दी साहित्य में कबीर की जीवन्तता कल भी और आज भी कायम है। हालांकि "धार्मिक सुधार और समाजसुधार का घनिष्ठ संबंध है। धर्मसुधारक को समाजसुधारक होना पड़ता है। कबीर ने भी समाजसुधार के लिए अपनी वाणी का उपयोग किया है। हिन्दुओं की जाति-पाँति, छूआ-छूत, खान-पान आदि के व्यवहारों और मुसलमानों के चाचा की लड़की व्याहने, मुसलमानी आदि कराने को उन्होंने चुभती भाषा में विरोध किया है और इनके विषय में हिन्दू-मुसलमान दोनों की जी भरकर धूल उड़ाई है।"[1] यदि हम सूक्ष्मता से विचार करें तो यह "ईश्वर और मनुष्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का एक माध्यम धर्म है। जाति, कुल, देशकाल और परिस्थितियों से निरपेक्ष होकर नैतिक दायित्व का निर्वाह करना धर्म है। धर्माचार अथवा नैतिकता समाजपरक है और धर्म-साधना व्यक्तिनिष्ठ।"[2] इस कथन का अभिप्राय है कि धर्म अपने कर्तव्यों का ईमानदारी और निष्ठा से पालन करते हुए ईश्वर तक पहुँचने का माध्यम है किन्तु जब-जब मानव, धर्म के वास्तविक उद्देश्यों को हाशिये पर रखकर उसका रूप बदलने का प्रयास करता है, तब-तब उसका नैतिक और चारित्रिक दृष्टि से पतन अवश्य होता रहा है। धार्मिक दृष्टि से मध्य युग की इन्हीं हालातों का शिकार था। वैदिक काल से जितने भी धर्म भारत में पैदा हुए, प्रायः सभी धर्मों का अस्तित्व यहाँ विद्यमान था। देश का प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी धर्म से जुड़ा हुआ था। "भारत के वर्तमान प्रमुख धर्मों में से संवत् चौदह सौ में यहाँ पर हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, बौद्ध, ईसाई, यहूदी और फारसी धर्म प्रचलित थे। सबकी दशा एक-सी नहीं थी। हिन्दू और इस्लाम धर्म प्रमुख थे।"[3] भारतीय समाज इन्हीं दो धर्मों के आपसी संघर्ष की चक्की में पिस रहा था।

हिन्दू धर्म में वर्ण व्यवस्था का रूप छुआछूत और पूजा-पाट, कर्मकाण्डों ने बिगाड़ दिया था, जिसके कारण अपने धर्म को मानने वाले न तो संतुष्ट थे और न ही सुखी। ब्राह्मण, पुरोहित और पंडितों का दिखाया हुआ मार्ग भी हिन्दू जनता

को लक्ष्य पर पहुँचाने का कार्य करने के बजाय उन्हें भटका रहा था। कबीर की बानियों में अधिकांशतः इसी भटकाव को दूर कर ज्ञान और भक्ति का मार्ग दिखाती है। इसीलिए उन्होंने लोगों को वेद-पुराणों, तीर्थ-जपों, व्रत-उपवासों और मूर्ति पूजा जैसे- अंधविश्वासी संस्कारों द्वारा ठगे जाने से बचाना चाहा। तब हिन्दू धर्म में ब्राह्मण केवल पठन-पाठन किया करते थे, किन्तु इनका सारा अध्ययन अर्थहीन और सामान्य जनता के शोषण के लिए होता था, दूसरों के प्रति कोई प्रेम की भावना मध्य युग के ब्राह्मण के मन में नहीं रह गयी थी। उसी के फलस्वरूप ब्राह्मण भी अपना वह आदरणीय स्थान खो चुका था, जो इस देश की सामान्य जनता ने उसे दिया था। एक ओर मुस्लिम शासकों द्वारा अत्याचार से पीड़ित बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन के मार्ग पर धकेली जाती हुई निम्नवर्गीय हिन्दू-जातियाँ तथा दूसरी ओर अपने ही धर्मवलम्बियों के द्वारा ठगा जाता हुआ हिन्दू समाज। यह सच्ची तस्वीर उभरती है मध्यकालीन समाज की। धर्म ने उस समय न तो व्यक्ति को ज्ञान दिया, न मोक्ष दिया। बल्कि वह अत्याचार और धार्मिक शोषण का हथियार बन गया।

धर्म का वास्तविक सम्बन्ध व्यक्ति के आदर्श, कर्तव्य और विचार से होता है, लेकिन कबीर के युग के धर्म के ठेकेदारों ने धर्म की सारी परिभाषाएं, सारी मान्यताएं ही बदलकर रख दीं। जिसके फलस्वरूप हिन्दू धर्म खोखले रीति-रिवाजों और बाहरी आडम्बरों का ढोल बन रह गया था न की ईश्वर प्राप्ति का साधन।

आधुनिक युग में सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से कबीर की प्रासंगिकता सिद्ध करने के लिए कबीर कालीन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का विश्लेषण आवश्यक है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कबीर के युग की धार्मिक परिस्थितियाँ बहुत संतोषजनक नहीं थीं। एक ओर हिन्दू धर्मावलम्बियों के समक्ष अपने धर्म का अस्तित्व बचाए रखने का प्रश्न था, वहीं दूसरी ओर धर्म के नाम पर फैले कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा, तीर्थजप, ब्राह्यचार आदि मिथ्या अंधविश्वासों से मुक्ति का। हिन्दु धर्म की पिछड़ी जातिय छूआछूत और अमानवीयता की शिकार थी अर्थात् कुल मिलकार सामाजिक परिस्थितियाँ भी अत्यन्त दयनीय थी।

कबीर आदि संतों ने भक्ति आन्दोलन के माध्यम से अति कठिन परिस्थितियों से जूझते हुए समाज के अति निर्बल वर्ग को साथ लेकर व्यर्थ के पाखण्डों का खण्डन और नवीन भक्ति पद्धति की स्थापना करने का उद्देश्य पूरा कर दिखाया। जिससे लोगों धार्मिक अंधविश्वासों से मुक्ति पाने व समाज में समानता का वातावरण बनाने में सफलता पायी। हम जानते है कि मध्यकाल में अनेक धर्म प्रचलन में थे परन्तु हिन्दु और मुस्लिम धर्म की ही प्रमुखता थी। हिन्दू मूर्तिपूजा में विश्वास करते थे और मुसलमानों में मूर्तिपूजा का विरोध सर्वविदित है। बस यही कारण था जो एक कट्टर धार्मिक संघर्ष के रूप में सामने आया। जितने मुस्लिम अपने धर्म के

प्रति कट्टर थे उतनी ही निष्ठा हिन्दुओं में भी धर्म के प्रति थी। उस निष्ठा की ही देन थी कि भिन्न-भिन्न प्रकार के अत्याचार सहने के बाद भी अपने धर्म में दृढ़ रहने का आत्मबल दिया क्योंकि "आश्चर्य की बात यह नहीं है कि छः सौ वर्ष बाद भी भारत की केवल चौदह प्रतिशत जनता मुसलमान है, महान आश्चर्य की बात तो यह है कि पशुवत् व्यवहार किये जाने के बावजूद भारत की शुद्र समझी जाने वाली जनता इस्लाम जैसे नवजीवन, नव आदर्श व नव उत्साह से अनुप्राणित धर्म के सम्पर्क में आने और धर्म परिवर्तन कर लेने पर मिलने वाली आकर्षक राजकीय सुविधाओं व प्रलोभनों के बाद भी अपने को पददलित करने वाले हिन्दू धर्म से क्यों चिपकी रही?"[4] अर्थात् यदि मनुष्य के आचरण और कर्म में आज भी धर्म थोड़ा बहुत विद्यमान है तो उसी पददलित हिन्दू-समाज में। क्योंकि वही है जो न तो धर्म का दिखावा करता है और न ही कर्मकाण्डों में उलझता है। यह वह वर्ग है जो बिना किसी को दुख दिए बिना ललचाए अपने में ही संतुष्ट है। सुख को ईश्वर की कृपा, दुख को उसकी इच्छा मानते हुए सब उसी पर छोड़ देता है। आज का यह दलित शूद्र या ब्राह्मण में से कोई भी हो सकता है। बस दोनों में भावभूति की समानता है। और धर्म को उसके वास्तविक रूप में जीवित रखने का श्रेय उन्हीं को है, अन्यथा आधुनिक युग में भी धर्म का आडम्बर रचा जा रहा है। धर्म को व्यवसाय का साधन बना लिया गया है जिसके चलते टी.वी. चैनलों पर दूर्गा पूजा, गणपति पूजा, लक्ष्मी पूजा, काली पूजा आदि धार्मिक उत्सव पर आरती-पाठ का आयोजन होता है और घर बैठे ही यजमानी करने के इच्छुक लोगों के नाम मोटी रकम दक्षिणा की लेकर टी.वी. पर प्रसारित किये जाते हैं।

कबीर की भक्ति किसी बाह्य आडम्बर पर आधारित न होने के कारण जन सामान्य के लिए सहज ग्राह्य थी। कबीर के हृदय में तत्कालीन समाज में व्याप्त धर्म और भक्ति में श्रेष्ठता के अहंकार, दंभ और अभिमान से गले तक भरे, कर्मकाण्डों के संकुचित दायरों में कैद उच्च वर्ग के प्रति आक्रोश था और वे अपने इसी आक्रोश को प्रकट करते हुए धर्म और भक्ति को अपने तेजस्वी व्यक्तित्व के बल पर संत महात्माओं की कैद से निकालकर साधारण लोगों तक और ईश्वर को मंदिर, मस्जिदों से निकाल उनके मनों में स्थापित किया। उन्होंने प्रत्येक धर्म के कर्मकाण्डों की पोल खोल दी और आत्मतत्व को समझे बिना भक्ति करने वालों का परिहास करते हुए कहा-

"तीरथ में तो सब पानी है, होवे नहीं कछु अन्हाय देखा।
प्रतिमा सकल तो जड़ है भाई, बोले नहीं बोलाय देखा।।
पुरान-कुरान संबे बात है, या घट का परदा खोल देखा।
अनुभव की बात कबीर कहै यह, सब है झूठी पोल देखा।।"[5]

कबीर का यह मानना है कि ईश्वर सर्वत्र है जिसे जाने बगैर किसी भी प्रकार का पूजापाठ या कर्मकाण्ड उपवास, तीर्थाटन करना बेकार होता है।

"हरि बिन झूठे सब ब्यौहार, केते कोऊ करो गंवार।
झूठा जप-तप, झूठ ग्यान, राम नाम बिन झूठा ध्यान।।"[6]

ईश्वर को बिना जाने, समझे उससे सम्बन्धित चाहे कितने ही रीति-रिवाजों का पालन कर लिया जाए सब निष्फल ही होता है। राम-नाम के बिना जप, तप और ध्यान सब भ्रम और झूठे है। आज भी ईश्वर के स्मरण के बिना ही सारे धर्म के कार्य सम्पन्न होते हैं। चाहे वह भजन-कीर्तन हो, व्रत-उपवास हो या जागरण-भंडारे! सभी धार्मिक आयोजन शानो-शौकत और धन-सम्पन्नता के दिखावे के लिए किये जा रहे हैं। पैसे वालों के व्रत भी सूखे मेवों और फलों के अल्पाहर के बिना सम्पन्न नहीं होते जबकि निर्धन तो बिना आयोजन के भी उपवास रख लेता है। जब धर्म में धन का दुरूपयोग कर, लोग आर्थिक दक्षता का प्रदर्शन करने लगे जिससे एक ही समाज कुछ लोग स्वयं को हीन अथवा श्रेष्ठ समझने लगे तो वहाँ धर्म उद्देश्यहीन हो जाता है।

वास्तव में धर्म का अर्थ अन्तर्मन की शुद्धि तथा विचारों की पवित्रता में खोजा जाना चाहिए। जिनका मन निष्कपट और आचरण सात्विक हो वही वास्तविक धार्मिक माना जाना चाहिए। प्रत्येक धर्म का उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति होता है, जो हृदय शुद्धि के बिना असंभव है। विश्व का प्रत्येक धर्म मानव-समाज को सदाचार के नैतिकतापूर्ण कर्मकाण्डों से मुक्त आचरण को ही ग्राह्य माना और दोनों धर्मों में व्याप्त कर्मकाण्डों, ब्राह्मचारों की निन्दा की। "सबसे मुख्य बात यह है कि कबीरदास ने पौराणिक हिन्दू धर्म के आचार-बाहुल्य को ही अधिक लक्ष्य किया था। कोई पूजा या उत्सव उनकी दृष्टि में ज्यादा खटकता था, पर उस पूजा या उत्सव के पीछे छिपा हुआ तत्त्ववाद प्रायः ही उनकी दृष्टि में उपस्थित नहीं होता था। मूर्ति की उपासना उनको बुरी लगती थी, पर ऐसा जान पड़ता है कि मूर्तिवाला तत्त्ववाद उन्हें मालूम ही न था। शायद ही किसी दार्शनिक तत्त्ववाद या पौराणिक रहस्य-व्याख्या का उल्लेख ग्रंथ में पाया जाए।"[7]

कबीर एक भक्त के साथ ही समाज सुधारक के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। कबीर का समाज ऊँच-नीच, सवर्ण-कुवर्ण, ब्राह्मण-शूद्र, शोषक-शोषित, हिन्दू-मुसलमान इत्यादि में बँटा था ही समाज का ईश्वर भी बँटा हुआ था। हिन्दू-मुसलमान में वैमनस्य बढ़ रहा था।

"संतों देखहु जग बौराना हिन्दू कहे मोहि राम पियारा तुरक कहे रहिमाना।"

कबीर मुस्लिम धर्म के पाखण्डों के प्रति भी उतने ही कठोर थे, जितने कटु आलोचक हिन्दू-धर्म के आडम्बरों के थे। मन में सन्तोष नहीं, तो ईश्वर की आराधना के किसी भी पाखण्ड का कोई औचित्य नहीं। उनका स्पष्ट कहना था कि-

"सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ।
जाकी दिल साबित नहीं ताकौ कहाँ खुदाइ।।"[8]

तत्कालीन समाज में ईर्ष्या और द्वेष से भरा वातावरण था, परन्तु कबीर को हिन्दू और मुसलमान दोनों ही प्यारे थे। ये तो मानव मात्र से प्रेम करते थें, इनके लिए सब बराबर थें। अतः ये एक ऐसा पंथ बनना चाहते थें, ऐसी साधना पद्धति विकसित करना चाहते थे जिससे हिन्दू और मुसलमान दोनों स्वीकार कर सके। इसीलिए इन्होंने निर्गुण भक्ति का आश्रय लिया तथा राम और रहीम को एक बताकर उस एक सच्चे ईश्वर की आराधना का उपदेश दिया जो सबसे ऊपर है जो परमतत्व, परमात्मा है। सामाजिक भेदभाव का स्वाद इन्होंने स्वयं चखा था। समाज को तोड़ने वाली इन विभेदकारी रूढ़ियों को ये कभी प्रोत्साहित नहीं कर सकते थे। इन्होंने मानव मात्र की एकता पर बल दिया-

"एक बून्द एकै मल-मूतर, एक चाम एक गुदा।
एक जोति से सब उत्पन्ना, को बाह्मन को सूदा।।"

-(कबीर ग्रंथावली-पृ. 30)

इन्होंने बताया कि सब उसी राम के अंश है, अन्य सभी भेद माया जनित भ्रम हैं तथा जिन लोगों ने अपने आपको श्रेष्ठ घोषित करने का प्रयास किया उन्हें कबीर ने डांट भी लगाई। जैसे-

"ऊँचे कुल का जनमिया, करनी ऊँच न होय,
सुबरन कलश सूरा भरा, साधू निदै सोय।।"

धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक भारत के लिए हमें आदर्श समाज की रूपरेखा कबीर के संदेशों में मिलती है। हिन्दू समाज द्वारा बहिष्कृत तथा मुस्लिम समाज द्वारा तिरस्कृत कबीर ने ईश्वरीय एकता की बात कही। उन्होंने धर्म के नाम पर भेदभाव तथा ईश्वर के नाम पर लड़ाई का तार्किक खण्डन किया। कबीर के राम निर्गुण एवं निराकार ईश्वर थे। उन्होंने उसे सबका प्रभु बनाया तथा मानव धर्म की प्रतिष्ठा की। उन्होंने आस्तिकों के ईश्वर, ईश्वरीय ग्रन्थ, उपासना स्थल तथा अनुयायियों के नाम पर विभेद को नकारा तथा धार्मिक समन्वय की अवधारणा प्रतिपादित की। आज के धार्मिक वैमनस्य के वातावरण में कबीर के विचार प्रासंगिक हैं कि 'हिन्दू उसे राम कहता है। मुसलमान खुदा कहता है। तू उसकी परवाह न कर तब काबा काशी

हो जाएगा और राम रहीम हो जाएगा।' यही कारण है कि जब कबीर की मृत्यु हुई तब उनके शव पर प्रत्येक धर्मानुयायियों ने अपना दावा पेश किया।

कबीर अपने समय के क्रान्तिकारी विचारधारा के थे। उन्होंने अंधविश्वासों, कुरीतियों, जड़ता, मूर्खता एवं आडम्बरों का तर्कपूर्ण खण्डन किया है। कबीर का अपने युग के धार्मिक, सामाजिक स्वरूप का इतना बारीक ज्ञान रखते थे कि उस ज्ञान के बल पर ही उस समय की परम्परा, रूढ़, कुरीति तथा पाखण्ड को यथार्थ के धरातल पर ले जाकर खारिज किया है। अबुलफजल ने आईने अकबरी में लिखा है कि 'कबीर ने समाज के सडेगले रीतिरिवाजों को नकार दिया। कबीर ने समाज सुधार के लिए कोड़े खाए तो व्यंग्य तथा हँसी-ठिठौली द्वारा भी जनमानस में सुधार के प्रति सोच विकसित की।' उन्होंने आलोचना के साथ एक नया समाज जो सरल और सहज थी, के सृजन की रूपरेखा रखी। कबीर अराजकता, सामन्तवाद तथा उथल-पुथल के दौर में क्रान्तिकारी स्वप्नकार हैं। वे स्वभाव से संत थे, लेकिन प्रकृति से उपदेशक थे। उन्होंने अंधविश्वासों का परिहास कर ठीक निशाने पर चोट पहुँचाई। उन्होंने मूर्ति पूजा, तीर्थाटन और ईश्वर के सगुणोंवतार एवं कर्मकाण्डों का विरोध किया तथा ईश्वर और जीव के बीच भक्ति रूपी सम्बन्ध स्थापित होने में किसी भी मध्यस्थता की आवश्यकता हो; का विरोध किया। इस प्रकार वे हर प्रकार के रूढीगत विचारों को नकारा, जो दो मानव जीवात्माओं के बीच भेद करते हैं। कबीर ने मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा स्थापित करते हुए धैर्य, सहिष्णुता, कर्मयोग, प्रेम, मानवता आत्मशुद्धि, दीनहीन गरीबों की सहायता, सेवा आदि करना ही मानव का नैतिक कर्तव्य समझाया। उन्होंने समाज से पालयन न करके बल्कि समाज के बीच में रहकर गृहस्थ के रूप में कर्मयोगी बनकर समाज को शिक्षित किया। उन्हें अपने सामाजिक जाति से प्राप्त जुलाहा कर्म को अपनाकर सभी के समक्ष आदर्श रखा कि कोई भी कार्य या व्यवसाय हीन नहीं है अर्थात् कर्म की महानता के वे साक्षात् प्रमाण थे। कबीर अनपढ़ थे, लेकिन वे किसी बात के पीछे लकीर के फकीर नहीं होते थे। वे यथार्थ जीवन के विद्वान थे। कहा भी गया है कि-

"मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिउ जुगन महातम् कबीर, मुखहि जनाई बात।।" -कबीर ग्रंथावली

कबीर ने कर्म तथा स्वावलम्बन की शिक्षा दी। कबीर वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा तर्कबुद्धि को सच्ची शिक्षा मानते थे। उनके यथार्थवाद पर हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि 'कबीर ने कविता के लिए कविता नहीं लिखी, वह अपने आप हो गयी।' कबीर ने जनभाषा में जनता को शिक्षित किया। उनकी सधुक्कड़ी भाषा एक ओर मातृभाषा में विद्यार्थी को शिक्षित करने के लिए प्रेरित कर रही थी तो दूसरी

ओर भाषा के माध्यम से पाण्डित्य प्रकट करने वाले, अपने ही लोगों से परायी भाषा में बात करने वाले और भाषा के नाम पर विवाद पैदा करने वाले लोगों पर प्रश्न चिन्ह लगा रही थी।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के लिए लिखा है, 'वे मुसलमान नहीं थे। हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वैष्णव होकर भी वे वैष्णव नहीं थे। योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे भगवान् के नरसिंहावतार की मानव प्रतिमूर्ति थे। नरसिंह की भांति वे असंभव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन बिन्दु पर अवतरित हुए थे, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है और दूसरी ओर भक्ति मार्ग।'

समाज की जटिल रीतिरिवाजों को देखकर उस पर उन्होंने इतने तीखे प्रहार किये कि धार्मिक आडम्बरों, ढोंग, पण्डों और मौलवियों के दिखावों की धज्जियां उड़ गयी। कबीर की वाणी में तीखा और अचूक व्यंग्य मिलता है, जो कि विशुद्ध बौद्धिकता की कसौटी पर खरा पाया जाता है। आज भी हिन्दी में उनके तीखे व्यंग्यों की तुलना में कोई दूसरा नहीं है। केवल तर्क का सहारा ले अनाब-शनाब तर्क देने वाले तर्कवादियों को उन्होंने मूर्ख व मोटी बुद्धि वाला कहा है। क्योंकि वे मानते हैं कि जीवन की हर बात तर्क से सिद्ध नहीं होती।

'कहैं कबीर तरक जिनि साधै, तिनकी मति है मोटी।'

कबीर के तीखे प्रहारों में विद्रोह, हीनता, ईर्ष्या तथा वैमनस्य का भाव नहीं है। उनकी कटु उक्तियों में भी द्वेष या आत्मश्लाघा नहीं है। किन्तु एक आत्मविश्वास है स्वयं की आत्मा को तमाम विषमताओं के बीच शुद्ध रखने का। यहाँ वे सुर नर मुनि की आत्मिक शुद्धता को चुनौती देते प्रतीत होते हैं।

'सौ सादर सुर नर मुनि ओढ़ि, ओढ़ि कै मैली कीनो चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ि, ज्यों कि ज्यों धर दीनी चदरिया।।'

समाज में फैले धार्मिक अंधविश्वासों के चलते अपनी आलोचना में हिन्दू या मुसलमान नहीं देखा सबके मिथ्याचारों पर कटाक्ष किये। ब्राह्मणों ने जन्म के आधार पर तात्कालिक समाज पर अपनी श्रेष्ठता थोपी पड़ी थी चाहे क्यों न उसका आचारण कितना भी नीच हो। वे कहते थे कि एक बिन्दु से निर्मित पंचतत्व युक्त यह मानव देह और सबका निर्माता एक ही ब्रह्म रूपी कुम्हार तो फिर जन्म के आधार पर यह भेद क्यों? इस संबंध में उनका मानना है कि-

"जो तू बाभन, बाभनी जाया, आन राह तै क्यों नहीं आया।
जो तू तुरक तुरकनी जाया, भीतर खतना क्यों न कराया।।"

एक पद में तो उन्होंने पण्डितों के प्रपंच से खुलकर पूछा है उनमें शूद्रों से भला कौनसी श्रेष्ठता है?

"काहे को कीजै पाण्डे छोति बिचारा।
छोतहि ते उपजा संसारा।।
हमारै कैसे लहू, तुम्हारे कैसे दूध।
तुम्ह कैसे ब्राह्मण पांडे हम कैसे सूद।।
छोति छोति करत तुम्हही जाय।
तौं ग्रभवास काहे को आए।"

ब्राह्मण तथा शूद्र की ही नहीं, हिन्दु तथा मुसलमानों के बीच भी वैमनस्य व भेदभाव की खाई को पाटने का सफल प्रयास करते हुए दोनों धर्मों की कुप्रथाओं की ओर दोनों पक्षों का ध्यान आकृष्ट कराकर सामन्जस्य स्थापित किया-

"ना जाने तेरा साहिब कैसा है।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहिब तेरा बहिरा है?
चिंउटी के पग नेवर बाजे, सो भी साहिब सुनता है।
पंडित होय के आसन मारै लम्बी माला जपता है।
अन्दर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लखता है।" -कबीर

दोनों मतों के दोष प्रकट करने में कबीर ने पूर्ण निष्पक्षता से काम लिया है। यदि उन्होंने हिन्दुओं की पत्थर पूजा पर कटाक्ष किया है कि-

"हम भी पाहन पूजते होते बन के रोज।
सतगुरु की किरपा भयी, डारया सिर थै बौझ।।" -कबीर

तो दूसरी ओर मुसलमानों के अजान पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि-

"कंकड़ पाथर जोड़ के मसजिद लिया बनाय।
तावर मुल्ला बांग दे क्या बहिरा हुआ खुदाय।।" -कबीर

जातीय विभेद को दूर करने के अलावा कबीर ने सामाजिक आचरण में व्याप्त भ्रष्टता को भी इंगित किया। कबीर की वाणी ने समाज के लिये बड़ा उपकार किया। उन्होंने सात्विक आचरण पर जोर दिया। कबीर के युग में वासना का प्रचंड स्वरूप फैला था। कबीर ने उसका डट कर सामना किया, और सात्विक वृत्तियों को बढ़ावा दिया। हालांकि इसके लिये उन्होंने स्त्री की भरसक निन्दा की, पर वहाँ स्त्री का माँ, बहन व सहचरी रूप नहीं बल्कि काम्य स्वरूप की निन्दा की है।

"कामणि काली नागणी, तिन्यू लोक मंझारि
रामसनेही ऊबरे, विषयी खाये झारि।।"

-(कबीर गंथावली : श्यामसुन्दर दास साखी पृ.35)

मन को नियंत्रित रखने पर कबीर ने बहुत बल दिया। कबीर जानते थे कि समस्त इन्द्रियों का संचालक आकर्षणों में रमने वाला यह मन ही है यदि इसे वश में कर लिया तो फिर सब कुछ जीत लिया।

"कबीर मारूं मन कूं, टूक टूक व्है जाई।
विष की झारी बोई करि, लुणत महा पछताई।" -कबीर

दर्शन व धर्म के क्षेत्र में कबीर का कार्य बहुत महान है। कबीर के समय में प्रचलित नानाधर्मों और उनके बाहरी आडम्बरों में से किसी को भी अछूता नहीं छोड़ा कबीर ने। उन्होंने समस्त धर्मों के आडम्बरों का परदा खोल समस्त साधनाओं और सर्वधर्म का सार लेकर जनता को धर्म का अनोखा व सहज रूप दिखाया जो सर्वग्राह्य व सर्वसुखकारी था। जैसे- जैन एवं वैष्णव धर्म जिससे कि स्वयं कबीर प्रभावित थे, के दोषों को भी कबीर ने नहीं छोड़ा।

"बैस्नों भय तो क्या भया, बूझा नहीं विवेक।
छापा तिलक बनाई कर, दग्ध्या लोक अनेक।।" -कबीर

नेम, पूजा, तीर्थ, व्रत आदि का भी कबीर खुल कर विरोध करते हुए कहते हैं -

"पूजा, सेवा, नेम, व्रत गुड़ियन का सा खेल।
जब लग पिउ परसै, तब लग संसय मेल।।" -कबीर

योगियों की हठसाधना में भी कबीर ने कुछ शब्दों की व्याख्या गलत अर्थ में करने से उत्पन्न भ्रान्ति को दूर करने का प्रयास किया है।

"सहज सहज सब ही कहैं, सहज न चीन्हे कोय।
जो कबीर विषया तजै, सहज कहीजै सोय।।" -कबीर

सामाजिक विसंगतियों में जब आम जनमानस नाना प्रकार के धर्म साधना आदि समस्याओं में पड़ कर असमंजस में थी, तब कबीर ने अपनी भक्ति का ऐसा आधार जनता को दिया कि वह निर्गुण-निराकार राम के रस में भावविह्वल हो उठी। कबीर की भक्ति पर वैष्वण, सिद्ध, नाथ, सूफी आदि का पूर्ण या आंशिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यही नहीं कबीर पर वैदिक साहित्य का प्रभाव ही नहीं पडा वरन उन्हें वैदिक साहित्य का अच्छा खासा ज्ञान भी था। उनके लिये तो आचार्य क्षितिमोहन सेन ने यह कहा है कि 'कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है।

वह कुछ भी नहीं छोड़ना चाहती, इसलिये वह ग्रहणशील है, वर्जनशील नहीं, इसलिये उन्होंने हिन्दु, मुसलमान, सूफी, वैष्वणव, योगी प्रभुति सब साधनाओं को जोर से पकड़ रखा है।' कबीर साहित्य के मर्मज्ञ श्री गोविन्द त्रिगुणायत लिखते है कि 'वस्तुतः कबीर ने मधुमक्खी के समान अपने समरू में विद्यमान समस्त धर्म साधनाओं और निजी के योग से अपनी भक्ति का ऐसा छत्ता तैयार किया है जिसका मधु अमृतोपम है जिसका पान कर भारतीय जन मानस कृत कृत्य हो उठा है। यह मधु अक्षुण्ण है, युगों से भारतीय इसकी मधुरिमा का रसास्वादन कर रहे हैं।'

कबीर ने अपनी भक्ति में जिस निर्गुण आराध्य का वर्णन किया है वह उपनिषदों की अद्वैती भावना के प्रभाव से प्रभावित है। कबीर की ब्रह्म-भावना अधिकांश अद्धैती है किन्तु कहीं अद्धैत से भिन्न भी है। इसलिये कबीर किसी सिद्धान्त के अनुयायी नहीं थे और न ही प्रस्थापक हैं। उनका ब्रह्म उनके अनुभवों की देन है। कबीर पहले साधक हैं फिर कवि। वे अपनी भक्ति साधना में जिस जिस रूप में अपने ब्रह्म का साक्षात्कार किये हैं उसी रूप में उसे वर्णित करते जाते हैं। वे निज ब्रह्म विचार और आत्म साधना में विश्वास करते हैं। यही कारण है कि कबीर का ब्रह्म भिन्न-भिन्न रूप में हमें देखने को मिलता है। यह तर्क और किसी दार्शनिक सिद्धान्त से बहुत उपर है, बस अनुभवों और अनुभूतियों का विषय है। कबीर कहते हैं -

"कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूंढ़े बन माहिं।
ऐसे घट घट राम हैं, दुनिया देखे नाहिं।।" -कबीर

इस प्रकार कबीर ने अपनी ज्ञानरूपी नवका पर समस्त सांसारिक जीवात्माओं को बिठा कर भवसागर से पार कराने का जो प्रयास किया है वह अद्वितीय है। वे अपनी भक्ति के अद्‌भुत स्वरूप से समाज का जो मार्गदर्शन किया है; यह समाज सदैव उनका ऋणि रहेगा। वे अपने विचारों से न केवल मध्यकाल के समाज का सुधार करने का प्रयास करते हुए भक्ति के माध्यम से मुक्ति का मार्ग दिखाया; बल्कि आज के समाज को भी उसी समय सुधरने और भक्ति से मुक्ति की सीख दे गये। ऐसा हमें आज प्रतीत होता है।

समाज को कर्म का प्रधानता की पाठ पढाते हुए भक्ति को प्रेम और समता में पिरोकर ईश्वर के प्रति अपने अस्तित्व को साध्य में लीन करने की जिस उत्कृष्ट भावना के लिए प्रेरित किया वह किसी समय के समाज द्वारा भुला नहीं जा सकता। यही कारण है कि वे ईश्वर के गुलाम बनने में भी नहीं हिचके।

"मैं गुलाम मोहि बेचि गुंसाई। तन मन धन मेरा राम जी के ताईं।।"
-(क. ग्रं. श्यामसुन्दर दास पृ. 95)

ईश्वर भक्ति की पराकाष्ठा तो तब देखने को मिलती है जब उनकी यह पंक्ति देखते हैं -

"कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं।
गले राम की जेवड़ी ज़ित खैंचे तित जाउं।।"

-(क. ग्रं. श्यामसुन्दर दास पृ. 20)

आधुनिक युग में धर्म और समाज में कबीर के दृष्टिकोण को आदर्श मानकर सुधार की आवश्कयता है, क्योंकि आज मनुष्य की सारी सोच-सामर्थ्य धर्म के आडम्बरों में ही व्यर्थ हो रही है। इसीलिए वह न तो अपने लिए और न ही समाज के लिए कुछ सकारात्मक कर पाता है। कबीर ध्येय लोगों को दैनिक संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर उनमें मानवीयता व एकता की भावना का संचार करने का रहा है। उनमें और अन्य सन्त-सुधारकों में एक मौलिक अन्तर यही रहा कि उनकी सुधार की भाषा भी अत्यन्त तीखी रही और सम्भवतः कटाक्षपूर्ण होने के कारण अधिक असरकारक भी रही जो आज प्रासंगिक है। आज फिर से कबीर की आवश्यकता है, जो दूसरों को समझा सके, उन्हें सही मार्ग दिखाकर उस पर चलने को बाध्य कर सके। धर्म और धर्म के मार्ग पर चलने को बाध्य कर सके, प्यार से नहीं, तो कड़े शब्दों से ही। धर्म और धर्म के अनुयायियों के वास्तविक उद्देश्य को स्पष्ट करती है ये पंक्ति कि "प्रत्येक धर्म और उसके सन्तों का उद्देश्य अपने अनुयायियों के जीवन को दैनिक संकीर्णताओं से ऊपर उसे मानवीय एकता का वाहक बनाकर समृद्ध करना रहा है। भोग से त्याग पर, संग्रह से दान पर और स्वहित से परहित पर अधिकाधिक बल देना, हर धर्म की विशेषता रही है।"[9]

इसीलिए जब-जब स्वार्थी एवं अराजक ताकतों ने धर्म का दुरुपयोग किया, उसे संकुचित दायरों में कैद करने का प्रयास किया, धर्म का प्रयोग एकता के बजाय विखण्डन में किया, तब-तब कबीर सरीखे समाज-सुधारकों ने ही धर्म का वास्तवितक रूप लोगों को समझाया और बाह्याचरणों से ऊपर उठकर समन्वय, सामंजस्य का आचरण करने का उपदेश दिये। कबीर के सर्वधर्म-समभाव सम्बन्धी विचार आज अधिक सामायिक हैं।

शोध अध्येता
आ.भा.भा.वि. विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी, उत्तरप्रदेश
Mob.No.-7014050273
Email-saichaubey28@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. कबीर ग्रन्थावली, सं. श्याम सुन्दर, नागरीप्रचारिणी सभा वाराणसी (नई दिल्ली), संस्करण 25वां, संवत् 2064 पृ.-34
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ संख्या 99
3. संतों और शिवशरणों के काव्य में सामाजिक चेतना, डॉ. शिवनाथ, पृष्ठ संख्या 20
4. भारतीय संस्कृति और धर्म, ब्रजराज स्वरूप, पृष्ठ संख्या 14
5. कबीर समग्र, सं. युगेश्वर, पृष्ठ संख्या 770
6. कबीर ग्रन्थावली, सं. श्यामसुन्दर दास, पृष्ठ संख्या 174
7. कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली (पटना), ग्यारहवीं आवृत्ति, 2004, पृ. 107
8. कबीर वानी संग्रह, सं. डॉ. पारसनाथ तिवारी, पृ. 78
9. भारतीय संस्कृति और धर्म, ब्रजराज स्वरूप, पृष्ठ संख्या 159

भक्ति आंदोलन का भारतीय संदर्भ

कृष्ण कुमार मिश्र

मनुष्य एक विचारवान प्राणी है। मानव सभ्यता और संस्कृति के आदिकाल से ही उसने अपनी परिस्थितियों और वातावरण को समझने का निरंतर प्रयास किया है। विभिन्न धार्मिक आस्थाएँ एवं मान्यताएँ इसी प्रयास का परिणाम हैं। इनका मनुष्य के सामाजिक एवं भौतिक परिवेश से घनिष्ठ संबंध है। 'भक्ति' एक भावना है, जो प्राचीनकाल से मनुष्य के अन्तःकरण में समाई हुई है, इसका मूल आधार ईश्वर की भक्ति करना है। उसके रूप व गुण का भजन और कीर्तन करना है। चाहे वह उसका निर्गुण रूप हो चाहे सगुण, दोनों रूपों को मानने वाले अनुयायी बड़ी श्रद्धा व भक्ति से भजन व कीर्तन करते हैं। 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति 'भज' धातु से हुई मानी गई है जिसका अर्थ है 'भजना'। नारदभक्ति सूत्र में भक्ति को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'स तस्मिन परम प्रेम रूपा अमृत स्वरूपा च।' अर्थात वह भक्ति भगवान के प्रति 'परमप्रेम रूपा' और 'अमृत स्वरूपा' है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है। शांडिल्यभक्ति सूत्र में भक्ति को इस तरह से व्याख्यायित किया गया है- 'स परानुरक्तितरीश्वरे' अर्थात ईश्वर के प्रति परम अनुरक्ति ही भक्ति है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'श्रद्धाभक्ति' नामक निबंध में भक्ति के स्वरूप का बहुत सुंदर और मार्मिक विश्लेषण किया है। वे कहते हैं कि 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।' श्रद्धा को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा है कि भक्ति के महत्त्व की आनंदपूर्ण स्वीकृति का नाम श्रद्धा है। यद्यपि भक्ति का केंद्रीय तत्त्व प्रेम ही होता है परंतु प्रेम में एकांतिकता होती है, घनत्व होता है। जब प्रेम का समाजीकरण हो जाता है तो उसे 'भक्ति' कहते हैं। भक्ति साहित्य, भारतीय साहित्य का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। भक्तिकाव्य भक्ति आंदोलन पर आधारित है। यह आंदोलन सामाजिक और वैचारिक है। भक्ति में धर्म साधना का नहीं भावना का विषय बन गया है इसीलिए उसे धर्म का रसात्मक रूप कहा जाता है।

भक्ति आंदोलन हिंदी साहित्य के इतिहास का अत्यंत गौरवपूर्ण कालखंड है, जिसके कारण इसे 'हिंदी कविता का स्वर्णयुग' माना गया है। इसे एक अखिल भारतीय सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में निरूपित करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं कि 'ईसा की दूसरी शताब्दी में ही आंध्र प्रदेश में कृष्णोपासना के चिन्ह पाए जाते हैं। गुप्त सम्राटों के युग में विष्णु-नारायण-वासुदेव की उपासना ने अखिल भारतीय रूप ले लिया। पाँचवी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक तमिलनाडु भक्ति आंदोलन का मुख्य स्रोत रहा। आलवार संतों की कीर्ति सारे भारत में फैल गई। कश्मीर में लल्लदेव, तमिलनाडु में आंडाल, बंगाल में चंडीदास, गुजरात में नरसी मेहता आदि भारत के विभिन्न प्रदेशों के भक्त कवि लगभग डेढ़ हजार वर्ष तक जनता के हृदय को अपनी अमृतवाणी से सींचते रहे। यह भक्ति आंदोलन ब्रह्मदेश, अफगानिस्तान और ईरान की सीमाओं में जाकर थम जाता है। सिंध, कश्मीर, पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र, आंध्र, तमिलनाडु आदि प्रदेशों में भक्ति आंदोलन की धारा पूरे वेग से बहती है। भक्त-कवियों ने विभिन्न प्रदेशों को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बांधने का बहुत बड़ा काम किया। इस भावनात्मक एकता में मुख्य भाव भक्ति का था। भक्ति काव्य की लोकधर्मिता के फलस्वरूप यह भावनात्मक एकता कायम हो सकी थी। जिसका आधार भक्त कवियों का सर्वत्र लोकजीवन और लोकभाषाओं से गहरा संबंध था। सभी जगह ये लोकभाषाएँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के विरुद्ध संघर्ष करती हुई जातीय भाषाओं के रूप में विकसित हुई हैं। यह जातीय एकता ही राष्ट्रीय एकता का आधार है।'

भक्ति आंदोलन इतना व्यापक, गहरा, लोकोन्मुखी और प्रभावशाली था कि इसे देखकर हर किसी का आश्चर्यचकित होना अस्वाभाविक नहीं है। यह पहला भारतीय नवजागरण था जो कश्मीर से कन्याकुमारी और गुजरात से असम तक फैला हुआ था, परंतु पूरे देश में इसका प्रचार-प्रसार एकसाथ नहीं हुआ। अपनी-अपनी ऐतिहासिक परिस्थियों के कारण यह 6-7 वीं शताब्दी में कहीं प्रसारित हुआ तो कहीं 12-13 वीं शताब्दी में। 15वीं शताब्दी में यह भक्ति आंदोलन देश के अन्य अंचलों की अपेक्षा हिंदी भाषा-भाषी प्रदेशों में अपने वैविध्य और अंतर्विरोधों के साथ सामने आया। भिन्न-भिन्न प्रदेशों के आंदोलनों की एकसूत्रता और विभिन्नता को समझने के लिए उनके बीच के समयांतराल तथा ऐतिहासिक परिपेक्ष्य का विश्लेषण करना आवश्यक है।

भक्ति आंदोलन के साथ देश के विभिन्न अंचलों में जातीय संघटन की शुरुआत हो जाती है। संस्कृत और अपभ्रंश का पल्ला छोड़ भक्तों ने देशभाषा में लिखना प्रारंभ कर दिया। सबसे पहले आलवार भक्तों के माध्यम से तमिल जाति का निर्माण हुआ। 12-13 वीं शताब्दी में कन्नड़ जाति का उदय हुआ, तत्पश्चात

बंग्ला, गुजराती और हिन्दी जाति का आविर्भाव लगभग एक साथ 15वीं शताब्दी में होता है। इसके कुछ पहले मराठी जाति अस्तित्व में आ गई थी। हिन्दी प्रदेश में कबीर पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने संस्कृत को कूपजल और भाषा को बहता हुआ नीर कहा है। तुलसीदास ने संस्कृत के लिए जोखिम तो उठाया परंतु अपने काव्य में प्रमुखता देशभाषा को ही दी।

भक्ति आंदोलन के मूल में आम जनमानस के दुःख-दर्द और उनकी कठिनाइयाँ हैं। जिसे बड़ी जीवंत मानवीयता के साथ उभारने तथा उनमें एकता स्थापित करने में भक्ति आंदोलन ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। भक्ति आंदोलन केवल एक काव्य आंदोलन ही नहीं है वरन यह एक अखिल भारतीय समग्र-सांस्कृतिक आंदोलन है जिसका पहले की संस्कृति, परंपरा और कविता से गहरा संबंध है, साथ ही साथ आने वाली पीढ़ी को उसकी संस्कृति, परंपरा और कविता का मार्ग प्रशस्त करता है। भक्तिकाल की कविता जनता के जीवन में रची-बसी हुई कविता है। यह परंपरा भी है और संस्कृति भी।

हिन्दी साहित्य के संदर्भ में भक्तिकाल से तात्पर्य उस काल से है जिसमें मुख्यतः भागवत धर्म के प्रचार तथा प्रसार के परिणामस्वरूप भक्ति आंदोलन का सूत्रपात होता है। भक्तिकाल की लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे-धीरे लोक-प्रचलित भाषाएँ भक्ति भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती गई और कालांतर में भक्ति-विषयक विपुल साहित्य की बाढ़ सी आ गई। वैदिक भक्ति परंपरा के समानांतर दक्षिण भारत में द्रविड़ संस्कृति युक्त पृथक भक्ति परंपरा का सूत्रपात हो चुका था। यह परंपरा ईसा पूर्व कई शताब्दियों से चली आ रही थी। आलवार संतों ने 'नाम संकीर्तन भक्ति धारा' से दक्षिण को रसासिक्त कर भक्ति की मधुर हिलोर उत्तर की ओर बहाई। ये सब राम-कृष्ण के भक्त थे। इन्हीं की परंपरा में रामानुजाचार्य हुए। डॉ. सत्येन्द्र ने एकदम सही कहा है कि "भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानंद। परगट करी कबीर ने सप्तदीप नवखंड।" भक्ति का जो स्रोत धीरे-धीरे दक्षिण की ओर से आ रहा था उसको रामानंद ने गति प्रदान की। दक्षिण के आलवार (वैष्णव भक्त) और आडियार (शैव) भक्तों में ब्राह्मण और अछूत, राजा और रंक सभी श्रेणी के लोग विद्यमान थे।

शंकराचार्य का अद्वैत दर्शन चाहे जितना भी तर्क संगत हो भक्ति के लिए उसमें कोई जगह न थी क्योंकि निराकार की भक्ति व्यावहारिक दृष्टि से संभव नहीं है। अपने को निर्गुण का उपासक कहने वाले और 'दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।' कहने वाले कबीरदास जब यह कहते हैं कि 'कबिरा कूता राम का मुतिया मेरा नाऊं। गरे राम की जेंवरी जित खैंचो तित जाऊं।' इन पंक्तियों में कबीरदास भी हाथ-पैर वाले राम की कल्पना कर डालते हैं। इसलिए

सगुण की भक्ति ज्यादा सहज और व्यावहारिक दिखाई पड़ती है। शंकराचार्य के अद्वैत मत में निर्गुण की प्रतिष्ठा तथा जगत के मिथ्यात्व के कारण भक्ति के लिए कोई जगह नहीं बचती इसीलिए अद्वैत मत की प्रतिक्रिया में वहाँ चार बड़े आचार्य हुए रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और विष्णुस्वामी। इनके दर्शनों को क्रमशः विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत कहा जाता है और इनकी उपासना पद्धति को क्रमशः श्री संप्रदाय, ब्रहम संप्रदाय, सनक संप्रदाय और रुद्र संप्रदाय कहा जाता है। भक्ति को प्रतिष्ठित करने वाले उपर्युक्त दक्षिण के आचार्यों के अलावा रामानंद और चैतन्य देव का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहां पर रामानंद ने भक्ति के क्षेत्र में जाति-पाँति और वर्णभेद की दीवार को ध्वस्त किया वहीं पर चैतन्य देव ने भक्ति में भजन और लीलागान की परंपरा को पराकाष्ठा तक पहुंचाया।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति आंदोलन की समय सीमा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संवत 1375 से संवत 1700 तक मानी है। इसी कालखंड में तुलसीदास, कबीरदास, सूरदास, मीराबाई और रैदास जैसे अनेक तेजस्वी कवियों का उदय हुआ जिन्होंने अपनी अमर काव्यकृतियों से भक्ति आंदोलन को सार्थकता प्रदान की। भक्ति आंदोलन अचानक नहीं प्रकट हो गया था यह एक लंबी प्रक्रिया का परिणाम था फिर भी अंग्रेज़ लेखक जार्ज ग्रियर्सन इसको अचानक प्रकट हुआ मानते हैं और लिखते हैं कि "बिजली की चमक के समान अचानक इन सभी पुराने धार्मिक मतों के अंधकार के ऊपर एक नयी बात दिखाई दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहां से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चय नहीं कर सकता।" इस विषय में भारतीय आलोचकों और चिंतकों का मत भिन्न है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' पुस्तक में लिखा है कि "अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?" आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त दोनों विद्वानों की मान्यताओं का खंडन किया है, उनका दृढ़ विश्वास है कि इतना विराट जनांदोलन जिसने भारतीय जन-जीवन में नई प्राण-प्रतिष्ठा की हो, किसी हताश जाति की प्रतिक्रिया की उपज नहीं हो सकती। शुक्ल जी के कथन को पूर्णतः मान लेने पर भक्तिकाल खंडित हो जाएगा और संत काव्य और सूफी काव्य उनके सैद्धान्तिक दायरे से बाहर हो जायेंगे। द्विवेदी जी का कथन भी आंशिक ही सही है क्योंकि यदि मुसलमान न आए होते तो न संत काव्य लिखा जाता और सूफी काव्य। क्षितिमोहन सेन और इतिहासकार ताराचंद ने स्पष्ट रूप से संत कवियों पर सूफियों का प्रभाव स्वीकार किया है। शुक्ल जी का मत भी इससे भिन्न नहीं है, निम्न वर्ग के जिन लोगों ने इस्लाम स्वीकार कर लिया था वे हिंदुओं से भी

तिरस्कृत थे और मुसलमानों से भी। उनकी अलग जाति बन गई उधर हिन्दूओं में रक्षा कवच के रूप में जांति-पांति का शिकंजा और भी कसा जाने लगा। सामान्य हिन्दू-मुसलमान उच्च वर्ग के विरुद्ध उठ खड़े हुए। मुसलमानों के आगमन के फलस्वरूप संगीत, खानपान, पहनावा, वास्तुकला, चित्रकला आदि में विचित्र मिश्रण हुआ, एक ओर दो संस्कृतियाँ आपस में मिल रही थी तो दूसरी ओर मुल्ला-मौलवी, पंडे-पुरोहित भेदभाव की खाई को और चौड़ी करने में लगे हुए थे। यह स्थिति उत्तर भारत, विशेषतः हिन्दी प्रदेश की थी।

बंगाल की जातीय भावुकता के परिवेश में संत काव्य नहीं लिखा गया। गुजरात में अखा (1591-1656) को निर्गुण भक्त माना जाता है पर कबीर की अक्खड़ता और मूर्तिभंजकता अखा में नहीं दिखाई पड़ती है। महाराष्ट्र के संत एकनाथ सगुणवादी भी थे और निर्गुणवादी भी। फिर भी निर्गुण भक्ति धारा का अजस्त्र प्रवाह हिन्दी प्रदेश में ही देखा गया। अत्यंत सामान्य वर्ग के हिन्दू-मुसलमानों ने अपने भक्तिपरक गीत रचे और गाए। इतिहास में संभवतः पहली बार इस वर्ग ने आत्माभिव्यक्ति का अवसर पाया तथा अपनी वाणी को जनता तक निर्भिकतापूर्वक संप्रेषित किया।

सामंतवाद के विरुद्ध दूसरा आंदोलन सूफियों का था। 11वीं शताब्दी के फारसी काव्य में रहस्यवाद का प्रवेश होता है इसी समय से सूफी काव्यरचना की शुरुआत होती है। इनका रहस्यवाद एक प्रगतिशील तत्त्व था जो ईश्वर के सामने सबको बराबर समझता था। भारत में आने के पहले ही सूफी लोग भारतीय वेदान्त और बौद्धधर्म से परिचित थे। इनका प्रभाव उनकी रचनाओं पर देखा जा सकता है इसीलिए सूफी मत भारतीय जनता के आकर्षण का केंद्र बना। ये आंदोलन तत्कालीन परिस्थितियों की देन है। सामाजिक दृष्टि से देखने पर कबीर आदि संतों और सूफियों के भक्ति-आंदोलनों को प्रतिवादात्मक (प्रोटेस्ट) और कृष्ण-रामभक्ति आंदोलनों को प्रतिरोधात्मक या यथास्थिति वादात्मक (रेजिस्टेंट) आंदोलन कह सकते हैं, पहले आंदोलन का स्वर शोषित-पीड़ितों का स्वर है तो दूसरे का स्थास्थितिवाद है। पहले आंदोलन की सीमा उसका रहस्यवाद है तो दूसरी की ब्राह्मणवाद। अपने यथास्थिति और अंतर्विरोधों के बावजूद रामभक्ति काव्य जहाँ शास्त्र या सिद्धान्त का सहारा नहीं लेता वहाँ भी लोकजीवन की निश्छलता, मानवीयता, भोलेपन और मूल्यवत्ता को सशक्त ढंग से अभिव्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में उनकी काव्यप्रतिभा और सांस्कृतिक दृष्टि में चमक तब आती है जब रचनात्मक प्रक्रिया में वर्गचेतना लुप्त हो जाती है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि इन सभी भक्ति आंदोलनों से जनता में आत्मविश्वास जगा और उच्च वर्ग के सामने निम्न वर्ग, जिसमें स्त्री भी शामिल है,

अपने प्रति सम्मान का भाव लेकर उठ खड़ा हुआ। भक्त कवियों ने जीवन की नीरसता में रस घोला और कुंद होती हुई संवेदना को नया जीवन दिया। यह भक्ति आंदोलन बहुत व्यापक था। पूरे भारतवर्ष को संगठित करने में भक्ति आंदोलन महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है।

शोध अध्येता
हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा, महाराष्ट्र
Mob.No- 09450315515
E-mail- kkmishrahindi@gmail.com

संदर्भ ग्रंथ :

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र, मयूर पेपर वैक्स, नोयडा।
2. भक्ति आंदोलन और भक्ति-काव्य, शिवकुमार मिश्र।
3. भक्ति आन्दोलन : इतिहास और संस्कृति, सं. कुंवरपाल सिंह।
4. हिंदी साहित्य का सरल इतिहास, विश्वनाथ त्रिपाठी, ओरियंटल ब्लैक स्वान प्रा.लि., नई दिल्ली।
5. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरनाथ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, मैनेजर पाण्डेय, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली
7. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ. बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

कबीर : कल, आज और कल...

सुमन

कबीर का पदार्पण ऐसे समय में हुआ, जब चारों तरफ सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक विशमता का साम्राज्य फैला था। इसी विशमता के चलते जन-साधारण का जीवन-यापन दूभर हो गया था। समाज में उच्च वर्गीय ब्राह्मणों, सामंतों, धर्म के ठेकेदारों का बोलबाला था और निम्न जाति के लोग उनकी दासता करने के लिए मजबूर थे। स्वयं कबीर भी इस शोषण का शिकार हुए। क्योंकि वे जुलाहा जाति के नीरु और नीमा दम्पत्ति द्वारा पालित-पोषित थे। कबीर को जीवन पर्यन्त अपने प्रतिरोधियों के तिरस्कार का दंश झेलना पड़ा। फिर भी वे डरे नहीं और उनसे लड़ते रहे। काफी हद तक उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। वे मानव जाति के मसीहा बनकर अवतरित हुए। मेरा यह मानना है कि यदि आज का मनुष्य भी अन्याय के खिलाफ निडरतापूर्वक लड़े, तो उसकी हार नहीं होगी।

कबीर मानवता के पोषक संत है। उनका एकमात्र लक्ष्य मानव जाति का कल्याण है। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन मानव कल्याण के लिए समर्पित कर दिया। इस सन्दर्भ में डॉ. पुष्पपाल सिंह का कथन है- "कबीर में मानवतावाद का चर्मोत्कर्श था। उन्होंने दूसरों के कष्ट को स्वयं अनुभव किया। वे अपने स्वार्थ के लिए नहीं बल्कि संसार के लिए रोते व व्याकुल होते थे, उनका जीवन दूसरों के लिए समर्पित था।"[1]

कबीरदास जी कहते हैं कि-

"सुखिया सब संसार है, खावे अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोवै।"[2]

कबीर एक आदर्श और समतामूलक समाज का निर्माण चाहते थे। वे मनुष्य-मनुष्य में अन्तर को स्वीकार नहीं करते। उनका मानना है कि समस्त मनुष्य एक ही ईश्वर की देन है। उनमें जाति, धर्म, कुल, वंश के आधार पर कोई विभेद

नहीं होना चाहिए। वे मानव को इस भेद-भाव की भावना को मिटाकर प्रेम, सौहार्द और सत्यता के साथ सच्चा जीवन जीने का संदेश देते हैं, जो आज भी पूर्णतः प्रासंगिक हैं।

आधुनिक युग में मनुष्य एक-दूसरे को बरदाश्त नहीं कर पाता। वह आपसी ईर्ष्या-द्वेष, तनाव-द्वन्द्व, लड़ाई-झगड़ा, मार-काट, स्वयं को सर्वोपरि समझना आदि विसंगतियों के कारण दुःखी जीवन बिता रहा है। वह स्वयं ही अपने चारों ओर प्रतिकूल और अराजक स्थिति उत्पन्न कर रहा है। आज भी समाज में समता और एकता स्थापित नहीं हो पाई है, जो कबीर अपने समय में चाहते थे।

कबीर की सर्वाधिक तीखी दृष्टि सामाजिक स्तर पर पड़ी है। उन्होंने समाज में व्याप्त मिथ्याडम्बर, जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छुआ-छूत, धनी-निर्धन, हिन्दू-मुस्लिम के अन्तर को दूर कर समाज को वास्तविक सत्य का ज्ञान कराया। बच्चन सिंह के अनुसार- "सामंती समाज की जड़ता को तोड़ने का जितना काम अकेले कबीर ने किया उतना अन्य संतों और सगुणमार्गियों ने मिलकर भी नहीं किया। उनकी चोटों की मार से, जातिवाद के संरक्षक पंडित और मौलवी समान रुप से दुःखी हैं। वे सबसे अधिक आधुनिक और सबसे अधिक प्रासंगिक है।"[3] कबीर ने व्यक्ति की श्रेष्ठता का आधार कर्म और गुण को माना है, न कि उसके जन्म को (कि वह किस कुल, वंश, जाति में जन्मा है)। इस सम्बन्ध में कबीर कहते हैं-

"जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान।
मोल करो तरवार का, पड़ा रहन दो म्यान।।"[4]

कबीर को समाज सुधारक, भक्त या कवि कहना न्याय संगत न होगा क्योंकि वे आत्म-शोधन पर बल देते हैं। उनका मानना है कि चाहे राजा हो या भिखारी, गृहस्थ हो या वैरागी, संसार का कोई भी जीव हो, वे सभी अपने 'स्व' के कारण ही दुःखी है। जब तक मनुष्य अपने अहं, लोभ, मन पर विजय नहीं पा लेता, तब तक उसे सुख, संतुष्टि की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि मनुष्य अपने मन के विकारों को अपने वश में कर ले, तो उसे परमसुख की प्राप्ति संभव है।

जो सामाजिक अव्यवस्था कबीर के समय में थी, वह आज भी विद्यमान है। जाति-पाँति का भेदभाव, छुआ-छूत, ऊँच-नीच, ब्राह्मण शूद्र (वर्ण-व्यवस्था) का विभेद आज भी समाज को रसातल में धकेल रहा है। कबीर के अनुसार सभी मनुष्य एक समान है, न कोई छोटा है न बड़ा, और न ही अछूत। सभी एक ही ईश्वर के द्वारा बनाए गए हैं। सभी का जन्म एक ही विधि से हुआ है, कोई किसी अन्य मार्ग से नहीं उत्पन्न हुआ, चाहे व हिन्दू हो या मुसलमान चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र। इसी प्रकार यदि मुसलमान अन्य मनुष्यों से अलग होते तो 'माँ' के गर्भ में ही उनका

'खतना' हो गया होता। यहाँ न कोई अच्छा है न कोई बुरा। सभी एक ही ईश्वरीय ज्योति की पुंज है।

"एक बूंद तैं सृष्टि रची है कौन ब्राह्मण कौन सूदा।"[5]

"जो तूं बाभन बभनी जाया। तौ आन बाट होइ काहे न आया।"[6]

"जे तूं तुरक तुरुकिनी जाया तौ भीतरि खतना क्यूं न कराया।"[7]

"एक नूर तैं सब जग कीआ कौन भले कौन मंदे।"[8]

आज मनुष्य, जो स्वयं को 'माडर्न' कहता है, सदियों से चली आ रही जाति, धर्म, वर्ण, सम्प्रदाय की बेड़ियों से स्वयं को मुक्त नहीं कर पा रहा है। आज भी किसी के घर कोई निम्न वर्ग का व्यक्ति चला जाता है तो उसे मिट्टी के बर्तन या डिस्पोजल में पानी दिया जाता है। आज भी मनुष्य अपनी सदियों पुरानी मानसिकता से उबर नहीं पाया है। यहाँ मेरा तात्पर्य किसी जाति या धर्म विशेष की निन्दा करना नहीं है।

कबीर स्वभाव से आक्रामक और अक्खड़ थे। बड़ी निर्भीकता से उन्होंने धर्म के ठेकेदारों पर कुठाराघात किया है। डॉ. शुकदेव सिंह के अनुसार- "हिन्दु-मुस्लिम साम्प्रदायिकता के खिलाफ आवाज उठाने वाले पहले संत, विचारक और कवि कबीर ही हैं। रुढ़ धार्मिक शास्त्रों, पूजा उपासना संबंधी जड़ताओं, मंदिर-मस्जिद विषय, अंध-आस्थाओं, जाति-वर्ण संबंधी विभेदों और तमाम तरह के भारतीय जीवन के अन्तर्विरोधों को उन्होंने निर्भयता के साथ अस्वीकार कर दिया।"[9]

कबीर ने हिन्दू-मुसलमानों के कर्मकाण्डों और बाह्याचारों का बड़ी निर्ममता से विरोध किया है। वे पंडितों और मुल्लाओं को किसी भी स्तर पर स्वीकार नहीं करते। वे स्वयं को 'ना हिन्दु ना मुसलमान' मानते हैं। उन्होंने हिन्दुओं के राम और मुसलमानों के खुदा को भी नकारा। वे बड़ी निर्भीकता से साफ-साफ शब्दों में कहते हैं-

"अरे इन दोउन राह न पाई।
हिंदुवन की हिंदुवाई देखी, तुरकन की तुरकाई।।"[10]

कबीर निर्गुण और निराकार ब्रह्म के उपासक हैं। उनके ईश्वर का न कोई नाम है, न रुप, न कोई रंग है न आकार। वे अनाम और अनादि। अतः कबीर दोनों धर्मावलम्बियों को एक ही ईश्वर की उपासना के लिए प्रेरित करते हैं।

कबीर उन सभी आचार-विचारों, सड़े-गले रीति रिवाजों, विधि-विधानों को अस्वीकार करते हैं, जो आम आदमी को अपमानित करते हैं। वे अवतारवाद, मूर्तिपूजा, तीर्थ, हज, छाया-तिलक, माला आदि के घोर विरोधी हैं। वे मंदिरों में देवी-देवताओं की मूर्तियों की पूजा, मस्जिदों के निर्माण, नमाज आदि क्रिया-कलापों को अनुचित मानते हैं। कबीर कहते हैं-

"पाहन केरा पूतरा करि पूजै करतार
इही भरोसे जे रहे ते बूड़े काली धार।"[11]

"क्या अजू तप मंजन कीएँ क्या मसीति सिरु नाएं।
दिल महिं कपट निवाज गुजारै क्या हज कावै जाएं।।"[12]

कबीर को अपने इस कार्य में अनेक बाधाओं का सामना करना बड़ा, लेकिन वे डरे नहीं। अपने प्रतिपक्षियों से कड़ी टक्कर लेते रहे। इसीलिए वे विद्रोही और क्रांतिकारी भी कहे जाते हैं।

आधुनिकता के इस दौर में इतना पढ़ा-लिखा और ज्ञानी होने के बावजूद आज का व्यक्ति इन रुढ़ियों, अन्धविश्वासों, पाखण्डों में विश्वास करता है। मन्दिरों में फूल, माला, भोग-प्रसाद आदि से देवी-देवताओं को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है य हज यात्रा करते हैं। इस प्रकार कबीर के समय में जो विचार-भ्राति लोगों के मन में थी, वह आज भी है। अतः कबीर पहले की अपेक्षा आज अधिक समीचीन और प्रासंगिक प्रतीत होते हैं।

कबीर ने कभी भी भौतिक सुख-सुविधा की लालसा नहीं की और न ही अपने लिए कोई धन संग्रह किया। उनके अनुसार ईश्वर ने जिसके कर्म में जितना निश्चित किया होगा, उतना ही मिलेगा। इसके विपरीत आज स्थिति यह है कि कोई कितना भी धनी क्यों न हो? वह सुखी और संतुष्ट नहीं है। इस भाग-दौड़ भरी जिन्दगी में हर कोई बस धन के पीछे भागता जा रहा है। अब तो स्थिति यह हो गयी है कि धन-दौलत, जमीन के लिए आपस में ही कट मरते हैं। प्रतिस्पर्धा के इस दौर में कोई किसी को अपने से उच्च पद पर नहीं देख पा रहा है। धन के लालच में अंधा होकर सही गलत का अंतर भूलता जा रहा है। वह इस लालच के भँवर में इस कदर फँसता जा रहा है कि उसे अपने सुख-चैन की चिंता भी नहीं रह गयी है। यहाँ कबीर का एक दोहा अत्यन्त समीचीन प्रतीत होता है। धन का महत्व बताते हुए कबीर कहते हैं-

"साईं इतना दीजिए, जामै कुटुंम समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु भूखा ना जाय।।"[13]

कबीर ने अपनी वाणी के माध्यम से जो कुछ भी अभिव्यक्त किया है, वह उनका केवल देखा-परखा ही नहीं है बल्कि उन्होंने अन्य मनुष्यों के समान उस यातना, क्लेश, दुःख को भोगा भी है। अतः वे निर्भीकता पूर्वक अपने प्रतिरोधियों को सम्बोधित करते है-

"मैं कहता हौ आँखिन की देखी तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता सुरझावन हारी तू राख्यौ उरझाई रे।।"[14]

कबीर ने मनुष्य की तमाम चिन्ताओं, वेदनाओं से मुक्ति पाने का सीधा और सच्चा मार्ग प्रेम भाव को माना। वे प्रेम भाव के समक्ष पोथी ज्ञान को तुच्छ मानते हैं। उनकी मान्यता है कि पोथी ज्ञान से सांसारिक आग नहीं बुझ सकती, उसके लिए प्रेम की एक किरण ही पर्याप्त है। प्रेम के बिना मनुष्य ईंट व पत्थर के समान हो जाता है।

"पढ़ि-पढ़ि के पाथर भया, लिखि-लिखि भया जु ईंट।
कहै कबीरा प्रेम की लगी न एकौ छींट।"[15]

लेकिन मनुष्य आज इस कदर अपने स्वार्थ में अंधा हो गया है कि उसकी समस्त संवेदनाएँ ही सुप्त पड़ती जा रही है।

कबीर जीवन पर्यन्त मानव कल्याण और उन्हें सही दिशा दिखाने का कार्य करते रहे। अन्ततः उन्होंने अपनी मृत्यु के माध्यम से भी लोगों में फैली इस भ्रांति का निराकरण किया कि काशी में मरने से मोक्ष प्राप्त होता है और मगहर में निकृष्ट योनि की प्राप्ति होती है। ध्यातव्य है कि जीवन प्रर्यन्त वे काशी में रहे और मृत्यु के समय मगहर चले गये। कबीर कहते हैं-

"लोका तुम हो मति के भोरा।
जे कासी तन तजे कबीरा तो रामहिं कौन निहोरा।

× × ×

का कासी का मगहर ऊसर, हिरदय राम जो प्यारा।"[16]

निष्कर्षतः कबीर के विचार आज उतने ही महत्वपूर्ण और तर्कसंगत हैं, जितना उनके समय में थे। वे जीवन पर्यन्त मानव कल्याण का लक्ष्य लेकर समाज के धर्मात्माओं से जूझते रहे। जहाँ एक तरफ वे समाज के सड़े-गले रीति-रिवाजों, अंधविश्वास पाखण्ड के विरुद्ध आक्रामक और क्रांतिकारी तेवर अपनाते हैं तो दूसरी तरफ यातना ग्रस्त मानव के लिए उनका हृदय मोम की तरह पिघल जाता है। वे नितांत कोमल, शांत, विनम्र स्वभाव के संत भी थे। उनके द्वारा दिखाया गया मार्ग आज भी विभिन्न समस्याओं को सुलझाने में सहायक सिद्ध हो रहा है। चाहे वह धर्मक्षेत्र से सम्बन्धित हो या समाज से, राजनीतिक क्षेत्र हो या सांस्कृतिक, कबीर के विचारों की धारा से ओत-प्रोत दिखाई देता है। वे अपने समय में भी समाज के मार्गद्रष्टा थे, आज भी है, और आने वाले कल में भी समाज को नई दिशा दिखाते रहेंगे।

शोध अध्येता, हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
Email- suman01101986@gmail.com
Mobil No.-9450594115

संदर्भ ग्रंथ :

1. डॉ. पुष्पपाल सिंह, कबीर ग्रन्थावली, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृष्ठ 57
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय मुम्बई 1998, पृष्ठ 312, पद 200
3. डॉ. बच्चन सिंह, हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 88
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय मुम्बई, 1998, पृष्ठ 217, पद 162
5. डॉ. पारस नाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग 1961, पृष्ठ 106, पद 181
6. वही, पृष्ठ 106, पद 182
7. वही, पृष्ठ 106, पद 182
8. वही, पृष्ठ 108, पद 185
9. डॉ. शुकदेव सिंह, कबीर साहित्य की प्रासंगिकता, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, वाराणसी 1978, पृष्ठ 1
10. शिवकुमार मिश्र, भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य अभिव्यक्ति, प्रकाशन 2005, पृष्ठ 60
11. डॉ. पारस नाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग 1961, पृष्ठ 224, साखी 1
12. डॉ. पारस नाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग 1961, पृष्ठ 103, पद 177
13. शिव कुमार मिश्र, भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, 2005, पृष्ठ 65
14. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, कार्यालय मुम्बई 1998, पृष्ठ 217, पद 163
15. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, कार्यालय मुम्बई, 1998, पृष्ठ 182
16. डॉ. पारसनाथ तिवारी, कबीर ग्रन्थावली, हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग 1961, पृष्ठ 116-17, पद 200

❑❑❑

भक्ति के सभी मार्गों में वास्तविक रूप से ईश्वर अनुपस्थित ही रहा है, इसीलिए सगुण भक्ति के तमाम अवतारवादी प्रतीकों के माध्यम से भक्ति साहित्य का अंतिम लक्ष्य अपने समय के मनुष्य की प्रवृत्तियों में बदलाव करना, उसे बेहतर मनुष्य बनाने की कोशिश करना। निर्गुण भक्ति भी इस अर्थ में सगुण है और अपने रूप-गुण-विधान से भरी सगुण भक्ति के दोनों आयाम राम और कृष्ण संबन्धी भक्ति धाराए¡ अंततः निर्गुण ही हैं, क्योंकि वास्तविक ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों जगह अनुपस्थित है। इस अर्थ में भक्तिकालीन साहित्य की सभी धाराओं का प्रथम और अंतिम लक्ष्य मनुष्य ही है, इसीलिए भक्ति अपने पूर्ण स्वरूप में एक जन-आंदोलन ही था।

- इसी पुस्तक से

ISBN : 978-93-81480-87-8
9 789381 480878

विजया बुक्स
दिल्ली 110032

भक्तिकाल वाणी और विचार

सम्पादक डॉ. राजेन्द्र यादव, अवधेश कुमार